

आचार्य श्री भट्ट अकलंकदेव विरचित

स्वरूप-सम्बोधन परिशीलन



आचार्य विशुद्धसागर

ग्रन्थ-परिचय

“स्वरूप-संबोधन” 7वीं शताब्दी के प्रसिद्ध नैयायिक आचार्य भट्ट श्री अकलंक देव जी की अध्यात्म-परक रचना है। मूल रचनाकार आचार्य भट्ट श्री अकलंक देव ने इस रचना में जहाँ एक ओर न्याय-शास्त्र की गंभीर गुत्थियों को सुलझाते हुए न्याय की शैली में ही अभिव्यक्ति की है, वहीं दूसरी ओर अध्यात्म-रस की कल-कल करती सरिता में भी गहन अवगाहन किया है। न्याय-शास्त्र और न्याय की शैली आज के सामान्य जन के लिए अबोधगम्य ही नहीं, दुरुह भी है; परिशीलनकार आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने अपने इस “स्वरूप-संबोधन-परिशीलन” में इस अबोधगम्यता और दुरुहता को समूल दूर किया है, इसलिए यह कृति न्याय-शास्त्र व अध्यात्म-शास्त्र-समुद्र से पार उतरने की चाह रखने वाले साधकों के लिए महत्त्वपूर्ण नौका-जैसी बन गयी है, जिसमें भारतीय न्याय-शास्त्र के गंभीर प्रश्नों का सहज सरल प्रवचनात्मक शैली में समाधान करते हुए अध्यात्म-रस का पान कराया गया है।

सातवीं शताब्दी के आचार्य श्री भट्ट अकलंकदेव विरचित

स्वरूप-संबोधन

पर

परिशीलन

टीकाकार

आचार्य 108 श्री विशुद्धसागर

परामर्श-सम्पादक

डॉ. शीतल चंद्र जैन, जयपुर डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत

सम्पादक

प्रोफेसर वृषभ प्रसाद जैन

लखनऊ

प्रबंधन-संपादक

सिंहई जयकुमार जैन, सतना

सहयोग

डॉ. श्रीरमण मिश्र, लखनऊ

आनंद कुमार जैन, एम.फिल्, वाराणसी

प्रकाशक

महावीर दिगम्बर जैन पारमार्थिक संस्था

सतना (मध्य प्रदेश), भारत

आजाद कुमार जैन, बीड़ी वाले

इन्दौर (मध्य प्रदेश), भारत

सातवीं शताब्दी के आचार्य श्री भट्ट अकलंकदेव विरचित स्वरूप-संबोधन पर परिशीलन

टीकाकार

आचार्य 108 श्री विशुद्धसागर

परामर्श-सम्पादक

डॉ. शीतलचंद्र जैन,

प्राचार्य: जैन संस्कृत स्नातकोत्तर कॉलेज, जयपुर, राजस्थान

डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

रीडर एवं अध्यक्ष: संस्कृत विभाग

दिगम्बर जैन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बड़ौत, उ.प्र.

सम्पादक

प्रोफेसर वृषभ प्रसाद जैन

बी-1/23 सेक्टर जी, जानकीपुरम्, लखनऊ-226021 उ.प्र.

प्रबंधन-संपादक

सिंघई जयकुमार जैन, सतना

सहयोग : डॉ. श्रीरमण मिश्र, लखनऊ, आनंद कुमार जैन, एम.फिल, वाराणसी

ISBN: 81-7628-042-9

मूल्य: रुपया 200/—

प्रथम संस्करण श्रुत पंचमी, 2009

प्रकाशक : महावीर दिगम्बर जैन पारमार्थिक संस्था, सतना

आजाद कुमार जैन, बीड़ी वाले, इन्दौर (मध्य प्रदेश), भारत

मुद्रक: शिवम् आर्ट्स, 211 पांचवीं गली, निशातगंज, लखनऊ

Swaroop-Sambodhana-Parisheelana

*A Commentary on “Addressing the Soul”, a 7th Century Jain
Treatise of Saint Aachaarya Shree Bhatta Akalankadeva*

Commentator

Achaarya Vishuddha Saagara

Advising Editors

Dr. Shital Chandra Jain, Jaipur Dr. Shreyansh Kumar Jain, Baraut

Editor

Professor Vrashabh Prasad Jain
Lucknow

Organizing Editor

Singhai Jai Kumar Jain, Satna

Assistance

Dr. Shri-Raman Mishra, Lucknow Anand Kumar Jain, M. Phil., Varanasi

Publisher

Shree Mahaaveera Jain Paarmaarthika Sansthaa
Satna (Madhya Pradesh) India

Azad Kumar Jain, Biidii Waale

Indore (Madhya Pradesh) India

Swaroopa-Sambodhana-Parisheelana

A Commentary on “*Addressing the Soul*”, a 7th Century Jain Treatise of Saint Aachaarya Shree Bhatta Akalankadeva

On the eve of the Completion of one year from the date of being elevated as Aachaarya of Muni Shree Vishuddha Saagara ji

Commentator : Aachaarya Vishuddha Saagara

Advising Editors : Dr. Shital Chandra Jain,
Principal : Jain Sanskrit College,
Jaipur, Rajasthan

Dr. Shreyansh Kumar Jain,
Reader & Head : Dept. of Sanskrit,
Digamber Jain Post-Graduate College, Baraut, U.P.

Editor : Professor Vrashabh Prasad Jain
B-1/ 23, Sector 'G', Janakipuram
Lucknow -226021 U.P.

Organizing Editor : Singhai Jai Kumar Jain, Satna

Assistance : Dr. Shri-Raman Mishra, Lucknow
Anand Kumar Jain, M. Phil., Varanasi

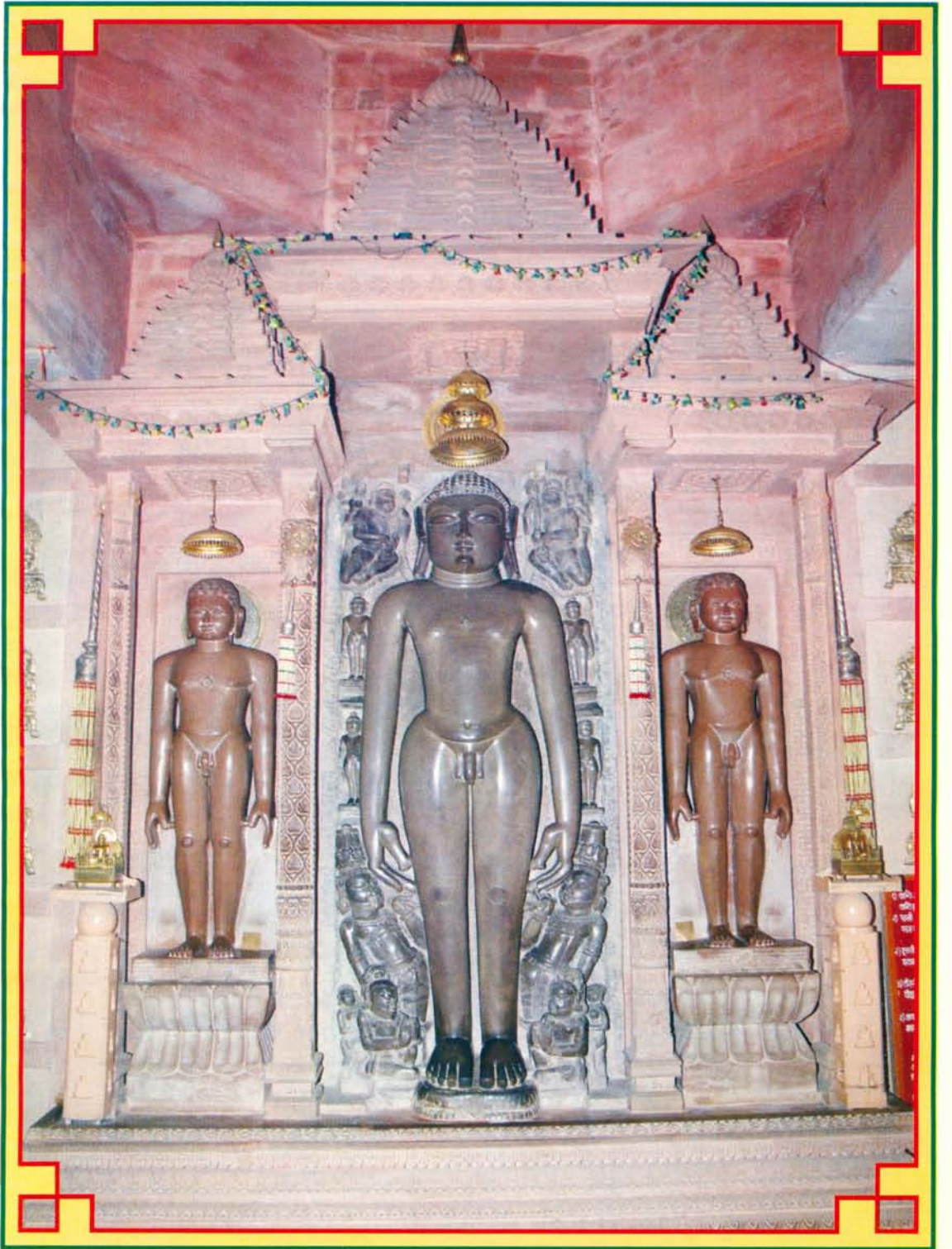
ISBN: 81-7628-042-9

Price Rs. 200/-

First Edition: Shruta Pancamii, 2009

Publisher : Shree Mahaaveera Jain Paarmaarthika Sansthaa
Satna (Madhya Pradesh) India
Azad Kumar Jain, Bildii Waale
Indore (Madhya Pradesh) India

Printed by : Shivam Arts, 211 Vth Lane, Nishat Ganj, Lucknow, U.P.



108 भगवान् श्री कुन्थनाथ जी, श्री शान्तिनाथ जी एवं श्री अरहनाथ जी महाराज
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, सतना

प्रथम आचार्य पदारोहण दिवस

30 एवं 31 मार्च 2008

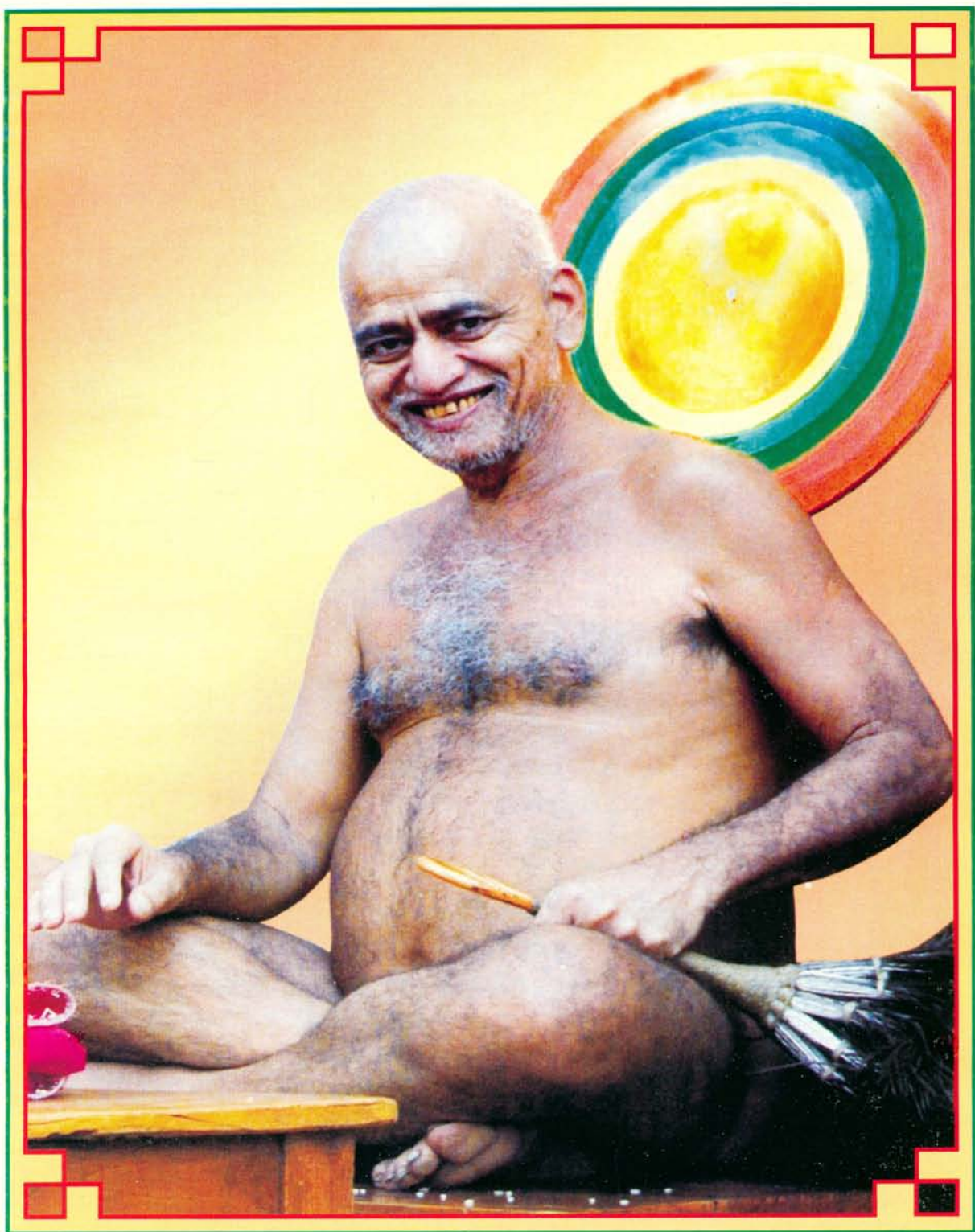
सतना (म. प्र.)



प्रथम आचार्य पदारोहण-दिवस पर देशना प्रदान करते हुए
परमपूज्य आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज



आचार्य-श्री से निवेदन करते हुए जैन समाज, सतना के अध्यक्ष श्री राजेन्द्र जैन,
मंत्री इंजी. रमेश जैन



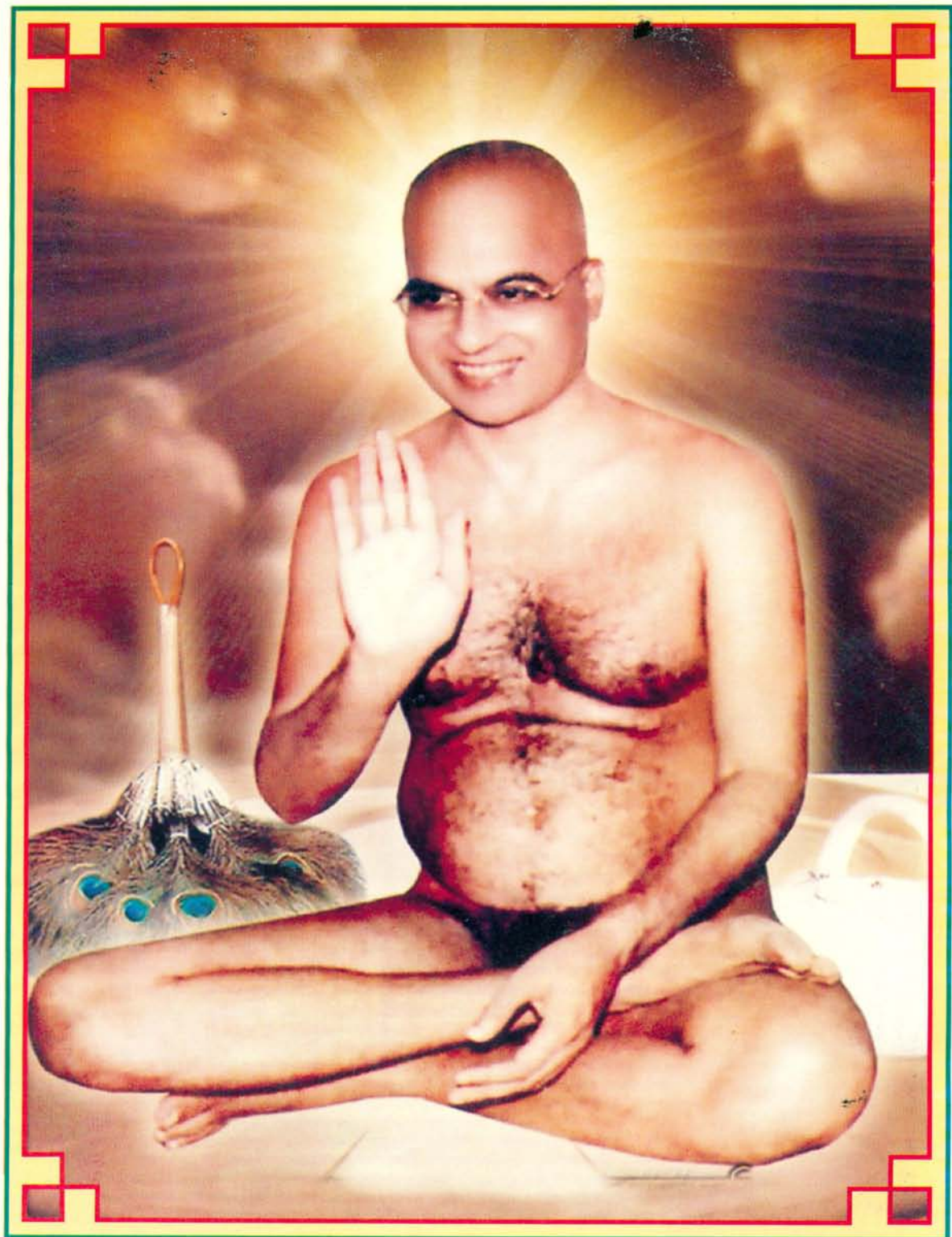
मूकमाटी आदि विभिन्न ग्रन्थों के रचनाकार
परमपूज्य आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी महाराज



संघस्थ ब्रह्मचारियों द्वारा आचार्य श्री को जिनवाणी भेंट



परमपूज्य आचार्य श्री 108 विशुद्धसागर जी महाराज से 'स्वरूप-संबोधन' ग्रन्थ की टीका सतना की जैन समाज के द्वारा प्रकाशन कराने की अनुमति के लिए निवेदन करते हुए जैन समाज, सतना के श्रावक : पं. निर्मल जैन, पं. महेश जैन, जयकुमार जैन, राजेन्द्र जैन, पं. सिद्धार्थ जैन, डॉ. अजित कुमार जैन, आनन्द कुमार जैन एवं विनोद कुमार जैन आदि



परमपूज्य गणाचार्य श्री 108 विरागसागर जी महाराज



जैन समाज, सतना द्वारा तीर्थभक्त श्री शीलचन्द जी बीना वालों का सम्मान करते हुए संस्था अध्यक्ष श्री राजेन्द्र जैन व मंत्री इंजी. रमेश जैन

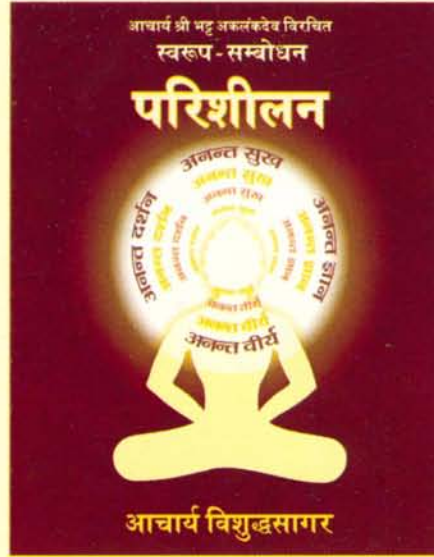


समारोह का संचालन करते हुए सिंघई जयकुमार जैन



स्वरूप-सम्बोधन-परिशीलनकार आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज

परमपूज्य आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज
के कर-कमलों में समर्पित



स्व. श्री मूलचंदजी जैन (ददा)

जन्म: सन् 1900 निधन: 21 अक्टू. 1990



स्व. श्रीमती केसरबाई जैन

जन्म: सन् 1918 निधन: 15 जन. 2006

सह-प्रकाशक :

आजाद कुमार—रवि देवी जैन, सौ. डॉ. सीमा—डॉ. सिद्धार्थ चौधरी, चि. विकास—सोनल जैन
चि. अमित—रचना जैन एवं समस्त बीड़ी वाला जैन परिवार

39/2, न्यू पलासिया, इन्दौर, फोन : 2537438

प्रतिष्ठान :

सुन्दर लाल मूल चन्द जैल टोबेकोनिष्ठ प्रा. लि. श्री मूल चन्द जैन पारमार्थिक ट्रस्ट

31, काछी मोहल्ला, इन्दौर फोन : 0731-2536765, 2430835

शुभाशीष

यह भारतवर्ष ऋषियों के सान्निध्य और उनकी साधना से लाभान्वित होता रहा है, जिसके परिणामस्वरूप स्व-हित के साथ-साथ निरंतर पर-हित भी होता आ रहा है। उसका मूल-आधार श्रुत-ज्ञान है, जिसके मूल में निर्गुण-मुनिराज एवं मनीषी-वर्य हैं।

यह व्यवस्था अनादि से चली आ रही है और अनन्त काल तक चलती चली जाएगी। इस श्रुत-ज्ञान की परम्परा और निर्गुण-परम्परा में वर्तमान में आचार्य आदिसागर जी “अंकलीकर”, आचार्य महावीर कीर्ति जी, आचार्य विमल सागर जी, आचार्य विराग सागर जी आदि हैं, जिन्होंने निर्गुण-परम्परा को श्रुत-ज्ञान से जोड़ने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

उन्होंने अपने परम्परागत ज्ञान को अपने सुयोग्य-शिष्य आचार्य विशुद्ध सागर को प्रदान किया। परम्परा से प्राप्त श्रुत को पाकर श्रुत-परम्परा को वृद्धिगत करते हुए आचार्य विशुद्ध सागर ने भट्ट अकलंक आचार्यदेव के द्वारा प्रणीत ‘स्वरूप-संबोधन’ नामक ग्रंथ को अपने अमूल्य ज्ञान व समय देकर इसप्रकार सम्बद्धित किया, ताकि सामान्य-ज्ञानी व्यक्ति भी समझकर आत्म-हित कर सके, —इस पवित्र भावना से इसके गूढ़ रहस्य को समझाया है।

यह कृति सरल-सरस व मिष्ठ भाषा में है। हित-मित-प्रिय होने से भव्यात्माओं को इस ग्रंथ के अध्ययन में रुचि होगी, —ऐसी भावना है। अतः आचार्य विशुद्ध सागर का यह समाज के लिए महोपकार है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन का कार्य उत्तम है, इस उत्तम कार्य के सहयोगियों को मेरा शुभ-आशीर्वाद है। वे परोपकारी-जन दीर्घ-काल से प्रकाशित होने वाले शास्त्रों का सम्पादन जीवंत निष्ठा एवं परिश्रम से कर रहे हैं। इस अर्थ-युग में निर्लोभ और निरपेक्ष-वृत्ति से सम्पादित-प्रकाशित की जाने वाली यह कृति दीर्घ-काल तक बनी रहे। सम्पादक, सहयोगी व पाठक पढ़ करके स्वयं परम-विकास-मय एवं शांति-सफलता-मय बनें तथा वे इसीतरह जिनवाणी की सेवा करते हुए केवलज्ञान-ज्योति को प्रगट करें।

मंगलाशीष

“न्यायादनपेतं न्याय्यं श्रुतज्ञानम् अथवा ज्ञेयानुसारित्वान्यायरूपाद्वा न्यायः सिद्धान्तः” (ध.पु. 13/5, 5, 50/286) अर्थात् न्याय से युक्त होने के कारण श्रुत-ज्ञान को न्याय कहते हैं अथवा ज्ञेय का अनुसरण-कर्ता तथा न्याय-रूप से न्याय सिद्धान्त है। “नीयतेऽनेनेति हि नीति-क्रिया-करणं न्याय उच्यते” (न्या.वि.वृ. 9/3/58/9) अर्थात् जिसके द्वारा निश्चय किया जाता है, ऐसी नीति-क्रिया को करने वाला न्याय कहलाता है।

न्याय सदा जीवंत रहता है, शाश्वत रहता है, अन्याय अधिक समय तक जीवित नहीं रहता, वह एक दिन मृत्यु को प्राप्त हो ही जाता है, इसलिए न्याय अमरत्व है और अन्याय साक्षात्-मृत्यु है।

समस्त श्रुतधराचार्य न्याय के अनुसार चले, न्याय को अपने अनुसार नहीं चलाया, इसलिए उनकी कृतियाँ व व्यक्तित्व आज भी जीवंत हैं, पर जिन्होंने उसका आश्रय नहीं लिया, ख्याति-पूजा, प्रतिष्ठा व लाभ की क्षणिक चकाचोंध में अपने सिद्धान्त, दर्शन, कर्तव्य या विचारों को लोगों पर बलात् थोपा-लादा,... पर वह-सब तो चार दिन की चाँदनी ही रहा।

न्याय किसी नये सत्य का आविष्कार नहीं करता, क्योंकि सत्य कभी नया या पुराना नहीं होता, वह तो सदा शाश्वत होता है; हाँ, हमारी समझ में नया-पुरानापन आता है। सत्यान्वेषी सदा सत्य को, न्याय को अपने अनुसार नहीं, किन्तु स्वयं उसके अनुसार चलता है, हर परिस्थिति सत्य-विचार, उसी का उच्चार और उसे ही आचरण में लाता है, लोकानुशंसा या किसी भय से न तो वह बहता है और न डिगता है, गिरगिट की तरह रंग बदलता नहीं, इसलिए अपनी प्रामाणिकता सिद्ध

करता है। न्याय किसी व्यक्ति, पंथ, संप्रदाय, धर्म, जाति, प्रान्त या दर्शन-विशेष का नहीं होता, किन्तु वह तो सूर्य की भाँति सभी का सन्मार्ग-दर्शक, कर्तव्य-पथ-प्रदर्शक होता है। वह तर्क की कसौटी पर खरा उतरता है तथा कुतर्क-वादियों को मैदान से उतार देता है। सत्य-श्रद्धा को सशक्त बनाता है, भ्रम-कारक नहीं, भ्रम-हारक बनाता है। संशयी व्यक्तियों में मौन नहीं, किन्तु मौन होने पर भी मौन खोलता है और उन्हें सम्यक् दिशा देकर उनकी दशा बदल देता है, तभी-तो वह न्याय की कोटि में आता है।

परमपूज्य न्याय-चूड़ामणि, न्यायाचार्य श्री भट्ट अकलंक देव जी ने “स्वरूप-संबोधन” कृति के द्वारा जो आत्म-संबोधन के साथ न्याय-दर्शन को समझाते हेतु गागर में सागर भरा है, वह अद्वितीय है।

आचार्य-श्री विशुद्ध सागर जी ने अपनी सरल शैली में इसे आबाल-गोपाल को परोसा है, वह प्रशंसनीय है; वे पर-हितकारी न्याय को टंकोत्कीर्ण बनाते हुए जन-मानस में व्याप्त अन्याय-तिमिर को दूर करते रहें, — यही मेरा उन्हें शुभाशीष है।

ॐ नमः

5 / 1 / 1 / 2535

आचार्य विराग सागर

सिद्ध-क्षेत्र गिरनार

मंगल-भावना

वर्द्धमान स्वामी के वर्तमान शासन में बुन्देलखण्ड मध्यप्रदेश की धरा पर कुंडलगिरी (कुण्डलपुर) तीर्थ है, जहाँ से श्रीधर केवली ने निर्वाण-श्री की प्राप्ति की थी, ऐसी पवित्र भूमि पर विराजे नाभेय आदीश्वर स्वामी बड़े बाबा जन-जन के हृदय-स्थल पर विराजे हैं, जिनके चरण-कमल बुन्देली के देवता आदिनाथ स्वामी के चरण-निश्रा में मुझ अल्पधी ने आगम के सारभूत 'स्वरूप-सम्बोधन' ग्रन्थ का परिशीलन लिखने का मंगलाचरण किया, गुरु-प्रसाद से धर्म-प्रयाण-नगरी व संस्कार-धानी जबलपुर के आदिनाथ जिनालय में अक्षयतृतीया वीर निर्वाण सम्वत् 2534 को ग्रन्थ का परिशीलन लिखना प्रारंभ किया था; जहाँ सिद्ध-भूमि की चट्टान प्रशस्त है, आगे चन्द्रनाथ विराजे हैं, वहीं यह पश्चिम भाग में आज अष्टम तीर्थ चन्द्रप्रभु स्वामी के पाद-मूल में इस श्रमणगिरी (सोनागिरी) सिद्ध-क्षेत्र पर "स्वरूप-सम्बोधन-परिशीलन" पूर्ण हुआ। अन्त में भगवान् चन्द्रप्रभु स्वामी के चरणों में वंदना करते हुए निवेदन करता हूँ— हे नाथ! मेरा ज्ञान-चारित्र पूर्ण चन्द्र के तुल्य निरंतर वर्धमान रहे, जहाँ संयम का प्रारंभ किया था, वहाँ आज ग्रन्थ पूर्ण हुआ। इस ग्रन्थ-परिशीलन में मेरा कुछ नहीं है, गुरु-मुख से व पूर्वाचार्यों की परंपरा से प्राप्त जो अर्हत्-सूत्र पढ़े थे, वही इस परिशीलन में हैं, मेरा स्वयं का कुछ नहीं है। ग्रंथराज महोदधि में कौन पार पा सकता है, पर मात्र श्रुत-भक्ति से युक्त होकर अशुभोपयोग से आत्म-रक्षा एवं बुद्धि की प्रशस्तता हेतु निर्जरार्थ वाग्वादिनि की साक्षी-पूर्वक यह ग्रन्थ लिखा है, अन्त में ज्ञानमूर्ति जिनवाणी माँ के पाद में इस विनय के साथ क्षमाप्रार्थी हूँ कि हे भारती! अक्षर, पद व मात्रा में किञ्चित् भी इस अल्पधी के द्वारा जो भी कमी रह गई हो, तो उसके लिए आप मुझे क्षमा करें, पुनः आचार्यप्रवर श्री भट्ट अकलंक स्वामी के चरणारविन्द में नमोस्तु त्रिभक्ति-पूर्वक करता हूँ व यह अनुनय करता हूँ कि हे नाथ! आपकी कृति पर जो लिखा है, वह आपका है, मुझ अल्पज्ञ का क्या हो सकता

है!.... पुनः-पुनः देवाधिदेव अरहन्त देव, श्रुत-देवता, निर्ग्रन्थ गुरु के पाद-पंकज की वन्दना। इस ग्रन्थराज पर परिशीलन लिखने के लिए विभिन्न सुधी-जनों की प्रार्थना एवं आग्रह रहा है, ताकि आ. अकलंक स्वामी जी का यह महान् ग्रन्थ जन-जन की समझ का विषय बने, —इस आग्रह को ध्यान में रखकर ही यह परिशीलन प्रारंभ किया था, जिसका डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत; डॉ. शीतलचन्द्र जैन; जयपुर एवं लखनऊ-वासी डॉ. वृषभ प्रसाद जैन ने अवलोकन व संपादन किया, मैं इन सभी को साधुवाद देता हूँ। न्याय, अध्यात्म का युगपद् दर्शन होता है इस ग्रन्थराज में व इसमें विषय को सरल भाषा में लिखने, न्याय-नय के गूढ़ रहस्यों को स्पष्ट करने तथा सन्दर्भित विषयों को भी स्पर्श करते हुए खोलने का प्रयास किया गया है; उम्मीद है कि सुधी-जन ग्रन्थ का स्वाध्याय करके अवश्य ही आत्म-बोध को प्राप्त करेंगे।

॥ इति शुभं भूयात् ॥

निहन्यते यो हि परस्य हन्ता पातास्तु पूज्यो जगतां समन्तात् ।
किमङ्ग! न ज्ञातमहो त्वयैव दृगञ्जनायाङ्गुलिवरञ्जितैव ॥

— आचार्य ज्ञानसागर, वीरोदय महाकाव्य 16/7

जो दूसरों को मारना चाहता है, वह स्वयं ही किसी के द्वारा मारा जाता है और जो दूसरों की रक्षा करता है, वह सबके द्वारा पूजनीय हो जाता है। हे पुत्र! क्या तुम्हें यह भी पता नहीं कि आँख में अंजन लगाने वाली अंगुली को भी सबसे पहले खुद को काला होना पड़ता है या खुद काली होती है।

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
1.	शुभाशीष	v
2.	मंगलाशीष	vi-vii
3.	मंगल-भावना	viii-ix
4.	प्रकाशकीय	
	आचार्य सन्मति सागर	
	आचार्य विराग सागर	
	आचार्य विशुद्ध सागर	
	आजाद कुमार जैन	
	राजेन्द्र जैन, रमेश जैन,	
	जय कुमार जैन	xii-xviii
5.	सम्पादकीय	xix-xxxiv
6.	भूमिका	xxxv-i
7.	मंगलाचरण-श्लोक-1	1-19
8.	श्लोक-2	20-32
9.	श्लोक-3	33-50
10.	श्लोक-4	51-59
11.	श्लोक-5	60-68
12.	श्लोक-6	69-76
13.	श्लोक-7	77-81
14.	श्लोक-8	82-86
15.	श्लोक-9	87-91
16.	श्लोक-10	92-99
17.	श्लोक-11	100-109
18.	श्लोक-12	110-121
19.	श्लोक-13-14	122-131
20.	श्लोक-15	132-139
21.	श्लोक-16	140-145
22.	श्लोक-17	146-153
23.	श्लोक-18	154-165
24.	श्लोक-19	166-173
25.	श्लोक-20	174-179
26.	श्लोक-21	180-187
27.	श्लोक-22	188-192
28.	श्लोक-23	193-200
29.	श्लोक-24	201-207
30.	श्लोक-25	208-214
31.	श्लोक-26	215-221
32.	परिशिष्ट-1 स्वरूप-सम्बोधन काव्यानुवाद	निहाल चन्द जैन 222-226
33.	परिशिष्ट-2 संदर्भित शब्दकोश	सिं. जयकुमार जैन, सतना 227-256
34.	परिशिष्ट-3 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची	सम्पादक 257-260
35.	परिशिष्ट-4 पुण्यार्जक-सूची	261-262

समर्पित

अध्यात्म-पिपासुओं को
इस आस के साथ.....कि.....

यह कृति

बुझा सके...उनकी...

कम से कम

कुछ प्यास...

—विशुद्धसागर

और

सम्पादक

प्रकाशकीय-1

मुझे भी कुछ कहना है.....

जैन न्याय एवं आध्यात्मिक ग्रन्थों के सर्जक आचार्य अकलंकदेव विरचित लघुकाय ग्रन्थ “स्वरूप-संबोधन” को जिनागम के रहस्यों का सार कहा जा सकता है, जिसकी मात्र 25 गाथाएँ हमें अपने सच्चे स्वरूप का दर्शन कराती प्रतीत होती हैं। अध्यात्म-विज्ञान से ओत-प्रोत इस लघुकाय ग्रन्थ “स्वरूप-संबोधन” में आचार्य अकलंकदेव ने मानों गागर में सागर ही भर दिया है, जिसकी महिमा अवर्णणीय है। ऐसे ग्रन्थ पर वर्तमान के वर्धमान और बहु-आदरित अध्यात्म-योगी आचार्य-श्री विशुद्धसागर जी महाराज ने सहज, सरल शैली में टीका लिखकर स्वाध्याय-रसिकों पर महान् उपकार किया है। निश्चित ही आचार्य अकलंकदेव की मूल-कृति “स्वरूप-संबोधन” की तरह आचार्य-श्री विशुद्धसागर जी महाराज द्वारा सृजित यह टीका भी जैन साहित्य की अमूल्य निधि बनेगी, —ऐसा विश्वास है।

आचार्य-श्री जब इस ग्रन्थ की टीका लिख रहे थे, तभी उसके कुछ पृष्ठ मुझे पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, पढ़कर अभिभूत हुआ और उसी क्षण मैंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अपने द्रव्य का सदुपयोग करने का मन बना लिया था तथा तदनुसार पूज्य आचार्य-श्री के समक्ष अपनी भावनाएँ व्यक्त कर उनसे आशीर्वाद प्रदान करने का निवेदन भी किया था और उसी का यह सुफल है कि दि. जैन समाज, सतना ने ग्रन्थ-प्रकाश में मुझे भी सहयोगी बनाकर मुझे अनुगृहीत किया है, जिसका मैं आभारी हूँ।

आचार्य-श्री विशुद्ध सागर जी महाराज जिनवाणी के प्रखर प्रस्तोता और प्रभावी प्रवचनकार के साथ-साथ आगम और अध्यात्म के गूढ़तम रहस्यों के भी ज्ञाता हैं और उनकी अनेक आध्यात्मिक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। आचार्य-श्री के लेखन/प्रवचन का यह वैशिष्ट्य ही है कि वे हस्त-गत विषय-सम्बन्धी कथन, लेखन एवं प्रवचन को बोलचाल की आम-भाषा और आगम के आलोक में विभिन्न उद्धरणों के माध्यम से रोचकता और प्रामाणिकता प्रदान करते हुए उसे बोधगम्य बना देते हैं। जिससे

अध्यात्म-रसिक श्रोता संतुष्ट और आनन्दित हुए बिना नहीं रहते; यही कारण है कि आचार्य-श्री जहाँ भी होते हैं, वहाँ हजारों लोग उनकी दिव्य-देशना सुनने प्रवचन-सभा में स्वतः ही चले आते हैं और हजारों लोग उनके द्वारा सृजित साहित्य को पढ़ने के लिए भी लालायित रहते हैं। मुझे उम्मीद है कि सुधी-जन इस कृति का भी भरपूर समादर करेंगे और इसका स्वाध्याय करते हुए आनन्दानुभूति करेंगे।

ग्रन्थ के निर्दोष प्रकाशन में मनीषी विद्वान् प्रोफेसर डॉ. वृषभ प्रसाद जी जैन लखनऊ का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। परमपूज्य आचार्य-श्री ने जन-सामान्य और स्वाध्याय-रसिकों के लिए "स्वरूप-संबोधन" की टीका लिखकर जो उपकार किया है, उसके लिए हम उनके सदैव ऋणी रहेंगे। आचार्य-श्री के चरणों में विनत भाव से शतशः नमन के साथ।

इन्दौर,
दिनांक : 20.05.09

आशीर्वाद—अभिलाषी
आजाद कुमार जैन

यथा स्वयं वाञ्छति तत्परेभ्यः कुर्याज्जनः।

— आचार्य ज्ञानसागर, वीरोदय महाकाव्य, 16/6

मनुष्य जैसा व्यवहार स्वयं अपने लिए चाहते हैं, वैसा ही व्यवहार उन्हें दूसरे दीन-हीन व कायर पुरुषों के साथ भी करना चाहिए।

प्रकाशकीय—2

मेरा नम्र प्रणाम है.....

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, सतना

इतिहासकारों के अनुसार वर्तमान सतना नगर के उत्तर में लगभग 2 मील दूरी पर बसा हुआ गाँव वरदाडीह/वरदावती है। सन् 1857 की क्रान्ति और उसके बाद भी सतना नगर का भू-भाग वरदाडीह बाजार कहलाता था। रीवा रियासत के महाराज रघुराज सिंह ने यह भू-भाग जो मौजा खजुरी हिस्सा स्वरूप सिंह कहलाता था, वरदाडीह के तत्कालीन जागीरदार से सन् 1863 में रेलवे लाइन निकालने और नगर बसाने के लिए लिया था। 31 जुलाई 1863 को वरदाडीह बाजार की भूमि ईस्ट इंडियन रेलवे को प्रदान कर दी गई। रेल लाइन बिछनी प्रारम्भ हुई, साथ ही बस्ती ने भी आकार लेना प्रारम्भ किया। सन् 1873 में सतना रेलवे स्टेशन का पूरा विकास हो गया।

रेलवे स्टेशन के आसपास बाजार और बस्ती के निवासी मजदूर, छोटे दुकानदार, अहीर, कुम्हार और खोंचे वाले थे। राज्य से प्रोत्साहन पाकर और व्यापार के लिए अच्छी जगह समझकर राजस्थान, कच्छ, गुजरात, बुन्देलखंड, इलाहाबाद, मिर्जापुर, बनारस, कानपुर, झाँसी, बाँदा आदि के लोग, जिनमें जैन, मारवाड़ी, कच्छी, गुजराती के अलावा अनेक जाति, पंथ, प्रान्त, धर्म और भाषा के लोग थे, आकर बसने लगे। इस नगर का विकास व्यापारियों के अथक परिश्रम के कारण हुआ है।

यद्यपि सतना नगर में सबसे प्राचीन स्थल डाली बाबा है, पर अब यहाँ उस काल का कोई मंदिर नहीं है। मुख्यारगंज मंदिर का शिलान्यास सन् 1876 में हुआ था, पर कई पीढ़ियों के प्रयास से इसका निर्माण सन् 1925 में पूर्ण हुआ।

इस दृष्टि से शिखर-बद्ध मंदिरों में दिगम्बर जैन मंदिर को हम सतना का प्रथम पूर्ण विकसित मंदिर कह सकते हैं, जिसका निर्माण वि.सं. 1937 सन् 1880 में हुआ था। ऐसा लगता है कि यहाँ बसने आये दिगम्बर जैन परिवारों ने इस मंदिर का निर्माण न्याय और परिश्रम से अर्जित अपने द्रव्य से कराया और प्रभावना-पूर्वक इसकी प्रतिष्ठा कराई। मंदिर में मूलनायक के रूप में जैनधर्म के 22वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ स्वामी की एक अत्यन्त सुन्दर, अतिशयकारी प्रतिमा विराजमान है। श्वेत पाषाण से निर्मित यह प्रतिमा लगभग साढ़े तीन फीट ऊँची है। इस मूर्ति के पाद-पीठ पर मूर्ति का प्रतिष्ठा-काल माघ सुदी 5 सं. 1937 सहित प्रतिष्ठापकों के नाम श्री हजारीलाल जवाहरलाल आदि टंकित हैं।

राजेन्द्र जैन

अध्यक्ष, जैन समाज, सतना

सतना के श्री शान्तिनाथ भगवान्

श्री शान्तिनाथ भगवान् की विशाल कायोत्सर्ग आसन वाली प्रतिमा श्री दिगम्बर जैन मंदिर, सतना की प्रमुख और अतिशयकारी प्रतिमा है। ऐसा लगता है कि सतना की समस्त जैन-समाज का सम्पूर्ण पुण्य-पुंज ही सिमट कर इस मनोहारी मूर्ति के रूप में यहाँ स्थिर हो गया है।

ब्यौहारी से रीवा की ओर जाने वाले राजमार्ग पर, ब्यौहारी से लगभग 15 किलोमीटर पर मऊ नाम का एक छोटा-सा ग्राम है। यही ग्राम प्रायः हजार वर्ष पूर्व एक समृद्ध कस्बा रहा होगा और इस कस्बे में जैनों की अच्छी संख्या रही होगी। श्री शान्तिनाथ भगवान् की यह मोहक मूर्ति उसी ग्राम से लगभग पचहत्तर वर्ष पूर्व सतना लायी गई थी। मूर्ति का शिल्प देखकर यह अनुमान होता है कि कल्चुरी राज्य-काल में ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी के आस-पास मऊ की टेकरी से अथवा किसी पास के स्थान से प्राप्त शिला-फलक पर इस मूर्ति का निर्माण किया गया था। यह प्रतिमा मध्ययुगीन मूर्ति-शैली का एक उत्तम उदाहरण है। भगवान् ध्यानस्थ खड़े हैं। उनके परिकर में चामर-धारी इन्द्र, पुष्पांजलि लिये हुए विद्याधर तथा मूर्ति के प्रतिष्ठापक श्रावक-गण यथा-स्थान अंकित हैं। चरण-पीठिका पर कोई आलेख नहीं होने के कारण तथा स्पष्ट चिह्न के अभाव के कारण यह निर्णय करना कठिन हुआ होगा कि मूर्ति किस तीर्थंकर भगवान् की है, अतः सतना में “श्री शान्तिनाथ भगवान्” के नाम से उनकी स्थापना तथा औपचारिक पूजा-प्रतिष्ठा की गई होगी। इस प्रकार अब वे निश्चित रूप से “श्री शान्तिनाथ” ही हैं। उनकी पूजा-आराधना से चित्त को शान्ति मिलती है और मनुष्य की सारी प्रतिकूलताएँ स्वयमेव समाप्त हो जाती हैं।

रीवा के महाराज के आदेश से मूर्ति जैन समाज के हाथ में आई। रीवा और सतना दोनों जगह के लोग भगवान् को अपने यहाँ ले जाना चाहते थे, पर महाराज श्री गुलाब सिंह जी ने सतना ले जाने की अनुमति दी और इस तरह विक्रम सं. 1989-90 के बीच यह मूर्ति सतना लायी गई।

इंजी. रमेश जैन
मंत्री
जैन समाज, सतना

सतना नगर का सौभाग्य

हम सभी का परम सौभाग्य है कि हमें परमपूज्य आचार्यों, मुनिराजों, आर्यिका-माताओं-सहित त्यागी-वृन्दों के पाद-प्रक्षालन करने का निरन्तर सुअवसर प्राप्त होता रहता है। सन् 1953 में पूज्य क्षु. श्री गणेशप्रसाद जी वर्षी यहाँ पधारे थे। सन् 1975 में परमपूज्य मुनिराज श्री 108 आर्यनन्दि जी महाराज के चातुर्मास का लाभ सतना नगर को प्राप्त हुआ। पूज्य श्री आर्यनन्दि जी महाराज के सान्निध्य में दिसम्बर 75 में बाहुबलि स्वामी की विशाल मूर्ति की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं गजस्थ महोत्सव का आयोजन हुआ।

सन् 1976 में परमपूज्य आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी महाराज का शुभ नगरागमन हुआ। वर्ष 1989 में पूज्य आर्यिका श्री गुरुमति माता जी की स-संघ ग्रीष्म-कालीन वाचना हुई, तत्पश्चात् 1991 में परमपूज्य मुनिराज श्री 108 क्षमासागर जी, श्री 108 समतासागर जी एवं श्री 108 प्रमाणसागर जी सहित 3 अन्य पिच्छीधारी ऐलक-क्षुल्लकों का चातुर्मास संपन्न हुआ। वर्ष 1993 में पूजनीया आर्यिका श्री 105 प्रशान्तमति माता जी के चातुर्मास का लाभ सम्पूर्ण समाज को प्राप्त हुआ।

जनवरी-फरवरी 94 में परमपूज्य आचार्य श्री 108 विरागसागर जी महाराज की स-संघ उपस्थिति में शीत-कालीन वाचना का सुयोग प्राप्त हुआ। 6-11 फरवरी 1998 में परमपूज्य मुनिराज श्री 108 समतासागर जी, श्री 108 प्रमाणसागर जी एवं क्षुल्लक श्री निश्चयसागर जी के सान्निध्य में भगवान् श्री कुन्थनाथ व अरहनाथ जी के जिन-विम्बों की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। इसी वर्ष हमें पुनः आचार्य श्री 108 आर्यनन्दि जी महाराज के चातुर्मास का लाभ प्राप्त हुआ। वर्ष 2000 में भगवान् श्री शान्तिनाथ जी के शिखर पर सुवर्ण-मण्डित कलश व ध्वज की स्थापना हुई। इसी वर्ष पूजनीया आर्यिका श्री 105 पूर्णमति माता जी के स-संघ चातुर्मास का सुअवसर प्राप्त हुआ।

वर्ष 2002 में परमपूज्य मुनिराज श्री 108 विमर्शसागर जी व मुनि श्री विनर्धसागर जी का व वर्ष 2004 में परमपूज्य मुनि श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज का चातुर्मास संपन्न हुआ। श्री प्रमाणसागर जी महाराज के सान्निध्य में मंदिर-स्थापना के 125वें वर्ष का आयोजन "श्री नेमिनाथ महोत्सव" के रूप में अविस्मरणीय कार्यक्रमों के साथ संपन्न हुआ।

वर्ष 2007 में पूजनीया आर्यिका श्री 105 अकम्पमति माता जी का स-संघ चातुर्मास संपन्न हुआ। वर्ष 2008 में पूजनीया आर्यिका श्री तपोमति माता जी का स-संघ सान्निध्य ग्रीष्म-काल में प्राप्त हुआ। इस बीच में अनेकानेक आचार्यों, मुनियों और आर्यिका माताओं ने बिहार करते हुए सतना नगरी में पधार कर हम-सभी को उपकृत किया है, आलेख के कलेवर-वृद्धि के भय से हम उन सब का नाम न देते हुए उनके श्री-चरणों में सादर नमोस्तु, वन्दामि और वन्दना कर रहे हैं।

चरण पड़े गुरुवर के सतना में.....

वर्ष 2008 मार्च माह में हम-सभी के विशेष पुण्य का उदय हुआ। परमपूज्य आचार्यश्री 108 विशुद्धसागर जी महाराज का स-संघ शुभागमन सतना नगर में हुआ। आचार्य-श्री ने "स्वरूप-संबोधन" ग्रन्थ पर अपने प्रवचनों के माध्यम से समाज में अध्यात्म की गंगा प्रवाहित कर दी। परमपूज्य आचार्य श्री विरागसागर जी महाराज ने 31 मार्च 2007 महावीर (जयंती) के दिन परमपूज्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज को आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया था। हम सभी को आचार्य-पदारोहण की प्रथम वर्ष-ग्रन्थि पर आचार्य विशुद्धसागर जी के पाद-प्रक्षालन का अपूर्व सुअवसर प्राप्त हो रहा था। जैन समाज सतना ने भक्ति और भावना से भरपूर एक अतिस्मरणीय समारोह के माध्यम से आचार्य-श्री सहित सम्पूर्ण संघ की वन्दना की, सामूहिक पूजन का अभूतपूर्व आयोजन हुआ, आचार्य-श्री की पद-वन्दना हेतु प्रदेश और देश के कोने-कोने से श्रद्धालु श्रावक-श्राविकाओं ने उपस्थित होकर अपने जीवन को धन्य किया।

इस पावन दिवस व महोत्सव की स्मृति को चिर-स्थायी बनाये रखने व सम्पूर्ण समाज के कल्याणार्थ जैन समाज, सतना ने परमपूज्य आचार्य श्री से "स्वरूप-संबोधन" की टीका लिखने व उसे सतना-समाज द्वारा प्रकाशित कराने की भावना प्रकट की।

ऐसे जागे भाग्य हमारे

आचार्य-श्री के सतना से बिहारोपरान्त अमरपाटन में जनसभा में (तिवरी) कटनी में पंचकल्याणक के समय एवं आचार्य-संघ के जबलपुर चातुर्मास-काल में मंच पर श्री-फल भेंट कर सतना जैन समाज ने पुनः अपनी प्रार्थना दुहराई। करुणा और वात्सल्य से ओत-प्रोत परमपूज्य आचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज ने सतना समाज की उत्कंठा, आग्रह और विनय को अपना शुभाशीष देते हुए अपनी स्वीकृति प्रदान की।

परमपूज्य आचार्य श्री का वर्ष 2008 में श्री दिगम्बर जैन बोर्डिंग मंदिर, जबलपुर में चातुर्मास संपन्न हुआ। सतना के समाज के विभिन्न बन्धु बीच-बीच में जबलपुर जाकर आचार्य-श्री से निवेदन करते रहे और आचार्य-श्री भी मनोयोग पूर्वक "स्वरूप-संबोधन" पर अपनी लेखनी के माध्यम से इसके रहस्यों को उद्घाटित करते रहे।

अक्टूबर 2008 में आचार्य-श्री ने "स्वरूप-संबोधन-परिशीलन" के कुछ अंशों को जैन समाज, सतना के अध्यक्ष श्री राजेन्द्र जी को सौंपा, श्री राजेन्द्र जी ने ग्रन्थ-प्रकाशन की जिम्मेदारी मुझे देते हुए मुझ पर एक भारी उत्तरदायित्व सौंप दिया। मैं अल्पज्ञ, शारीरिक और मानसिक अनेक परेशानियों से घिरा होने के बावजूद परमपूज्य आचार्य श्री के आशीर्वाद की छाँव तले इस महान कार्य को पूर्ण करने के लिए तत्पर हुआ।

आभार और अभिवादन

आदरणीय विद्वारेण्य प्रो. डॉ. वृषभप्रसाद जी जैन, लखनऊ ने ग्रन्थ के सम्पादन में अत्यन्त परिश्रम किया है। उनके साथ आदरणीय डॉ. शीतलचन्द्र जी, जयपुर व आदरणीय डॉ. श्रेयांस कुमार जी, बड़ौत ने भी अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया। परमपूज्य आचार्य-श्री के चरण-सान्निध्य में इन विद्वानों ने एकाधिक बार बैठकर सम्पूर्ण आलेख पर सुविस्तृत चर्चा की, संशोधन, संवर्द्धन के माध्यम से इस ग्रन्थ को और-अधिक जनोपयोगी बनाने में जो श्रम-सहयोग किया है, वह स्तुत्य है। वयोवृद्ध विद्वान् आदरणीय प्रो. श्री लक्ष्मीचंद जी, जबलपुर ने प्रस्तावना लिखकर चार-चाँद लगा दिये हैं। मैं उपरोक्त सभी विद्वानों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। चि. आनन्द जैन, वाराणसी ने ग्रन्थ की प्रूफ-रीडिंग कर इसे दोष-मुक्त बनाने में अकथनीय श्रम किया है, मैं धन्यवाद-सहित उनके योगदान की सराहना करता हूँ।

मैं सतना दिगम्बर जैन समाज की कार्यकारिणी व सभी पुण्यार्जकों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने जिनवाणी के भंडार को समृद्ध करने में अपना सहयोग उदारता-पूर्वक प्रदान किया है और इसतरह से परमपूज्य आचार्य-श्री के प्रथम आचार्य-दिवस के आयोजन को चिर-स्मरणीय बना दिया है।

अन्त में मैं परमपूज्य गुरुदेव आचार्य श्री 108 विशुद्धसागर जी महाराज के श्री-चरणों में बारम्बार नमोस्तु करता हूँ, जिन्होंने अत्यन्त करुणा-पूर्वक सर्व-जन-हितार्थ इस ग्रन्थ की टीका करके इस ग्रन्थ के हार्द को सुस्पष्ट करके मैं जिनवाणी के भंडार में एक दैदीप्यमान रत्न की अभिवृद्धि की है, उनके श्री-चरणों में शत-शत प्रणाम। आचार्य-श्री के सम्पूर्ण संघ के श्री-चरणों में सादर नमोस्तु।

इस ग्रन्थ के सम्पादन, पाद-टिप्पण, पारिभाषिक शब्दों के अर्थान्वयन से लेकर प्रकाशन तक प्रमाद-वश जहाँ जो त्रुटि रह गई हो, उसकी सम्पूर्ण जिम्मेदारी/दोष मेरा है। आप इन त्रुटियों से मुझे परिचित करायेंगे, तो आपकी कृपा होगी। “स्वरूप-संबोधन-परिशीलन” ग्रन्थ भव्य भावुक जनों के स्वाध्याय का अभिन्न अंग बने, बस, मैं यही कामना करता हूँ।

सिं. जयकुमार जैन

संयोजक : प्रकाशन व प्रबंधन-संपादक

जैन समाज, सतना

सम्पादकीय

हर जीव अपनी आत्मा को कैसे सम्बोधे, ताकि वह मोक्ष-मार्ग की ओर अग्रसर हो सके, —यह काम रचनाकार ने पच्चीस श्लोकों के द्वारा 'स्वरूप-सम्बोधन' कृति में किया है। इसलिए रचनाकार का स्वयं का स्वयं के द्वारा स्वयं को संबोधन है **स्वरूप-सम्बोधन**, पर खास बात यह है कि यह संबोधन सामान्य भाषा में या शास्त्र-सामान्य की भाषा में नहीं है। यह संबोधन है न्याय की भाषा में या नैयायिकों की भाषा में, इसीलिए तो रचनाकार ने धुर विरोधी शब्दों को या यूँ कहें कि विरोधी-रूप-जैसी लगने वाली प्रतिगामी-अवधारणाओं को एक-साथ रखकर परमात्मा को नमस्कार किया है **स्वरूप-सम्बोधन** के मंगलाचरण में, इसीलिए तो वे वहाँ कहते हैं कि वह परमात्मा मुक्त भी है और अमुक्त भी। इसप्रकार रचनाकार ने अध्यात्म के गूढ़ तत्त्व को न्याय की भाषा में परोसा है इस **स्वरूप-सम्बोधन** कृति में।

कृति की सम्पादन-प्रक्रिया पर बात करने से पहले मुझे लगता है कि यहाँ अग्रांकित तीन बिन्दुओं को लेकर थोड़ी-सी चर्चा कर लेना आवश्यक है, ये बिन्दु हैं— **लॉजिक**, **न्याय-शास्त्र** और **अकलंक**। लॉजिक "Logic" आज लगभग पूरी दुनिया में पढ़ा व पढ़ाया जाता है, जबकि न्याय-शास्त्र भारतीय पारंपरिक मनीषा का अभिन्न अंग रहा है और इस कृति के मूल रचनाकार 7वीं शताब्दी के आचार्य श्री भट्ट अकलंकदेव जी ने न्याय-शास्त्र की उस भारतीय परंपरा को सोचने के लिए एक नयी दिशा दी है; अतः जरूरी यह है कि **लॉजिक**, **न्यायशास्त्र** और **अकलंकदेव** की इस कृति के सन्दर्भ में व वर्तमान सामाजिक सन्दर्भ में कुछ संक्षिप्त विषय-चर्चा कर ली जाय, क्योंकि उसके बिना कृति के परिदृश्य और उसके लक्ष्य को ठीक-से नहीं समझा जा सकेगा।

पश्चिम में हर विद्यार्थी के लिए लॉजिक "Logic" पढ़ना अनिवार्य है। यह अनिवार्यता केवल कलाओं के विद्यार्थियों के लिए हो, या-फिर समाज-विज्ञान के या विज्ञान के, —ऐसा तथ्य नहीं है। पश्चिमी दुनिया में हर किसी ज्ञान-शास्त्र के विद्यार्थी/अध्येता को लॉजिक "Logic" में शिक्षित और दीक्षित होना पड़ता है। पश्चिमी दुनिया में लॉजिक "Logic" की शिक्षा के बिना किसी भी विद्या में निष्णात हो पाना सम्भव नहीं माना जाता, इसलिए वहाँ हर विद्यार्थी/अध्येता के लिए लॉजिक "Logic" पढ़ना अनिवार्य है। हमारे यहाँ भी एक काल विशेष में न्याय-शास्त्र के बारे

में लगभग ऐसी ही मान्यता थी। भाव यह है कि माना यह जाता था कि यदि न्याय-विद्या न पढ़ी हो, तो आप किसी भी विद्या को समाज में स्थापित नहीं कर सकते, या-फिर आपने कुछ भी ठीक-से नहीं पढ़ा है। यद्यपि न्याय-शास्त्र एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में जब विकसित हो रहा था और उस समय सभी विद्याओं के विशारद भी तब अपनी विद्या की पहचान के लिए न्याय-शास्त्र में शिक्षित और दीक्षित होना चाहते थे। यही कारण है कि लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने न्याय-शास्त्र को अपने-अपने साँचे में पल्लवित करने की कोशिश की और यही वह कारण है, जिसके कारण न्याय-शास्त्र एक स्वतंत्र विद्या होते हुए भी जैन-न्याय, बौद्ध-न्याय-जैसी अवान्तर विद्याओं, या-फिर यूँ कहा जाय कि कुछ अंशों में स्वतंत्र विद्याओं के रूप में भी विकसित हुआ।

लॉजिक "Logic" के लिए हिन्दी में दो पारिभाषिक प्रमुख रूप में प्रचलित हैं, वे हैं— तर्क-शास्त्र और तर्क-विद्या। तर्क-शास्त्र को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि तर्क-शास्त्र "The science and art of reasoning correctly" है; भाव यह है कि वह विज्ञान और कला, जो समुचित तर्कणा पर आधारित है, तर्क-शास्त्र कहलायी। इस परिभाषा से तीन प्रश्न उठते हैं:— पहला प्रश्न— क्या तर्क-शास्त्र विज्ञान है?..... दूसरा सवाल— क्या तर्क-शास्त्र कला है?..... और तीसरा सवाल— समुचित तर्कणा क्या है?..... —इन तीनों सवालों पर पश्चिमी विचार-शास्त्र में किताबें ही किताबें, तर्क के तर्क, दलीलें की दलीलें भरी पड़ी हैं। उन-सब में ग्रथित समग्र सामग्री पर विचार कर पाना यहाँ कठिन ही नहीं, सम्भवतः सम्भव ही नहीं है; केवल अन्तिम सवाल के दो प्रमुख विचार-पक्षों की चर्चा महत्त्वपूर्ण है, जो 'तर्क पर तर्क' और 'सत्य पर तर्क' पर आधारित हैं। इन दोनों बिन्दुओं के मानने वाले दो बड़े स्कूल "School" पश्चिमी तर्क-शास्त्र में विकसित हुए। इस पश्चिमी तर्क-शास्त्र अर्थात् लॉजिक "Logic" की एक परिभाषा और मिलती है, जो तर्क-शास्त्र अर्थात् लॉजिक "Logic" को किसी भी ज्ञान-शाखा की तार्किक भूमिका के रूप में "The Principles of any branch of knowledge" देखती है तथा इसप्रकार कुछ लोग पश्चिमी दुनिया में भी विभिन्न ज्ञान-शाखाओं के मूल सिद्धान्तों के रूप में भी तर्क-शास्त्र या उसके आधारों को देखते हैं। जो लोग इस रूप में तर्क-शास्त्र को देखते हैं, वे तर्क-शास्त्र को ज्ञान के तर्काधारों या तार्किक आधारों के रूप में लेते हैं। इस ज्ञान-शाखा के विचारकों का मूल मिथक यह है कि कोई भी ज्ञान-शाखा तर्काधारों के बिना पल्लवित नहीं हो सकती। एक ज्ञान-शाखा को दूसरी ज्ञान-शाखा तर्काधारों के आधारों पर ही अलग रूप में मानती है या अलग रूप से प्रख्यापित करती है, पर कोई भी ज्ञान-शाखा तर्काधार के बिना नहीं होती या

नहीं हो सकती, और यदि उसका जन्म हो भी जाए, तो-भी तर्काधार के बिना कोई भी ज्ञाना-शाखा पल्लवित भी नहीं होती।

हमारी परम्परा में न्याय-शास्त्र का चरम उद्देश्य वस्तु-तत्त्व के सर्वांग स्वरूप को सयुक्तिक रखने में रहा है।

भ्वादिगण की 'नी' धातु का प्रयोग ले जाने के अर्थ में होता है, जिससे नौका की भाँति तैरकर पार उतार कर ले जाया जा सके, वह न्याय कहलाता है अर्थात् जिस ज्ञान-शास्त्र के माध्यम से परमार्थ-तत्त्व का सत्यार्थ पूरी तरह गृहीता को बौद्धिक रूप से अवगमित कराया जा सके, उसे न्याय-शास्त्र मानने की हमारी परम्परा रही है।

हमारी परम्परा में अनुमान को न्याय-शास्त्र में प्रमुख विचार का विषय बनाया गया अर्थात् अनुमान को सत्य की सिद्धि में कारक माना गया, इस अनुमान की प्रक्रिया के पाँच अंग माने गये— प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनयन और निगमन। गौतम की न्याय-दर्शन की परम्परा में अनुमान की चर्चा के बहाने इन पाँचों अंगों की बात की गयी।

परिन्योर्नीणोद्धूताभ्रेषयोः (3.3.37) के अनुसार अभ्रेष अर्थ में धातु-पाठ-कार ने 'न्याय' शब्द की निष्पत्ति की ओर संकेत किया है। जयादित्य वामन की *काशिका-वृत्ति* में अभ्रेष शब्द का अर्थ पदार्थों का अतिक्रमण न करने से लिया है अर्थात् जैसे प्राप्त हो, वैसा करना— **पदार्थानामनपचारो यथाप्राप्तकरणं अभ्रेषः** (*काशिका*, 3.3.37) इसप्रकार न्याय-शास्त्र को *काशिका-कार* औचित्य-शास्त्र के रूप में भी व्याख्यायित करते हैं। संभवतः यही अर्थ आगे चलकर 'न्याय' शब्द के न्याय-विद्या के अर्थ में रुढ़ कराने में सन्निविष्ट प्रमुख कारक हो गया। भाव यह है कि प्राचीन मान्यता के अनुसार न्याय-शास्त्र उसी परिणाम को न्याय-पूर्ण घोषित करता है, जो उचित हो अर्थात् उसका जैसा-रूप हो, उसके बारे में वैसा ही कथन किया गया हो।

दूसरी ओर लोक में देहली-दीपक-न्याय घोड़ाक्षर-न्याय व काक-ताली-न्याय का भी उल्लेख मिलता है, वस्तु-तत्त्व की सिद्धि जिन तर्क या तार्किक उपायों के द्वारा होती है, उन तार्किक-उपायों को, तौर-तरीकों को बताने वाले शास्त्र को हमारे यहाँ 'न्याय' कहा गया है; यहाँ "हमारे यहाँ" से अभिप्राय भारतीय बौद्धिक चेतना से है। भाव यह है कि भारतीय बौद्धिक चेतना में संसार के सारे पदार्थों को प्रमुखतः दो कोटियों में रखा गया— 1. प्रत्यक्ष पदार्थ, 2. परोक्ष पदार्थ। जो सीधे सम्मुख हो, वह प्रत्यक्ष है, तब-फिर उसकी सिद्धि की बात बहुत मायने नहीं रखती। अब प्रश्न है कि

जो परोक्ष पदार्थ हैं, उनकी सिद्धि कैसे हो?..... उस सिद्धि में जिन तर्क/उपायों को या तार्किक उपायों को इस्तेमाल किया जाता है, उन तार्किक उपायों के समवेत रूप को हमारे यहाँ न्याय-शास्त्र कहा गया। इसीलिए **न्यायविनिश्चय** में कहा गया है कि—“नीयते अनेन इति हि नीति-क्रिया-करणं न्यायमुच्यते” अर्थात् जिसके द्वारा निश्चय किया जाय, —ऐसी नीति व क्रिया का करना न्याय कहलाता है। तर्क व युक्ति के द्वारा परोक्ष पदार्थों की सिद्धि व निर्णय करने के लिए वस्तुतः हमारे यहाँ न्याय-शास्त्र का उदगम हुआ। विभिन्न भारतीय दर्शनों में वैशेषिक दर्शन भी महत्त्वपूर्ण है। वैशेषिक दर्शन में जिन तत्त्वों को मान्य माना गया, उन तत्त्वों की युक्ति-पूर्वक सिद्धि को वस्तुतः न्याय-शास्त्र कहा गया, जो कालान्तर में नैयायिक दर्शन के रूप में प्रख्यापित हुआ।

‘न्याय’ शब्द की व्युत्पत्ति में भी जाएँ, तो ‘नि’ उपसर्ग पूर्वक ‘इण्’ गतौ धातु से या गत्यर्थक ‘इण्’ धातु से घञ् प्रत्यय होने पर ‘न्याय’ शब्द बनता है, जिससे भी अर्थ निकलता है कि जिससे निःशेष रूप में वस्तु-तत्त्व का अर्थ अवगमित हो जाय, उस उपाय-शास्त्र का नाम **न्याय** है अर्थात् उसके बाद वस्तु-तत्त्व की सिद्धि के लिए और-कुछ किञ्चित्-भी गति की जरूरत न रह जाय, ऐसी स्थिति में पहुँचाने का काम काक-तालीय न्याय का है अर्थात् इन लोक-प्रसिद्ध न्यायों के माध्यम से लोक में अनुभव के आधार पर कुछ नियम-सूत्र बनाये गये, कालान्तर में उन्हें भी न्याय कहा जाने लगा। वस्तुतः इन न्यायों का इस्तेमाल पूर्व-मीमांसा-शास्त्र में ब्राह्मण-वाक्यों के अर्थ के निर्धारण के लिए बहुत खोजकर किया जाता रहा है, इसीलिए प्राचीन काल में मीमांसा के लिए भी न्याय शब्द का प्रयोग होता रहा है। पाश्चात्य विद्वानों में बुहलर ने और भारतीय विद्वानों में डॉ. धर्मन्द्र नाथ शास्त्री ने स्पष्टतः लिखा है कि “आपस्तम्बसूत्र में “न्याय” शब्द का प्रयोग पूर्व-मीमांसा के अर्थ में ही हुआ है, इसलिए उत्तरकाल में भी पूर्व-मीमांसा के लिए ही न्याय शब्द का प्रयोग होता रहा है।”

न्याय-विद्या के लिए भी प्राचीन काल से ही न्याय शब्द का प्रयोग होता रहा है, यह बात **न्यायवृत्तिकार विश्वनाथ** ने श्रुति, स्मृति तथा पुराण के आधार पर कही है (1.1.1)। आप “**न्याय-सूत्र**” के नाम पर भी विचार करें, तो-भी यह बात स्पष्ट होती है कि **न्याय-सूत्र** के प्रणेता **गौतम** के समय में भी ‘न्याय’ शब्द न्याय-विद्या के लिए प्रसिद्ध हो गया था, इसीलिए उन्होंने अपने ग्रंथ का नाम **न्याय-सूत्र** रखा। **न्याय-सूत्र-भाष्य** (1.1.1) में उल्लिखित है— “प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः” भाव यह है

कि न्याय-भाष्यकार ने प्रमाणों के द्वारा वस्तु की परीक्षा करने को न्याय कहा। भाष्य में आगे भी उल्लेख मिलता है कि “प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं सान्वीक्षा प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा। तया प्रवर्तते इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्” – न्यायभाष्य, 1.1.1। प्रत्यक्ष और आगम के आश्रित अनुमान को अन्वीक्षा कहने की हमारी परम्परा रही है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष व आगम के आधार पर ही प्रवृत्त होता है, उसी को न्यायभाष्यकार ने आन्वीक्षिकी या न्याय-विद्या या न्याय-शास्त्र कहा है। वस्तुतः आन्वीक्षिकी का प्रयोग आत्म-विद्या अथवा आत्मा के स्वरूप के अनुसार उसे देखने की विद्या के अर्थ में प्राचीन काल से ही हमारे यहाँ होता रहा है, उसे *मनुस्मृति* में भी मनु के द्वारा आत्म-विद्या कहा गया। चूँकि आत्मा भौतिक वस्तु नहीं है, अतः सीधे प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकती और परोक्ष के ढूँढने में अनुमान महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, इसलिए इस न्याय-विद्या को आन्वीक्षिका के साथ अनुमान-विद्या भी कहा गया है। प्रमाण वे आधार हैं, जिनके आधार पर परोक्ष को ढूँढा जा सकता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों को ढूँढने का प्रामाणिक कार्य जहाँ होता है, इसीलिए वहाँ न्याय-विद्या का एक नाम प्रमाण-शास्त्र या प्रमाण-विद्या भी है। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ न्याय-विद्या के कुछ ग्रंथ *तर्क-संग्रह*, *तर्क-भाषा*, *तार्किक रक्षा*, *तर्क-कौमुदी*, *तर्कामृत* आदि नामों से भी प्रसिद्ध हुए हैं, जिससे भी इस बात की ओर संकेत मिलते हैं कि हमारे यहाँ न्याय-विद्या को तर्क-विद्या या तर्क-शास्त्र मानने की परम्परा रही है। तर्क शब्द भी चुरादि गण की उभयपदी ‘तर्क्’ धातु से ‘अच्’ प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका पारम्परिक अर्थ— कल्पना करना, अटकल करना या अटकल लगाना, अंदाज लगाना, अनुमान करना, विमर्श करना आदि कहा गया है, जिससे भी इस बात की ओर संकेत मिलते हैं कि हमारे यहाँ न्याय-विद्या को तर्क-विद्या या तर्क-शास्त्र मानने की परम्परा रही है। जो आचार्य न्याय-शास्त्र को तर्क-विद्या मानते थे, वे भी इसके प्रमुख आधार के रूप में अनुमान-प्रमाण को ही लेते रहे हैं। कुछ आचार्यों के मत में इसका एक नाम वाद-विद्या या वाद-शास्त्र भी रहा है, यह नाम भी भारतीय वाचिक परम्परा में वाद या यूँ कहें कि शास्त्रार्थ के दौरान प्रयोग किए जाने वाले तर्काधारों का विवेचन करने वाले शास्त्र की ओर संकेत करता है, इसके अनुसार वाद में प्रयुक्त हेतु, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह-स्थान आदि का वर्णन इसमें प्रमुख रूप से है। न्याय-दर्शन के मानने वाले नैयायिक जहाँ प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति व निग्रह-स्थान इत्यादि 16 पदार्थों को मानते हैं, वहीं वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार महर्षि कणाद ‘विशेष’ नामक पदार्थ की विशिष्ट कल्पना करने के

कारण अपने दर्शन को वैशेषिक दर्शन के नाम से प्रख्यापित करने की ओर संकेत देते हैं। कुछेक बिन्दुओं को छोड़कर प्रायः अधिकांश बिन्दुओं पर न्याय और वैशेषिक दर्शनों में समानता है। इसलिए इन दोनों दर्शनों का एक संयुक्त नाम 'यौग' भी हमारी परम्परा में उल्लिखित है। 'यौग' के नाम से जो-कुछ कहा गया, वह-सब न्याय और वैशेषिक दर्शनों में उल्लिखित है। नैयायिक और वैशेषिक दोनों दर्शनानुयायियों ने सन्निकर्ष को प्रमाण माना है। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान आदि चार प्रमाणों को मानते हैं, जबकि वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान आदि दो को ही प्रमाण मानते हैं। नैयायिक और वैशेषिक दोनों इस बात पर एक-मत हैं कि प्रमाण अस्वसंवेदी होता है। भाव यह है कि ज्ञान स्वयं अपना प्रत्यक्ष नहीं करता, बल्कि दूसरे ज्ञान के द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है। दोनों ने ही अर्थ और आलोक को ही ज्ञान का कारण माना है। गृहीत-ग्राही धारावाहिक-ज्ञान को दोनों प्रमाण मानते हैं तथा आत्मा को शरीर के परिमाण वाला न मानकर व्यापक मानते हैं। दोनों ईश्वर की सत्ता स्वीकार करके उससे ही संसार की सृष्टि का करने वाला मानते हैं। दोनों ही धर्म एवं धर्मी (अवयवी) का भेद स्वीकार करते हुए धर्मों से पृथक् धर्मी की सत्ता मानते हैं, दोनों असत्-कार्य-वादी हैं, अर्थात् दोनों उत्पत्ति से पूर्व कारणों में कार्य की सत्ता नहीं स्वीकारते। दोनों समवायी, असमवायी तथा निमित्त—इन तीन प्रकार के कारणों को मानते हैं और अ-युत्-सिद्ध की कल्पना करते हैं। शरीर आदि से निमित्त आत्मा की सिद्धि करते हुए आत्मा को परम महत् परिणाम वाला नित्य तथा प्रति-शरीर में भिन्न-भिन्न (नाना) रूप में उपस्थित मानते हैं। दोनों ही यह स्वीकारते हैं कि आत्मा के जन्म आदि का कारण धर्म-अधर्म (अदृष्ट) है। आत्मा के अदृष्ट का नियन्ता सृष्टि व प्रलय का कर्ता ईश्वर है, दोनों के मत में बंध और मोक्ष दोनों शाश्वत सत्य हैं अर्थात् यथार्थ हैं तथा पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है।

न्यायसूत्रकार गौतम कणाद, जिन्हें *अक्षपाद* भी कहा जाता था, वे कहते हैं कि 1. प्रमाण, 2. प्रमेय, 3. संशय, 4. प्रयोजन, 5. दृष्टान्त, 6. सिद्धान्त, 7. अवयव, 8. तर्क, 9. निर्णय, 10. वाद, 11. जल्प, 12. वितण्डा, 13. हेत्वाभास, 14. छल, 15. जाति, 16. निग्रह-स्थान आदि 16 पदार्थों के ज्ञान से मोक्ष होता है। यथा—

“प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा-हेत्वाभासवच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः।” —न्यायसूत्र, 1, 1

षड्दर्शनसमुच्चयकार श्री हरिभद्र सूरि इन 16 पदार्थों को इसप्रकार व्याख्यायित करते हैं— 1. मन और इन्द्रिय के द्वारा होने वाले वस्तु के यथार्थ ज्ञान को प्रमाण

कहते हैं और न्याय-सूत्र-कार के दर्शन के अनुसार यह चार प्रकार का होता है—
 अ. प्रत्यक्ष, ब. अनुमान, स. उपमान, द. शब्द; 2. प्रमाण द्वारा जिन पदार्थों का ज्ञान होता है, वे प्रमेय हैं; 3. स्थाणु में पुरुष की भाँति का संशय होता है; 4. जिससे प्रेरित होकर लोग कार्य करते हैं, वे प्रयोजन हैं; 5. जिस बिन्दु पर पक्ष व विपक्ष एक-मत हों, उसे दृष्टान्त कहते हैं; 6. प्रमाण द्वारा किसी बात को स्वीकार कर लेना सिद्धान्त है; 7. अनुमान की प्रक्रिया में प्रयुक्त होने वाले वाक्य अवयव हैं; 8. प्रमाण का सहायक तर्क होता है; 9. पक्ष व विपक्ष दोनों का विचार जिस बिन्दु पर स्थिर हो जाए, वह निर्णय कहलाता है; 10. तत्त्व-जिज्ञासा से किया गया विचार-विमर्श वाद है; 11. स्व-पक्ष का साधन और पर-पक्ष का खण्डन जल्प है; 12. अपना कोई भी मत/पक्ष स्थापित न करते हुए पर-पक्ष का केवल खण्डन वितण्डा है; 13. जो हेतु न हो, हेतु-जैसा हो, ऐसे असत्-हेतु को हेत्वाभास कहते हैं; 14. वक्ता के अभिप्राय को पलटकर प्रकट करना छल है; 15. मिथ्या उत्तर देना जाति है; तथा 16. वादी तथा प्रतिवादी के पक्ष का स्पष्ट न होना निग्रह-स्थान है। नैयायिक कारण में कार्य की सत्ता नहीं स्वीकारते, अतः असत्कार्यवादी हैं।

न्यायसूत्रकार गौतम और जैन नैयायिक दोनों एक बिन्दु पर एक-मत हैं कि ज्ञान से मोक्ष होता है, पर दोनों में भिन्नता यह है कि न्यायसूत्रकार उपर्युक्त 16 पदार्थों के ज्ञान से मोक्ष मानते हैं, वहीं जैन नैयायिक केवलज्ञान से, बल्कि केवलज्ञान को भी वे एक-प्रकार का आंशिक मोक्ष मानते हैं, क्योंकि केवलज्ञान की अवस्था में भी घातिया कर्म नश्वर हुए होते हैं। न्यायसूत्रानुगामी ईश्वर की सत्ता सृष्टिकर्ता के रूप में मानते हैं, जबकि जैन नैयायिक परमात्मा को तो मानते हैं, पर वे परमात्मा को सृष्टि का कर्ता नहीं मानते।

न्यायसूत्रकार “प्रमाणैरर्थपरीक्षणं” प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा को न्याय कहते हैं अर्थात् वे न्याय के साधन के रूप में केवल प्रमाण को मानते हैं, पर जैन विचारक *तत्त्वार्थसूत्र* में उल्लिखित “प्रमाणनयैरधिगमः” का अनुकरण करते हुए “प्रमाणनयात्मको न्यायः” इसप्रकार *न्यायदीपिका* में न्याय को प्रमाण और नय रूप मानते हैं, दोनों में अर्थात् न्यायसूत्रकार के न्याय व जैन नैयायिकों के न्याय में एक सूक्ष्म अंतर यह है कि जैन नैयायिक जहाँ न्याय को प्रमाण व नय रूप मानते हैं, वहीं न्यायसूत्रकार गौतम प्रमाण को न्याय का साधन मानते हैं, इसीलिए उन्होंने अपने न्याय-रूप में प्रमाण शब्द का प्रयोग तृतीया विभक्ति के बहुवचन में किया है। कुल मिलाकर दोनों में साम्य इस बिंदु पर है कि दोनों प्रमाण को नकारते नहीं हैं, बल्कि

वे दोनों न्याय के संदर्भ में निरन्तर प्रमाण को देखते हैं। एक और खास बात यह है कि भारतीय न्याय-शास्त्र की परम्परा के तीनों घटक तत्त्वों/पदार्थों की बात करते हैं, इसलिए तीनों इस बिन्दु पर सहमत हैं कि उन्हें पदार्थों या तत्त्वों की सिद्धि करना है और तीनों में असहमति इस बिन्दु पर है कि तीनों पदार्थों/तत्त्वों का स्वरूप और संख्या अपनी-अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि के अनुसार अलग-अलग मानते हैं। इसलिए तीनों भारतीय न्याय-शास्त्र के समवेत रूप में वाहक होते हुए भी जैन-न्याय, बौद्ध-न्याय और न्याय-शास्त्रीय-न्याय के रूप में अपनी अलग-अलग पहचान बनाये हुए हैं। तीनों में एक और वैचारिक अंतर है, जैसे-कि न्याय-दर्शन जहाँ वितण्डा, जाति व निग्रह-स्थान—जैसे अनुचित हथकंडों को वाद में इस्तेमाल करके जीत लेना न्याय-संगत मानता है, वहीं जैन नैयायिक केवल सदहेतुओं के आधार पर ही अपने पक्ष की सिद्धि करने पर बल देते हैं और ऐसी सिद्धि को ही वे सच्ची विजय मानते हैं। जैनों का न्याय जहाँ अनेकान्त व स्याद्वाद तथा अहिंसा और सत्य को सम्मुख रखकर चला है, वहीं न्याय-शास्त्रीय न्याय केवल वेद-वचन को सम्मुख रखकर आगे बढ़ा है। जैन-न्याय-विद्या की अपनी एक बृहत् परम्परा है। यद्यपि जैन-न्याय के बीज भगवद् कुन्दकुन्दाचार्य के साहित्य व आचार्य उमास्वामि के *तत्त्वार्थसूत्र* से ही मिलते हैं, फिर-भी इस परंपरा के वाहकों में आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन के बाद में आचार्य अकलंकदेव वे अग्र-गण्य स्तम्भ हैं, जिन्होंने जैन-न्याय की परम्परा को पोषित ही नहीं किया, बल्कि एक-प्रकार से स्थापित भी किया है। इसी परंपरा की अगली पीढ़ी के ध्वज-वाहक आचार्य प्रभाचन्द्र हुए हैं, जिन्होंने आचार्य अकलंकदेवकृत *“लघीयस्त्रय”* की *“न्यायकुमुदचन्द्र”*—जैसी महनीय टीका और आचार्य माणिक्यनन्दि के *“परीक्षा-मुखा-सूत्र”* नामक ग्रन्थ पर 12000 श्लोक-परिमाण वाली *“प्रमेय-कमल-मार्तण्ड”*—जैसी अद्भुत टीका लिखी। उपाध्याय ज्ञानसागर जी इन दोनों ग्रंथों के बारे में लिखते हैं कि— *“प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित ये दोनों ग्रंथ टीका-ग्रंथ अवश्य हैं, किन्तु विषय की विविधता और मौलिक चिन्तन के कारण अपने-आप में पूर्ण एवं स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में प्रतिष्ठित हैं।”* इसी परंपरा में आचार्य समन्तभद्र की *आप्त-मीमांसा* और उस पर आचार्य अकलंकदेव की लिखी *अष्टशती* तथा आचार्य विद्यानन्द की *अष्टसहस्री* भी महत्त्वपूर्ण हैं, आचार्य समन्तभद्र का *स्वयम्भूस्तोत्र* भी जैन-न्याय की परंपरा का ध्वज-भेरु-दण्ड है।

अकलंक के नाम से *अष्टशती* तथा *तत्त्वार्थवार्तिक* भाष्य-रचनाओं के रूप में तथा *लघीयस्त्रय*, *न्याय-विनिश्चय*, *सिद्धि-विनिश्चय* एवं *प्रमाण-संग्रह* स्वतंत्र रचनाओं

की तरह प्रख्यापित हैं। इन छह ग्रन्थों के अतिरिक्त *अकलंक-स्तोत्र*, *अकलंक-प्रतिष्ठा-पाठ*, *अकलंक-प्रायश्चित्त*, *बृहत्त्रय*, *न्याय-चूलीका* व *स्वरूप-सम्बोधन* आदि कुछ अन्य ग्रन्थों को भी कुछ विद्वान् श्री अकलंकदेव की ही रचना मानते हैं और कुछ नहीं भी, बहरहाल अभी-तक ऐसे कोई सबल प्रमाण सम्मुख नहीं आए हैं, जिनके आधार पर *न्याय-चूलीका* व *स्वरूप-सम्बोधन* को भट्ट श्री अकलंकदेव की रचना न माना जा सके। प्रस्तुति के ढंग की दृष्टि से यदि आप इन रचनाओं का मूल्यांकन करें, तो कहीं से भी ये रचनाएँ अकलंक की नहीं हैं, —ऐसा प्रमाणित नहीं होता।

जैन आचार्य प्रमाणों को दो कोटियों में रखते हैं— 1. प्रत्यक्ष, 2. परोक्ष। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान आदि ज्ञानों में पहले दोनों ज्ञानों को वे परोक्ष मानते हैं और शेष ज्ञानों को प्रत्यक्ष। अकलंकदेव ने इस प्रत्यक्ष और परोक्ष की मान्यता को एक नया रूप दिया और प्रत्यक्ष के भी दो भेद किये, जिन्हें मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा। डॉ. उदयचंद जी ने जैनों के इस प्रमाण-भेद को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—

“प्रत्यक्ष के दो भेद हैं— मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। मुख्य प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं— सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष। सम्पूर्ण पदार्थों को युगपद् जानने वाला केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है और नियत अर्थों को पूर्णरूप से जानने वाले अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष कहलाते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं— इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष। स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहलाता है और मन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहलाता है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा —ये मतिज्ञान के चारों भेद सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाते हैं।”

“स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम, —ये परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं। इनमें से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क —इन तीनों प्रमाणों को अन्य दार्शनिकों ने पृथक् प्रमाण के रूप में नहीं माना है। नैयायिकों और मीमांसकों ने प्रत्यभिज्ञान के स्थान पर उपमान को प्रमाण माना है, किन्तु व्याप्ति-ग्राहक तर्क को तो किसी ने भी प्रमाण नहीं माना है। जैन दार्शनिकों ने युक्ति-पूर्वक यह सिद्ध किया है कि तर्क के बिना अन्य किसी प्रमाण से व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता है।”

वस्तुतः ध्यान से इतिहास को देखा जाए, तो जैन-न्याय का विकास बौद्ध नैयायिकों की चुनौतियों को उत्तर देने के रूप में हुआ। श्री अकलंकदेव जी का स्वयं

का नैयायिक जीवन भी इसी चुनौती का प्रतिफल है। यही कारण था कि उन्हें अपने नैयायिक जीवन के प्रारंभ में ही अपने भाई निकलंक को गँवाना पड़ा। जिस समय श्री अकलंकदेव जी का उदय होता है, उस समय बौद्ध नैयायिक बुरी तरह से समाज पर हावी थे, राज्य-सत्ता अर्थात् राजसत्ता भी उनके हाथ में थी, सम्पूर्ण विद्या-जगत् पर उन लोगों ने एकाधिपत्य जमा रखा था, ऐसे में जैनधर्म के पास अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए बौद्ध नैयायिकों को चुनौती देने के अतिरिक्त और-कोई दूसरा रास्ता नहीं था।..... पर इसके लिए असंख्य जैन धर्मावलंबियों में भी श्री अकलंक के अतिरिक्त दूसरा कोई-और उस विषम परिस्थिति में ललकारने के लिए खड़ा होने का साहस जुटा नहीं पा रहा था या पा सका। यद्यपि जैन-न्याय के सूत्र अकलंक से पहले भी मिलते हैं, परन्तु जैन-न्याय को प्रतिष्ठा वस्तुतः श्री अकलंकदेव ने ही दिलायी। जैन-न्याय के इतिहास को यदि हम ध्यान से देखें, तो उसके तीन युग सामने आते हैं— पहला युग समंतभद्र-युग कहलाता है, दूसरा युग अकलंक-युग और तीसरा प्रभाचन्द्र-युग; पर इन तीनों में अकलंक-युग सबसे महत्त्वपूर्ण इसलिए है, क्योंकि जैन-न्याय के बीज-सूत्र समंतभद्र-युग में होने के बावजूद भी उसकी पृथक् पहचान का काम अकलंक के युग में ही हो सका। इसीलिए अकलंक के न्याय को दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में समान रूप से आदर प्राप्त है; बल्कि कहा तो यह तक जाता है कि अकलंक के तार्किक युद्ध के सम्मुख अन्य नैयायिक प्रमुख रूप से बौद्ध नैयायिक ठहर नहीं सके, इसीलिए “प्रमाणमकलंकस्य” की उक्ति परम्परा में प्रचलित हुई।

डॉ० दरबारीलाल कोठिया इनके बारे में लिखते हैं कि “आगे जाकर तो इनका वह ‘न्यायमार्ग’ ‘अकलंकन्याय’ के नाम से प्रसिद्ध हो गया। *तत्त्वार्थवार्तिक*, *अष्ट-शती*, *न्याय-विनिश्चय*, *लघीयस्त्रय* और *प्रमाण-संग्रह* आदि इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। ये प्रायः सभी दार्शनिक कृतियाँ हैं और *तत्त्वार्थवार्तिक-भाष्य* को छोड़कर सभी गूढ़ एवं दुरवगाह हैं। अनन्तवीर्यादि टीकाकारों ने इनके पदों की व्याख्या करने में अपने को असमर्थ बतलाया है। वस्तुतः अकलंकदेव का वाङ्मय अपनी स्वाभाविक जटिलता के कारण विद्वानों के लिए आज भी दुर्गम और दुर्बोध बना हुआ है। जबकि उन पर टीकाएँ भी उपलब्ध हैं।” आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने इस जटिलता को खासकर *स्वरूप-संबोधन* के संबंध में परिशीलन में दूर करने की कोशिश की है और इसमें वे भरसक सफल भी हुए हैं।

कुल मिलाकर तथ्यपूर्ण बात यह है कि न्याय की सारी परम्पराएँ परम-सत्य के अन्वेषण के लिए जहाँ संकल्प-बद्ध हैं, वहीं यह भी तथ्य है कि वे अपने संकल्प के अनुसार लगभग सत्रहवीं शताब्दी तक तो कुछ-कुछ आगे बढ़ती रहीं, पर आत्म-केन्द्रित होने की वजह से उन्होंने पश्चिम की तरह भौतिक यथार्थ जगत् को व्याख्यायित करने के लिए औजारों का इस्तेमाल नहीं किया, इसलिए जिस तरह पश्चिम में Logic हर अध्येता के लिए अनिवार्य है, वैसे ही भारत में न्याय-शास्त्र हर अध्येता के लिए वैचारिक रूप में अनिवार्य रहते हुए भी व्यावहारिक रूप से अनिवार्य नहीं रह सका। आज जरूरत इस बात की है कि परमार्थ सत्य और आत्मा को जानने वाले प्रमाण व नय-आश्रित औजारों का इस्तेमाल जहाँ आध्यात्मिक जगत् में हो, वहीं भौतिक जगत् की व्याख्या के लिए भी यदि होने लग जाय, तो हो सकता है कि भौतिक-शास्त्रियों को भी आध्यात्मिक-जगत् की ओर आने का एक रास्ता मिले और इतना ही नहीं, बल्कि हो सकता है कि उन्हें अपनी भौतिक-शास्त्रीय समस्याओं के समाधान भी अध्यात्म-शास्त्र में पल्लवित न्याय के सूत्रों से सीधे आज भी मिलने लग जाएँ।

अब यहाँ इस संक्षिप्त-चर्चा के बाद हम पुनः इस कृति की सम्पादन-प्रविधि की बात पर आते हैं।

कुछ-एक विद्वान् 'स्वरूप-सम्बोधन' को आचार्य भट्ट श्री अकलंकदेव की कृति मानते हैं और कुछ-एक विद्वान् इस विषय में निश्चित-मत नहीं हैं; पर वे भी "स्वरूप-सम्बोधन" की विषय-वस्तु के प्रस्तुति के ढंग को देखें, तो यह बात साफ होगी कि यह रचना अकलंक-जैसे तार्किक से कमतर व्यक्तित्व की रचना नहीं हो सकती है; बल्कि लगता तो यह है कि "स्वरूप-सम्बोधन" भट्ट अकलंक के जीवन के उत्तरार्द्ध की रचना है, इसका कारण यह है कि रचनाकार जैसे-जैसे विषय में पगता जाता है, वह वैसे-वैसे सरल और सहज भाषा का प्रयोग कर उसमें गंभीर और गूढ़ अर्थ का निधान करने में प्रवीण होता जाता है, जबकि प्रारम्भ की अवस्था में वह जटिल से जटिल भाषा का प्रयोग करके भी उतने गूढ़ अर्थ को नहीं कह पाता। आप "स्वरूप-सम्बोधन" के पच्चीसों श्लोकों को जरा ध्यान से पढ़िये, तो आपको लगेगा कि ये तो बड़ी सरल रचना है, जिसका अर्थ अपने-आप उतर आता है, पर जैसे ही आप रचना के एक-एक पद पर गम्भीरता से विचार करते हैं, तो लगता है कि पंतजलि के "महाभाष्य" और भर्तृहरि के "वाक्यपदीयम्"—जैसी भाषा-शैली अपनायी है श्री भट्ट अकलंक ने, जो दिखने में सरल और सहज है, पर है गंभीर-अर्थ-गर्भी। स्वरूप-सम्बोधन के गंभीर-अर्थ को और-सरल भाषा में परोसने का काम किया है स्वरूप-सम्बोधन-परिशीलन में आचार्य श्री विशुद्धसागर जी ने।

स्वरूप-सम्बोधन पर अपनी टीका को परिशीलन में प्रवचन-शैली में प्रस्तुत करने के बाद उन्होंने चाहा कि प्रकाशन के पूर्व कुछ विद्वान् उनके सान्निध्य में कृति का वाचन-आलोचन कर लें और इस प्रसंग की चर्चा डॉ. श्रेयांस जी से हुई, डॉ. श्रेयांस जी ने टोड़ी-फतेहपुर में हम-सब विद्वानों की ओर से हामी भर दी, जिसके परिणाम-स्वरूप हम-सब डॉ. शीतलचन्द्र जी जयपुर, डॉ. श्रेयांस कुमार जी बड़ौत व श्री आनन्द कुमार जी वाराणसी तथा मैं (वृषभ प्रसाद जैन) टोड़ी-फतेहपुर में पहली वाचना के लिए उपस्थित हुए, वाचना का क्रम प्रातः, मध्याह्न और अपराह्न में प्रति-दिन आचार्य-श्री के सान्निध्य में चलता था, इसप्रकार पहली वाचना में हम लोगों ने 12 श्लोकों को पूरा किया, दूसरी वाचना टीकमगढ़ पंचकल्याणक के उत्तरार्द्ध में हुई, जिसमें अवशिष्ट को पूरा किया गया। वाचना के दौरान शास्त्र-चर्चा-आनंद का पक्ष यह था कि हम-सब जैसे-जैसे वाचना में लीन होते-जाते, वैसे-वैसे हम-सब श्लोकार्थ के भीतर पहुँचकर अध्यात्म-रस का पान करने लग जाते थे और उसमें आचार्य-श्री की टिप्पणी और-सराबोर कर देती थी।

वाचना के बाद प्रकाशन की जिम्मेदारी मुझे सौंपी गयी, जिसमें मुझे पाण्डुलिपि की जटिलताओं से और दो-चार-होना पड़ा। इसका कारण यह रहा कि वाचना के लिए हमें मूल पाण्डुलिपि मिली नहीं थी। मूल पाण्डुलिपि से किसी कातिब ने उसकी प्रति बनायी और-फिर उसकी भी कुछ नहीं पढ़ी जा सकने वाली-सी फोटोस्टेट-प्रतियाँ हम-सब को वाचना के लिए मिलीं, जिसमें कई स्तर पर अशुद्धियों पर अशुद्धियाँ जुड़ती गईं। यद्यपि संशोधन की दृष्टि से लगभग पूरी कृति का दस बार पारायण हुआ, फिर-भी मैं नहीं जानता कि पूरा का पूरा पाठ पूरी-तरह त्रुटि-हीन हो पाया हो। हाँ, मैं यह जरूर कह सकता हूँ कि उसका प्रयास हमने जरूर किया है। कई सहायक भी इस कार्य में जुड़े, पर वे कार्य-समाप्ति तक विभिन्न विवशताओं के कारण साथ-साथ न रह सके। उधर आयोजकों की बाजार से दौड़कर 2 मीटर कपड़ा खरीदकर लाने-जैसी जल्दी आदि-आदि। पर मुझे लगता है कि ग्रन्थ-प्रकाशन का कार्य दो मीटर कपड़ा खरीदने-जैसा नहीं है, या बिजली के बटन दबाने पर परिणाम-दिखने-जैसा भी नहीं है।

मैं टीका-भाषा से गुजरा, तो मुझे लगा कि हिंदी वर्तनी व व्याकरण के वर्तमान नियम पर्याप्त नहीं हैं, जिसके फल-स्वरूप सम्पादन की प्रक्रिया को समृद्ध करने के लिए वर्तनी व व्याकरण के कई नियम भी विकसित करने पड़े, क्योंकि उस तरह के नियम पहले से हिन्दी वर्तनी-व्याकरण में मौजूद नहीं हैं, जैसे— “तो-फिर” को हमने

हाइफन/सामासिक चिह्न के साथ रखना उचित समझा, क्योंकि जहाँ कृति में "तो-फिर" का इस्तेमाल हुआ है, वहाँ न "तो" का अर्थ रहता है और न "फिर" का, अतः दोनों मिलकर एकार्थ में सामासिक रूप में रूढ़ होकर प्रयुक्त होते दिखते हैं, इसप्रकार हिन्दी व्याकरण में एक नया सिद्धान्त भी विचारने का अवसर मिला कि सामासिकता केवल दो संज्ञा पदों के बीच में ही नहीं होती, बल्कि वह योजक-अव्ययों आदि अन्य पदों के बीच में भी होती है।.....ऐसे ही एक प्रयोग मिलता है कि "और ध्यान दो" अब यहाँ योजक दिखने वाले "और" का प्रयोग योजक के रूप में नहीं है, बल्कि उसका प्रयोग है "अतिरिक्त" या "थोड़ा-और" अर्थ वाले सर्वनाम के रूप में है, इसलिए सिद्धांत यह उभरा कि योजक दिखने वाला सदैव योजक नहीं होता, वह कई बार सर्वनाम भी होता है। एक प्रयोग है कि "....आँच आने-वाली है"; अब इस प्रयोग को ध्यान से देखें, तो 'है' क्रिया वर्तमान-कालिक है, पर यह साफ दिखता है कि वाक्यार्थ का यथार्थ वर्तमान में नहीं घट सकता, वह-तो भविष्य में घटता-सा दिखता है, इससे स्पष्ट है कि ये-सब प्रयोग अब-तक नियम-बद्ध व्याकरण की सीमा में नहीं आते, क्योंकि ध्यान से देखने पर यह साफ दिखता है कि यह न वैसा वर्तमान है और न वैसा भविष्य, जो-कि उपलब्ध नियमों में पहले से व्याख्यात हैं, बल्कि मुझे तो यह प्रयोग काल की एक नई कोटि आसन्न-भविष्य-मूलक वर्तमान वाला दिखता है। एक वाक्य है— 'नवीन कर्माश्रय और कर लेता है' —इस वाक्य में क्रिया-प्रयोग है "और कर लेना" —इस प्रयोग को जब ध्यान से देखते हैं, तो यह प्रयोग अनेक-पदीय आत्मनेपदी संयुक्त-क्रिया के रूप में दिखता है, जिसका अर्थ है कि 'न चाहते हुए भी अतिरिक्त रूप से कर लेना'; इस प्रयोग के तीन घटक हैं— पहला घटक है 'और', दूसरा घटक है 'कर' और तीसरा है 'लेना', बाद के दोनों घटक क्रिया-मूलक 'कर' और 'ले' धातुओं से बने हैं, जबकि पहला घटक 'और' दिखने में अव्यय व योजक है, परन्तु वह वस्तुतः सार्वनामिक अव्यय है; जिसका अर्थ 'अतिरिक्त रूप से' है, इसप्रकार इस क्रिया-प्रयोग के क्रमशः सर्वनाम एवं धातु-मूलक घटक हैं और ये तीनों घटक मिलकर एक अर्थ कह रहे हैं, इसलिए यह क्रिया सामासिक-अर्थ वाली संयुक्त-क्रिया है। इसे इस रूप में मानने के पीछे तर्क यह है कि इसके तीनों घटक समान-स्तरीय नहीं हैं, अतः इसे केवल या शुद्धतः सामासिक-क्रिया नहीं माना जा सकता; इसलिए यह संयुक्त-क्रिया है।

'जपते-जपते समाधि-लेना श्रेष्ठ है', —इस प्रयोग को आप ध्यान से देखें, तो अब-तक के हिन्दी वर्तनी-प्रयोगों में 'समाधि लेना' के बीच में सामासिक-चिह्न/हाइफन

का प्रयोग नहीं होता था, पर मुझे लगता है कि बिना हाइफन के 'श्रेष्ठ' विशेषण किसका होगा?..... 'समाधि' का या 'लेना' का?.....इसका उत्तर नहीं मिलता। श्रेष्ठ विशेषण समाधि-लेना रूप सामासिक क्रियार्थक-संज्ञा का है, —यह बात हाइफन के लगने पर ही स्पष्ट होती है, अतः मुझे लगता है कि हिन्दी व्याकरण व वर्तनी के नियम में ऐसी क्रियाओं के बीच में या ऐसे क्रिया-मूलक संज्ञा-पदों/अव्यय-पदों के बीच में सामासिक चिह्न/हाइफन का लगाना अनिवार्य है। निम्न प्रयोग और देखें—

जो-कुछ, सब-कुछ; वह-सब, यह-सब

पहले दोनों प्रयोगों को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि उत्तरवर्ती पद अपना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता, वह पहले पद को ही कुछ-और स्पष्ट करता है, पर पहला पद ही प्रमुख है, अतः ऐसा लगता है कि दोनों पद मूलतः सर्वनाम हैं, पर अपना अलग-अलग अर्थ न रखते हुए भी सामासिक रूप में एक-अर्थ ही कह रहे हैं, इसलिए एकीभूत हैं और इसीलिए इन दोनों के बीच में योजक सामासिक-चिह्न लगाना अनिवार्य है और ऐसा नियम हिन्दी-वर्तनी-व्याकरण के लिए आवश्यक है। यही स्थिति 'वह-सब' तथा 'यह-सब' प्रयोगों की भी लगभग है।

जो-कि, जैसा-कि, जैसे-कि आदि इन प्रयोगों को भी देखें, तो इनके भी पहले पद ही प्रमुख अर्थ-निर्धारक हैं तथा पहले पद सर्वनाम-रूप-जैसे हैं, जब-कि दूसरा पद अव्यय और योजक है, पर इस दूसरे पद के बिना भी हिन्दी की सहज वाक्य-रचना नहीं बनती, इसलिए इस दूसरे पद का होना भी प्रथम पद के साथ अनिवार्य-सा है और इसीलिए इन दोनों पदों के बीच में समास होता-सा दिखता है तथा यही कारण है कि वहाँ योजक सामासिक-चिह्न अनिवार्य है।

इसलिए मेरे लिए व्यक्तिशः जो सुखद हुआ, वह यह कि भाषा का विद्यार्थी होने के नाते मुझे हिन्दी वर्तनी के सिद्धांत में बहुत-कुछ जोड़ने पर विचार करने और हिन्दी भाषा के व्याकरण के सिद्धांतों की नए ढंग से प्रस्तुति को भी सामने-रखने का अवसर मिला, इस **स्वरूप-संबोधन-परिशीलन** की संपादन-प्रक्रिया में।

अभी-तक जो तीन प्रकाशन **स्वरूप-संबोधन** के हमें प्राप्त हुए हैं, उन तीनों के मूल-पाठ अनेक स्थलों पर भिन्न-भिन्न हैं; अतः स्पष्ट है कि **स्वरूप-संबोधन** का मूल-पाठ भी अभी-तक अधिकतम प्रतियों को सँजोकर सम्यक् रूप से आलोचित होकर (Critically) सम्पादित नहीं हुआ है। चाहता तो मैं भी यह था कि विभिन्न हस्तागारों से मैं **स्वरूप-संबोधन** के पाठ/पांडुलिपियाँ एकत्रित करता और उनके आधार पर तुलनात्मक पुनर्गठन-पद्धति (Comparative Reconstuction Method) तथा

आन्तरिक पुनर्गठन-पद्धति (Internal Reconstruction Method) और जहाँ पर इन दोनों से भी काम न चले, वहाँ ऐतिहासिक पुनर्गठन-पद्धति (Historical Reconstruction Method) का इस्तेमाल कर मूल-पाठ को आलोचित रूप से संपादित करता, पर विभिन्न आयोजकों के शीघ्र प्रकाशन के दबाव के कारण वह काम नहीं हो सका, जिसका मुझे खेद है। यद्यपि डॉ. सुदीप जी ने कई प्रतियों व पं. केशवर्य्य की कन्नड़ टीका के अनुसार मूल-पाठ संपादित करने का प्रयास किया है, पर वह पर्याप्त नहीं है, कारण कि अनेकत्र संस्कृत की पहली टीका में जो पाठ मिलता है व जो व्याख्या मिलती है, उस व्याख्या की तार्किकता को नकारने के आधार डॉ. सुदीप जी पाठ संपादित करते समय नहीं दे सके हैं तथा जो पाठ निर्धारित किया, उसके निर्धारण के भी तार्किक आधार प्रयास करने पर भी दिखते नहीं हैं। यहाँ मैंने संस्कृत की प्राचीनतम अज्ञातकर्तृक टीका को आधार के रूप में रखा और जहाँ पाठ-भेद में किसी पाठ को मानने में तार्किक आधार संस्कृत की टीका में मिल गया, तो उसे मान लिया; इसके अलावा जहाँ संस्कृत-टीका में वह आधार नहीं दिखा, वहाँ अन्य दोनों पाठों में से साँचे की समरूपता के सिद्धान्त (Pattern Congruity) व तुलनात्मक आधार पर पाठ को आँकते हुए उसका रूप निर्धारित किया है, इतना-भर काम अभी इस हड़बड़ी में हो सका है। जो पाठ अभी हमने स्वीकार किया है, उसकी तार्किकता के आधार भी तात्कालिक रूप में मैंने पाद-टिप्पण में दिये हैं, पर वे व्यक्तिशः मेरे द्वारा ही दिये गए ही हैं तथा वे तात्कालिक ही हैं, क्योंकि उनके निर्णय में हस्तलिखित पांडुलिपियों को सँजोकर नहीं जोड़ा जा सका है; यदि कभी अवसर मिला, तो विभिन्न पांडुलिपियों के आधार पर फिर-से उसके मूल-पाठ को संपादित करूँगा।

स्वरूप-संबोधन का बीसवाँ श्लोक दो प्रकाशित प्रतियों में नहीं है। केवल एक प्रकाशित प्रति में ही वह दिया गया है। विषय-वस्तु व उस श्लोक की प्रस्तुति के ढंग पर जब हम विचार करते हैं, तो लगता है कि वह श्लोक **स्वरूप-संबोधन** का अभिन्न अंग अवश्य रहा होगा। जो कालान्तर में लिप्यंतरकार की गड़बड़ी के कारण किसी स्तर पर छूट गया। यदि उस श्लोक को हटा देते हैं, तो **स्वरूप-संबोधन** पंचविंशतिकी की उक्ति भी सटीक नहीं बैठती, क्योंकि जो 26वाँ श्लोक है, वह **स्वरूप-संबोधन** के मूल-कथ्य का प्रस्तोता न होकर उपसंहारात्मक है। अतः 26वाँ श्लोक मूल रचनाकार का जरूर है, तो-भी वह **स्वरूप-संबोधन** की पंचविंशतिका का अंग वैचारिक रूप से नहीं कहा जा सकता है। इसीलिए परम्परा में उसे मूल का अंग मानने की बात सम्भवतया नहीं रही होगी।

ग्रंथ के संपादन के समय कई बार हम वाचकों को कई अंश सीधे हटाने पड़े हैं तथा कई अंशों में परिवर्तन-परिवर्द्धन करने पड़े हैं, पर वहाँ भी मेरी ही नहीं, हम-सब की यह कोशिश रही है कि प्रवचनकार-टीकाकार के मंतव्य को कहीं क्षति न पहुँचे, इसीलिए हमने ऐसा करने से पहले बार-बार आचार्य-श्री से चर्चा की, फिर-भी यदि ऐसी कोई भूल हम से हो गई है, तो इसके लिए व्यक्तिशः मैं और वैसे हम-सब वाचक क्षमा-याचक हैं।

सामान्यतः किसी भी कृति के लिए एक प्रकाशक मिलना ही मुश्किल होता है। “स्वरूप-संबोधन-परिशीलन” का चमत्कार यह रहा कि इसके प्रकाशन के लिए एक नहीं अनेक प्रस्ताव सम्मुख थे, अब मुश्किल यह थी कि इसे किसे प्रकाशन के लिए दिया जाए? ऐसे मैं आचार्य-श्री व प्रस्तावित प्रकाशकों में प्रमुख— १. श्री दिगम्बर जैन समाज, सतना व श्री आजाद कुमार जैन, बीड़ी वाले, इन्दौर से चर्चा के उपरांत यह निर्णय लिया गया कि प्रकाशन सम्पादक के निर्देशन में हो और प्रकाशक के रूप में उक्त दोनों प्रस्तावकों को रखा जाए, तदनुसार यह ग्रंथ उक्त दोनों प्रस्तावकों के नाम से प्रकाशित होकर आप-सब तक पहुँच रहा है।

मूल श्लोकों की व्याख्या के अंत में जहाँ पृष्ठ पूरे नहीं हुए, वहाँ आचार्यों के वचन व आचार्य श्री विशुद्धसागर जी की कुछ सूत्र-रचनाओं से लिये गए विशुद्ध-वचन पृष्ठ-पूर्ति के लिए हमने दिए हैं, पर वे प्रसंग-सापेक्ष नहीं हैं, वे तो शाश्वत वचन हैं। प्रकाशन की जल्दी में प्रसंग-सापेक्ष-वचन नहीं दिये जा सके; पर आप देखेंगे कि वे शाश्वत वचन भी कम-महत्व के नहीं हैं.....।

मैं खासकर उन सभी पुण्यार्जकों का भी आभारी हूँ, जिन्होंने ग्रंथ के प्रकाशन में आर्थिक संसाधन जुटाए और मैं आभारी हूँ अपने परामर्शदाता संपादकों— डॉ. शीतलचन्द्र जी व डॉ. श्रेयांस कुमार जी तथा सहयोगी डॉ. श्रीरमण मिश्र और श्री आनन्दकुमार जैन व श्री प्रफुल्लकुमार जैन, जानकीपुरम् का भी, जिन्होंने अपना अमूल्य, या यूँ कहें कि बहु-मूल्य समय निकालकर प्रूफ सशोधन/संपादन के कार्य में मुझे सहयोग किया। अंत में मैं कम्प्यूटर टाइपिंगकर्ता श्री विकास जैन व मुद्रक शिवम् आर्ट को भी स्मरण इसलिए कर लेना चाहता हूँ कि उनके दत्त-चित्त-भाव से यह प्रकाशन असमय समय-पर हो पा रहा है और आप-सब के हाथों तक पहुँच पा रहा है। इसमें होने वाली अशुद्धियों व असावधानियों के लिए मैं व्यक्तिशः क्षमा-याची हूँ।

— वृषभ प्रसाद जैन

भूमिका

परम पूज्य आचार्य 108 श्री विशुद्धसागर मुनि महाराज अपनी 18 से अधिक कृतियों के विषय में जगत्प्रसिद्ध हो चुके हैं। ये लोकप्रिय कृतियाँ तरंगिणी, बोध-देशना, संचय, परिशीलन, बिन्दु, सिद्धान्त, भाष्य, अनुशीलन आदि के रूप में नव-लेखन-शैली की विलक्षणता लिये हुए हैं।

प्रस्तुत रचना **“स्वरूप-सम्बोधन-परिशीलन”** उनके आगम-ज्ञान की परिचायक है, जिसमें आचार्य अकलंकदेव की अध्यात्म से ओत-प्रोत कृति **“स्वरूप-संबोधन”** को विस्तृत रूप से जन-साधारण के लिए सरलता से ग्रहण करने योग्य बनाया गया है। आत्मा के आध्यात्मिक रूप को भी न्याय-शैली में जड़कर अकलंकदेव ने स्याद्वाद एवं अनेकान्त आदि का प्रयोग कर अध्यात्म के रसिक विद्वानों को भी न्याय की जटिलता में उलझा दिया है, —ऐसा कुछ-लोग कहते हैं। इसका परिशीलन आचार्यवर श्री विशुद्धसागर ने अभी-तक की इस ग्रंथ की उपलब्ध टीकाओं आदि से पर्याप्त आगे जाकर स्वयं विशुद्धि को ही परिलक्षित कराने में, सरल-भाषा का उपयोग करते हुए अलौकिक कृतित्व का परिचय दिया है। इसकी संधियों तक मात्र विद्वत्ता अपनी पहुँच नहीं रख सकती है, वरन् दिगम्बर जैन द्रव्य वा भाव लिंग धारण किये, साधना की गहराइयों में डूबे, आचार्य-श्री का ही यह सामर्थ्य है, जो श्री भट्ट अकलंक की हार्दिक सद्भावनाओं से हमें परिचित करा सके हैं।

अनेक शोधमय सामग्री के साथ **स्वरूप-सम्बोधन** का सम्पादन डॉ. सुदीप जी द्वारा 1995 में किया गया था। उन्होंने अनेक जैन भंडारों से इस ग्रंथ की हस्तलिपियाँ तथा प्रकाशित सामग्री संकलित करने का प्रशंसनीय कार्य किया था। मुख्यतः उन्हें ये प्रतियाँ श्रीमती रमारानी जैन शोध संस्थान, मूडबिद्री; जैन सिद्धान्त भवन, आरा; लक्ष्मीसेठ ग्रंथागार, कोल्हापुर; अखिल भारतीय जैन युवा फ़ैडरेशन; पण्डित टोडरमल ट्रस्ट, जयपुर से प्रकाशित **बृहज्जिनवाणी-संग्रह**; **सहजानन्द शास्त्रमाला** तथा मेरठ से प्रकाशित **क्षुल्लक श्री मनोहरलाल वर्णी ‘सहजानन्द’** के द्वारा प्रदत्त प्रवचन-रूप में प्राप्त हुई। इनके आधार पर सम्पादन एवं अनुवाद तथा विशेषार्थ के लिए उन्होंने निम्नलिखित पद्धति अपनायी है, जो निम्न क्रम में है—

1. कन्नड़ टीकाकार द्वारा प्रस्तुत उत्थानिका
2. संस्कृत टीकाकार द्वारा प्रदत्त उत्थानिका
3. मूलग्रंथ का पद्य (शीर्षक-रहित)
4. कन्नड़ टीका (महासेन पंडित देव)
5. केशववर्ण या केशववर्ण्य कृत संस्कृत-टीका
6. कन्नड़ टीका की उत्थानिका का हिन्दी-रूपान्तरण
7. संस्कृत टीका की उत्थानिका का हिन्दी-रूपान्तरण
8. मूलग्रंथ के पद्य का प्रति-पद हिन्दी अर्थ **‘खण्डान्वय’** शीर्षक के रूप में
9. तत्पश्चात् दोनों टीकाओं का हिन्दी-अनुवाद
10. अंततः विशेषार्थ, जिसमें मतार्थ, नयार्थ, आगमार्थ, भावार्थ आदि दृष्टि-बिन्दु अनुसार कथन है, तदनुसार अपेक्षित स्पष्टीकरण आगम-प्रमाण-पूर्वक किया गया है। अंत में चार परिशिष्ट दिये

गये हैं— पद्यानुक्रमणिका, शब्दानुक्रमणिका, संदर्भ-ग्रंथ-सूची, अज्ञातकर्तृक टिप्पण-सहित संस्कृत-टीका।

डॉ० सुदीप जी ने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह सामने रखा है कि **स्वरूप-संबोधन** के संस्कृत टीकाकार संभवतः **गोम्मटसार** की टीकाओं के कन्नड़ रचयिता **केशववर्णी** हो सकते हैं, जो ई. 1395 के लगभग हुए। उनकी गणितीय प्रतिभा देखते हुए उनकी समान रूप से न्याय में क्षमता कोई संदेह की बात नहीं है। **बरट्रेंड रसेल** ने गणित को प्रतीकबद्ध न्याय कहा है, तथा गणित और न्याय से सम्बद्ध विश्व में उन्होंने सर्वोच्च कोटि का साहित्य निर्माण कर **नोबेल पुरस्कार** प्राप्त किया था। राशि-सिद्धान्त का विकास 1864 से **जार्ज केण्टर** द्वारा हुआ, जिसमें अनेक विरोधाभास उपस्थित किये गये तथा गणित और न्याय से संबंधित फाउन्डेशनस का प्रारम्भ हुआ और गणितीय दर्शन की अभूतपूर्व निधि ने सभी दर्शनों को मात्र इतिहास की वस्तु बना दिया।

आचार्य श्री विशुद्धसागर जी ने इस **स्वरूप-संबोधन** ग्रंथ का परिशीलन कर इसे एक मौलिक, अभूतपूर्व कृति के रूप में उपस्थापित किया है। उन्होंने मंगलाचरण, उत्थानिका, शंका-समाधान-शैली में प्रस्तुत करते हुए मंगल-भावना भायी है कि यह आराधना रूप में है। अध्यात्म के अ-स्पर्शी, तल-स्पर्शी, आत्म-स्पर्शी रूप हैं। उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा को विशेष महत्त्व देते हुए अत्यंत विनयशील भावों को सम्यक्-ढंग से स्तुति रूप में प्रस्तुत किया है। तत्पश्चात् उनका परिशीलन खण्ड प्रारम्भ होता है। ग्रंथराज के परिशीलन का उद्देश्य इसप्रकार है— “मेरी दृष्टि में, मनीषियो! प्रत्येक प्रज्ञ-पुरुष को इस ग्रंथराज का अध्ययन अनेक बार ही नहीं, जीवन के क्षण-क्षण में करना चाहिए। ... यह काष्ठ-आत्मारियों की शोभा बढ़ाने के लिए नहीं है, अपितु प्रत्येक हंसात्माओं के हृदय-मंदिर में स्थापित करने हेतु है।” षड्दर्शनों का खण्डन करते हुए उन्होंने सरल शब्दों में विशुद्धि-रूप अतिशय पुण्यार्जन करने का मार्ग प्रशस्त एवं प्रोज्ज्वल किया है।

अनेक ग्रंथों से उद्धरण देते हुए उन्होंने अपने सम्यक् पक्ष को, परिशीलन को पद-पद पर पुष्ट किया है। केवल मंगल से सम्बन्धित आचरण पर उनकी धारा-प्रवाह लेखनी अनेक पृष्ठों तक जाकर भव्य श्रावकों के हृदय में दृढ़ता और निश्चलता उत्पन्न कर देती है, जो सम्यक्त्व-निधि से भरपूर है।

अनेकान्त व स्याद्वाद शैली को अत्यन्त सरल रूप में सोदाहरण समझाते हुए आचार्य श्री विशुद्धसागर इसप्रकार निवेदित करते हैं— “(अकलंकदेव) आचार्य-प्रवर ने जगत् में मोक्ष स्वीकारने वालों को एक नया चिन्तन दिया है। अनेकान्त-दृष्टि से आत्मा मुक्त-अवस्था में सर्वथा मुक्त ही नहीं है, अपितु अमुक्त भी है; परन्तु ध्यान-रखना— एकान्त से अमुक्त भी नहीं हैं, यदि सर्वथा अमुक्त ही स्वीकारेंगे, तो-फिर आत्मा सर्वथा, सर्वदा कर्म-कलंक से युक्त ही रहेगा और मोक्ष का अभाव हो जाएगा। इसीलिए मनीषियों को मोक्ष-तत्त्व पर अनेकान्त-दृष्टि से ही विचार करना चाहिए।”

इसप्रकार आचार्य श्री विशुद्धसागर जी ने बालकों के समान भव्य-जीवों के परिणामों को अविचल, निश्चयी एवं व्यावहारिक दृढ़ता तथा निश्चलता के प्रांगण में उतारने का अद्भुत उपक्रम किया है। जटिल पारिभाषिक, न्याय के शब्दों वा पदों को स्पष्ट करने की उनकी शैली अभूतपूर्व है तथा हृदय में परिवर्तन लाने में सक्षम है। यही कारण है कि उनकी प्रत्येक कृति सम्यक्त्व-जनक रूप में प्रभाव डालते हुए लोकप्रियता की ओर बढ़ती चली जा रही है।

“हाथ कंगन को आरसी क्या?” पाठक स्वयं ही आचार्य-श्री के ग्रंथ को पढ़ने पर उसे आद्योपान्त समाप्त होने तक एक-विशेष प्रकार का स्व-संवेदन, आह्लाद, आनन्द का अनुभव करेंगे। इसमें ताल है, लय है, स्वरों का यथोचित विचरण है, संगीत है— जो मूक होते हुए भी युगों-युगों तक के लिए गायन की ओर मोड़ देता है, जहाँ सम्यक्त्वादि के झरने फूट पड़ते हैं।

आचार्य अकलंकदेव का जीवन-वृत्त—

नेमिदत्त के आराधना-कोष में निम्नप्रकार का विवरण मिलता है—

मान्यखेट के राजा शुभतुंग थे, जिनके मंत्री का नाम पुरुषोत्तम था। पद्मावती मंत्री की पत्नी थी, जिनके दो पुत्र उत्पन्न हुए— अकलंक और निकलंक। अष्टाहिनका महोत्सव के प्रारम्भ में पुरुषोत्तम मंत्री सकुटुम्ब रविगुप्त नामक मुनि के दर्शनार्थ गये और वहाँ उन्होंने पुत्रों सहित आठ दिनों का ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण किया। युवावस्था होने पर पुत्रों ने विवाह करने से इंकार कर दिया और विद्याध्ययन में संलग्न हो गये। उस समय बौद्धधर्म शिखर पर था, अतः वे दोनों महाबोधि विद्यालय में बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन करने लगे।

एक दिन गुरु महोदय शिष्यों को सप्तभंगी सिद्धान्त समझा रहे थे, पर पाठ अशुद्ध होने के कारण वे उसे ठीक-से नहीं समझा सके। गुरु के कहीं जाने पर अकलंक ने उस पाठ को शुद्ध कर दिया, जिससे गुरु जी को उन पर उनके जैन होने का सन्देह हो गया। (कहा जाता है कि छात्रों से जिन-प्रतिमा को लौंघने को कहा गया, किन्तु दोनों भाई उस पर धागा डाल कर लौंघ गये। तत्पश्चात् एक भयंकर आवाज बर्तनों को गिराने से उत्पन्न की गई, जिससे भयभीत होकर दोनों भाई णमोकार मंत्र का उच्चारण करने से जैन प्रमाणित हो गये)। अतएव उन दोनों को कारागृह में बंद कर दिया गया, किन्तु किसी उपाय से वे कारागृह से भाग निकले। बौद्धों ने उन्हें पकड़ने हेतु घुड़सवार सैनिक चारों ओर दौड़ाये। अपने प्राणों की रक्षा हेतु दोनों एक सरोवर में छिप गये, किन्तु छोटा भाई बाहर आकर एक धोती साथ लेकर भागा, जिससे अकलंक के प्राणों की रक्षा हो सके। उन्हें घुड़सवारों ने कत्ल कर दिया और अकलंक को अवसर मिला कि वे अब जैनधर्म की प्रभावना करें।

कलिंग देश के रतनसंचयपुर का राजा हिमशीतल था। उसकी रानी मदन सुन्दरी जिनधर्म-भक्त थी। वह जैन रथ सोत्साह निकलवाना चाहती थी, परन्तु बौद्धगुरु तभी रथ निकलवाने की अनुमति देता, जब उसे कोई शास्त्रार्थ में परास्त कर देता। जब अकलंक को यह जानकारी मिली, तो वे राजा हिमशीतल की सभा में गये और बौद्धगुरु को शास्त्रार्थ हेतु चुनौती दी। दोनों में छः माह तक परदे के भीतर शास्त्रार्थ होता रहा, किन्तु अकलंक को आश्चर्य हुआ और उन्होंने परदे के भीतर का रहस्य जानना चाहा। (उन्हें **कुष्माण्डिनी देवी** ने स्वप्न में बताया कि परदे की ओट में तारादेवी स्थापित की गयी हैं, जो जवाब देती हैं। यदि किसी प्रश्न को दूसरी बार पूछा जाये, तो वह उत्तर न दे सकेंगी।) निदान के अनुसार अकलंकदेव ने शासन-देवता की कृपा से स्थापित तारादेवी के घट को फाड़कर बौद्धगुरु को परास्त किया, जिसके परिणामतः वहाँ जैन रथ निकाला गया।

राजवलि कथे के अनुसार शास्त्रार्थ 17 दिनों तक चला और शर्त यह थी कि जो हारेगा, उस सम्प्रदाय के सभी लोगों को कोल्हू में पिलवा दिया जाएगा। अकलंक को **कुष्माण्डिनी देवी** ने स्वप्न

में दर्शन देकर कहा था कि तुम अपने प्रश्नों को प्रकारान्तर से उपस्थित करने पर जीत जाओगे।

अकलंक ने *मल्लिषेण-प्रशस्ति* के अनुसार *राष्ट्रकूट वंशी* राजा *साहसतुंग* की सभा में सम्पूर्ण बौद्ध विद्वानों को पराजित किया। फलतः दिग्विजयी शास्त्रार्थी विद्वान् *अकलंक* को *विद्यानन्द* ने *सकल-तार्किक चक्र-चूड़ामणि* कहा है। *धनञ्जय* की नाममाला में *अकलंक* का *प्रमाण*, पूज्यपाद का व्याकरण और *धनञ्जय* कवि का काव्य, इत्यादि इन तीनों को अपश्चिमरत्न कहा है।

पं. कैलाशचंद्र शास्त्री के अनुसार *अकलंक* का समय 620—680 ईस्वी सन् तथा पं. महेन्द्रकुमार के अनुसार यह समय ईस्वी सन् 720—780 निर्धारित किया गया है। *जिनसेनाचार्य* ने *आदिपुराण* में उनके सम्बन्ध में श्लोक दिया है। यथा—

भट्टाकलंकश्रीपालपात्रकेसरियाणां गुणाः।

विदुषां हृदयारूढाः, हारायन्तेऽतिनिर्मलाः॥ 1—53॥

आचार्य श्री *अकलंकदेव* द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रंथ उपलब्ध होते हैं—

1. *तत्त्वार्थसूत्र* की टीका के रूप में *सविवृति-राजवार्तिक*
2. *आप्त-मीमांसा* की टीका के रूप में *अष्टशती (देवागम-विवृति)*
3. न्याय ग्रंथों में
 - अ. *लघीयस्त्रय-सविवृति*
 - ब. *न्याय-विनिश्चय-सविवृति*
 - स. *सिद्धि-विनिश्चय*
 - द. *प्रमाण-संग्रह*
 - इ. *न्याय-चूलिका*
4. अध्यात्म ग्रंथ के रूप में *स्वरूप-संबोधन*
5. *बृहत्त्रयम्*
6. पूजा-पाठ के रूप में *अकलंक-स्तोत्र*

ये सभी ग्रंथ संस्कृत भाषा में हैं। इन ग्रंथों में प्रयुक्त शैली गूढ़ एवं शब्दार्थ-गर्भित है अर्थात् वह जिस विषय को भी ग्रहण करते हैं, उसका गम्भीर और अर्थपूर्ण वाक्यों द्वारा विवेचन करते हैं। इससे कम-से-कम शब्दों में अधिकतम विषय का निरूपण हो जाता है। इन रचनाओं से उनका सम-सामयिक षड्-दर्शनों का सूक्ष्म चिन्तन स्पष्ट हो जाता है। यह उनके अतल व तलस्पर्शी ज्ञान का परिचय देता है। साथ ही उनकी रचनाओं में अर्थ की गांभीर्यता, व्यंग्य की सरसता, दर्शन में भी साहित्य-जैसी प्रतीति स्पष्ट होती है।

उनकी प्रतिभा असाधारण थी, जिससे वे कठिन-से-कठिन विषय को सरल रूप से प्रस्तुत कर देते थे। उनकी कारिकाएँ सामान्यतः अनुष्टुप छन्दों में लिखी गयी हैं, किन्तु उन्हें शार्दूल विक्रीडित और स्रग्धरा छन्द भी विशेष प्रिय हैं। न्याय के प्रकरणों में उद्देश्य-निर्देशक और उपसंहारात्मक पद्यों में इन छन्दों का प्रयोग पाया गया है। उन्होंने मंगलाचरण के पद्यों में अलंकारों का सुंदर नियोजन भी किया है। इसीप्रकार अनुप्रास, यमक आदि अलंकार भी इन ग्रंथों में प्रयुक्त हुए हैं। शैली भी धर्मकीर्ति के सदृश है।

आचार्य श्री विशुद्धसागर जी ने भट्ट आचार्य श्री अकलंकदेव जी के अध्यात्म-ग्रंथ "स्वरूप-सम्बोधन" का परिशीलन प्रस्तुत किया है। यह एक अत्यंत गम्भीर अध्ययन की वस्तु है, क्योंकि अध्यात्म में न्याय का प्रयोग एक असाधारण प्रतिभा का कार्य है। यह परिशीलन भी न्याय के गहन पारिभाषिक शब्दों को लेकर हुआ है, अतः न्याय के विषय में भूमिका प्रस्तुत करना आवश्यक हो जाता है।

जैनधर्म का प्रवर्तन 24 तीर्थकरों द्वारा हुआ, जो वैदिक एवं बौद्ध धर्मों से पृथक् एवं स्वतंत्र धर्म के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इसका मूलाधार कर्मसिद्धान्त, तत्त्वनिरूपण एवं विशिष्ट आध्यात्मिकता है। इसका उल्लेख अकलंकदेव जी ने "लघीयस्त्रय" के 'मंगलाचरण' के पद्य में किया है।

द्वादशांग श्रुत में तीर्थकर महावीर ने जहाँ धर्म का उपदेश दिया, वहाँ दर्शन और न्याय का भी उपदेश दिया। इन तीनों में भेद करते हुए उन्होंने बताया कि मुख्यतया आचार का नाम धर्म है और धर्म का जिन विचारों के द्वारा समर्थन एवं संपोषण किया जाता है, वे विचार दर्शन हैं। जब धर्म के संपोषण के लिए प्रस्तुत विचारों को युक्ति-प्रतियुक्ति, खंडन-मंडन, प्रश्न-उत्तर एवं शंका-समाधान-पूर्वक दृढ़ किया जाता है, तब वह न्याय है।

दृष्टिवाद अंग में जैनदर्शन और न्याय के उद्गम के पर्याप्त बीज मिलते हैं। आचार्य भूतबली और पुष्पदंत द्वारा निबद्ध षट्खंडागम में जो दृष्टिवाद अंग का अंश रूप है, 'सिया पज्जत्ता', 'सिया अपज्जत्ता', 'मणुस अपज्जत्ता दव्वपमाणेण केवडिया', 'असंखेज्जा' आदि-जैसे 'सिया' (स्यात्) शब्द और प्रश्नोत्तर-शैली में किये अनेक वाक्य पाये जाते हैं। अकलंकदेव तो कहते हैं कि ऋषभ से लेकर महावीर-पर्यन्त सभी तीर्थकर स्याद्वादी हैं।

बौद्ध परम्परा के प्रचण्ड न्यायशास्त्री धर्मकीर्ति ने जब स्याद्वाद और अनेकान्त पर अनेक दूषणों का आरोप किया, तब अकलंक देव ने उनका सयुक्तिक परिहार किया। उनका महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि जैन दर्शन एवं जैन न्याय के जिन आवश्यक तत्त्वों का विकास और प्रतिष्ठा उनके समय तक नहीं हो सकी थी, उन्हें उन्होंने विकसित तथा प्रतिष्ठित किया। उन्होंने अपने चारों तर्क-ग्रंथों में अन्य दार्शनिकों की एकान्त-मान्यताओं और सिद्धान्तों की कड़ी तथा मर्म-स्पर्शी समीक्षा की। उन्होंने जैनदर्शन में मान्य प्रमाण, नय, निक्षेप के स्वरूप, भेद, लक्षण, प्रमाण-फल का विवेचन किया। प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष के सिवाय सांव्यावहारिक और मुख्य प्रकारों की प्रतिष्ठा, परोक्ष-प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम आदि भेदों का निर्धारण, उनकी सयुक्तिक सिद्धि व लक्षणों का प्रणयन किया। इन्हीं परोक्ष भेदों में उपमान, अर्थापत्ति, संभव, अभाव आदि अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाणों का अंतर्भाव किया। सर्वज्ञ की विविध युक्तियों से विशेष सिद्धि की, अनुमान के साध्य-साधन-अंगों के लक्षण और भेदों का विस्तृत निरूपण किया। इसके लिए हेतु, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि अनिवार्य नये हेतुओं को प्रतिष्ठित किया। अन्यथानुपत्ति के अभाव से एक अकिंचित्कर नामक हेत्वाभास को स्वीकार किया। उसके भेद रूप से असिद्धादि हेत्वाभासों का प्रतिपादन किया। जय-पराजय के निर्णय की व्यवस्था की। साथ ही दृष्टान्त, धर्मों, वाद, जाति और निग्रह-स्थान के स्वरूप को नया रूप दिया। इसी कारण से अकलंक देव को मध्यकालीन जैनदर्शन व जैनन्याय का प्रतिष्ठाता कहा जाता है।

‘जिन’ के द्वारा उपदिष्ट-दर्शन जैनदर्शन है, जिसके प्रमुख अंग इसप्रकार हैं— द्रव्यमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, पदार्थमीमांसा, पंचास्तिकायमीमांसा, अनेकान्तविमर्श, स्याद्वाद-विमर्श, सप्तभंगीविमर्श। इनका विस्तृत विवरण अनेक ग्रंथों में उपलब्ध है।

‘न्याय’ शब्द की व्युत्पत्ति है— “नीयते परिच्छिद्यते वस्तु तत्त्वं येन स न्यायः”। यह वह विद्या है, जिसके द्वारा वस्तु के स्वरूप को निर्णीत किया जाये। न्याय-विद्या को ‘अमृत’ भी कहा जाता है, क्योंकि न्यायविद्या अमृत के समान तत्त्वज्ञान प्राप्त कराकर आत्मा को अमर बना देती है। जैन आगमों के तत्त्वज्ञान की उपलब्धि न्यायविद्या के बिना दुर्लभ बतलाई गयी है। षट्खंडागम में श्रुत के पर्याय नामों को उल्लेखित करते हुए इसका एक नाम हेतुवाद भी दिया है। इसका अर्थ हेतुविद्या, न्यायविद्या, तर्कशास्त्र, और युक्तिशास्त्र कहा गया है।

तर्कशास्त्र में परोक्ष-प्रमाण के पाँच भेद माने गये हैं— स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। अनुमान के साध्य और साधन दो अंग होते हैं। साधन वह है, जिसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित है। अविनाभाव दो प्रकार का है— सह-भाव-नियम और क्रम-भाव-नियम। इन दोनों प्रकार के अविनाभावों से विशिष्ट हेतु के भेदों का कथन न्यायशास्त्र में विस्तार रूप से वर्णित है। जैनन्याय ग्रंथों में अनुमान के दोषों पर भी चिन्तन किया गया है। इन्हें आभासों के रूप में क्रमशः—पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास वर्णित किया गया है।

ध्यान रहे कि अकलंक देव ने पक्षाभास के सिद्ध और बाधित प्रचलित भेदों के अतिरिक्त तीसरा पक्षाभास “अनिष्ट” भी प्रतिष्ठित किया है।

प्रमाण की भाँति नयों की विवक्षा भी गम्भीर है। इसतरह इन दोनों पर “प्रमाणनयैरधिगमः” सूत्र के आधार पर जैनन्याय का विशाल, भव्य भवन निर्मित हुआ है।

भट्ट अकलंक के पूर्व जैनन्याय में पारंगत आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य उमास्वामी, स्वामी समंतभद्र, सिद्धसेनाचार्य, श्रीदत्ताचार्य, स्वामी पात्रकेसरी, मल्लवादी और सुमति हुए हैं। कुन्दकुन्दाचार्य से लेकर सुमति आचार्य तक की दिगम्बर जैन परम्परा में जो दार्शनिक तत्त्वज्ञानी हुए, उन्होंने प्रमाण की रूपरेखा आगमिक शैली से निर्धारित की। उनका ध्यान मुख्य रूप से अनेकान्तवाद या स्याद्वाद और उसके फलितार्थ सप्तभंगीवाद और नयवाद की स्थापना तथा विवेचन की ओर ही केन्द्रित रहा। इसप्रकार जैनदर्शन को अनेकान्त-दर्शन के रूप में देखा जाने लगा। इसका प्रमुख श्रेय आचार्य समन्तभद्र को जाता है, जिनके स्तुति आदि रूपों में गहन व विस्तृत विवेचन के पश्चात् भी नयी विद्या सामने न आ सकी। न्यायावतार भी इस स्थिति से आगे न बढ़ सका। यद्यपि न्याय शास्त्र के एक-एक अंग से संबंधित “अल्प-निर्णय” और “त्रिलक्षण-दर्शन”—जैसे ग्रंथ रचे गये, किन्तु वे पूर्व-भूमिका रूप ही थे, किन्तु उनमें दिङ्नाग के न्याय-प्रवेश और प्रमाण-समुच्चय-जैसे तथा धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु, प्रमाणवार्तिक-जैसे ग्रंथों की संपूर्ण रूपरेखा उपलब्ध नहीं होती थी।

भट्ट अकलंक देव का पराक्रम—

भट्ट अकलंकदेव के विशाल अंशदान हेतु हम इसकी पूर्व पीठिका प्रस्तुत करना आवश्यक मानते हैं। न्यायशास्त्र को तर्कशास्त्र, हेतुविद्या और प्रमाणशास्त्र भी कहा जाता है, किन्तु इसका प्राचीन नाम आन्वीक्षिकी है। संकट अथवा आनन्द में यह विद्या बुद्धि को स्थिर रखते हुए प्रज्ञा, वचन और कर्म

को निपुण बनाती है। कौटिल्य ने इस विद्या को सभी विद्याओं का प्रदीप और सभी धर्मों का आधार बताया है। जैनाचार्य श्री सोमदेव ने इस विद्या को हेतुओं द्वारा कार्यों के बलाबल का विचार करने वाली बतलाया। मनुस्मृति में आन्वीक्षिकी को आत्म-विद्या कहा है। इसप्रकार 'न्याय' शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार इसके द्वारा वस्तु-तत्त्व का निश्चित और निर्बाध ज्ञान होता है।

न्यायदर्शन का उद्भव अन्य प्राचीन दर्शनों से अर्वाचीन है। जब नागार्जुन की कृति में न्यायदर्शन के सिद्धान्त को अमान्य किया गया, तो असंग और वसुबंधु ने न्यायशास्त्र की ओर ध्यान देकर तर्कशास्त्र पर तीन प्रकरण लिखे। उसी बौद्ध-सम्प्रदाय में इसके पश्चात् दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने न्यायशास्त्र को यथार्थ रूप में मान्यता देकर बौद्धन्याय को प्रतिष्ठित किया। उन्हीं के पश्चात् जैन परम्पराओं में जैनन्याय के प्रस्थापक श्री अकलंकदेव का उदय हुआ।

भट्ट अकलंकदेव के पूर्व का न्याय-सम्बन्धी अभ्युदय इसप्रकार है। तेइसवें तीर्थंकर ऐतिहासिक महापुरुष भगवान् पार्श्वनाथ के 250 वर्ष पश्चात् भगवान् महावीर हुए, जिनकी वाणी को प्रथम गणधर गौतम ने ग्यारह अंगों में स्व-समय का प्रतिपादन किया, किन्तु बारहवें दृष्टिवाद में 363 दृष्टियों का जो निराकरण था, वह लुप्त हो गया। ईसा की द्वितीय शताब्दी के लगभग आचार्य कुन्दकुन्द हुए, जिन्होंने ज्ञान की स्व-पर-प्रकाशकता को मान्यता दी। उन्होंने 'सर्वज्ञ' शब्द का उपयोग न कर निश्चय-दृष्टि से नयी व्याख्या की। यथा—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं ।

केवली णाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ।।

— नियमसार, 158

उनके उत्तराधिकारी आचार्य उमास्वामी ने "प्रमाणनयैरधिगमः" तत्त्वार्थसूत्र 1/6 के द्वारा प्रमाण और नय को समान स्थान दिया। उनके पश्चात् प्रसिद्ध स्तुतिकार स्वामी श्री समन्तभद्र हुए, उन्होंने एक ओर अपने इष्टदेव की स्तुति के ब्याज से हेतुवाद के आधार पर सर्वज्ञ की सिद्धि की तथा दूसरी ओर विविध एकान्तवादों की समीक्षा करके अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की। उनके ग्रंथों में अनेकान्तवाद के फलितवाद नय और सप्तभंगी का भी निरूपण है। सर्वप्रथम उन्होंने ही सर्वज्ञता की सिद्धि में अनुमान का उपयोग किया (समय लगभग 400 ई.)। यथा—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः ।।

— आप्तमीमांसा, 5

सर्वज्ञता की इस मान्यता को कुमारिल भट्ट ने दोषपूर्ण बतलाया, जिसका परिमार्जन श्री अकलंकदेव द्वारा न्यायविनिश्चय में किया गया।

इसप्रकार आचार्य श्री समन्तभद्र ने अनेकान्तवाद, उसका फलित सप्तभंगीवाद, अनेकान्त की योजना, प्रमाण का दार्शनिक लक्षण व फल बतलाया; स्याद्वाद की परिभाषा स्थिर की; श्रुतप्रमाण को स्याद्वाद और विशकलित अंशों को नय कहा तथा सुनय और दुर्नय की व्यवस्था की। सात भंगों का उपपादन उन्होंने इसप्रकार किया—

विधिर्निषेधोऽनभिलाष्यता च त्रिरेकशस्त्रिद्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधामी स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥

— युक्त्यनुशासन, 45

उन्होंने नय-विवक्षा इसप्रकार की—

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितिह ते ॥

— स्वयंभूस्तोत्र, श्लो. 101

आचार्य सिद्धसेन की कृतियों में “सन्मति-तर्क” महत्त्वपूर्ण है; इसमें नयवाद और सप्तभंगीवाद की चर्चा मुख्य है; दूसरे काण्ड में ज्ञान और दर्शन की मीमांसा है। श्वेतांबर-आगम में केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की उत्पत्ति क्रम से मानी गयी है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा में इन दोनों की उत्पत्ति युगपद मानी गयी है। इन दोनों मतों के सामने सिद्धसेन ने तर्क के आधार पर अभेदवाद की स्थापना कर निश्चय सिद्धि की है। तीसरे काण्ड में अनेकान्तदृष्टि से ज्ञेय-तत्त्व की चर्चा प्रधान रूप से है। समन्तभद्र की शैली का अनुगमन करते हुए उन्होंने सामान्यवाद, विशेषवाद, अस्तित्ववाद, नास्तित्ववाद, आत्म-स्वरूप-वाद, द्रव्य और गुण का भेदाभेदवाद, तर्क और आगमवाद, कार्य और कारण का भेदाभेदवाद, काक आदि पाँच कारणवाद, आत्मा-विषयक नास्तित्व आदि छह और अस्तित्व आदि छह वाद, इत्यादि विषयों का निरूपण करते हुए गुण-दोष बतलाये हैं। उन्होंने पर्यायार्थिक नय की भाँति गुणार्थिक नय को भिन्न मानने की जो चर्चा उठायी, उसे श्री अकलंक देव ने *तत्त्वार्थवार्तिक* में रखा है। उन्होंने बतलाया—“जितने वचनों के मार्ग हैं, उतने ही नयवाद हैं। जितने नयवाद हैं, उतने ही पर-समय हैं।” इसप्रकार आचार्य श्री सिद्धसेन ने अनेकान्त दृष्टि के फलितवाद, सप्तभंगी और नयों का निरूपण कर जैनन्याय को परिपुष्ट किया। *सन्मति-तर्क* के अतिरिक्त बाइस बत्तीसियों (जिनमें *न्यायावतार* भी शामिल हैं) को भी श्री सिद्धसेन की कृति माना जाता है।

उनके पश्चात् आचार्य श्रीदत्त को “*जल्प-निर्णय*” ग्रंथ का रचयिता माना जाता है तथा उनकी वाद-शास्त्री के रूप में मान्यता है।

उनके बाद स्वामी श्री पात्रकेसरी की प्रसिद्धि को जिनसेनाचार्य ने निम्नप्रकार से शिलालेख में उल्लिखित किया है—

महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत् ।

पदमावती-सहायाः त्रिलक्षणकदर्शनं कुर्वम् ॥

उन्होंने बौद्ध-दार्शनिकों के त्रैरूप्य या त्रिलक्षण का खण्डन करने के लिए *त्रिलक्षणकदर्शन* नामक शास्त्र की रचना की। वे सम्भवतः ईसा की पाँचवी सदी के बाद हुए। उनके पश्चात् मल्लवादी तथा सुमति हुए। मल्लवादी द्वारा रचित ग्रंथों में केवल “*नय-चक्र*” ही आज उपलब्ध है, जो सिंहसूरि-गणि-रचित टीका के रूप में ही प्राप्य है। सुमति द्वारा *सन्मति-तर्क* पर विवृति रचने का उल्लेख मिलता है। उन्हें *सप्तक* का रचयिता भी कहा है।

खण्डन-मण्डन के ऐसे चतुरांग में श्री भट्टाकलंक ने अपने से पूर्व हुए जैनन्याय के विविध-रूपों का आकलन किया व उन्होंने यह आवश्यक समझा कि जैन परम्परा के सभी तत्त्वों का निरूपण तार्किक-शैली से संस्कृत-भाषा में ठीक वैसा ही होना चाहिए, जैसा वैदिक एवं बौद्ध-परम्परा में बहुत पहले हो चुका था। उन्होंने ब्रह्मचर्य-व्रत-धारण कर बौद्ध-दर्शनादि के परम्परागत-ज्ञान का गहन अध्ययन किया, तथा बौद्ध-परम्परा में धर्मकीर्ति और अन्य प्रखर-तार्किकों की शैली आदि को तथा ब्राह्मण-परम्परा के कुमारिल-भट्ट-जैसे उद्भट विद्वानों के समसामयिक न्याय-विषयक ज्ञान वा विद्या का गम्भीर अध्ययन किया। उक्त दोनों उद्भट विद्वानों ने अपनी कृतियों में जैन-परम्परा के न्याय-ज्ञान का खण्डन भरपूर किया था। अकलंक ने उस चुनौती को स्वीकार कर उनके खण्डन तथा जैन-न्याय के मण्डन हेतु जो अकथ-प्रतिभा से ग्रंथ रचे, उनके विषय में पं. सुखलाल संघवी लिखते हैं—

“अकलंक ने न्याय-प्रमाण-शास्त्र का जैन-परम्परा में जो प्राथमिक-निर्माण किया, जो परिभाषाएँ, जो लक्षण व परीक्षण किया, जो प्रमाण, प्रमेय आदि का वर्गीकरण किया और परार्थानुमान तथा वाद, कथा आदि पर-मत प्रसिद्ध वस्तुओं के सम्बन्ध में जो प्रणाली स्थिर की, संक्षेप में अब-तक जैन-परम्परा में वह नहीं थी, पर अन्य-परम्पराओं में प्रसिद्ध ऐसे तर्क-शास्त्र के अनेक पदार्थों को जैन-दृष्टि से जैन-परम्परा में जो स्वात्मभाव-किया तथा आगम-सिद्ध अपने मन्तव्यों को जिस तरह दार्शनिकों के सामने रखने-योग्य बनाया, वह-सब छोटे-छोटे ग्रंथों में विद्यमान उनके असाधारण व्यक्तित्व का तथा न्याय-प्रमाण-स्थापना-युग का द्योतक है।”

अकलंक देव का पुरुषार्थ उन्हीं के न्याय-विनिश्चय के प्रारम्भिक श्लोक से प्रकट हो जाता है। यथा—

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः।

माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः।।

न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते।

सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः।।

उनके समय शास्त्रार्थों की धूम थी। उनमें युक्तियों के साथ छल, जाति और निग्रह-स्थान-जैसे शस्त्रों का भी प्रयोग किया जाता था। उनके संचालन में निपुणता पाये बिना विजय पाना असम्भव था; परन्तु जो सामग्री श्री अकलंक देव को उत्तराधिकारी-रूप में प्राप्त हुई थी, वह अपर्याप्त थी, तथा न्याय के शोधन एवं अन्याय के परिमार्जन हेतु अनेकान्तवाद एवं अहिंसावाद का अवलम्बन लेते हुए सात्त्विक उपायों को परिपुष्ट करने की आवश्यकता थी, जिसे उन्होंने प्राण-पण से निभाया।

अकलंकदेव ने प्रत्यक्ष-प्रमाण के विकल-प्रत्यक्ष और सकल-प्रत्यक्ष भेदों के स्थान में सांव्यवहारिक-प्रत्यक्ष और मुख्य-प्रत्यक्ष भेद किये। उन्होंने इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मति-ज्ञान को सांव्यवहारिक-प्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष के अन्तर्गत सम्मिलित कर दिया। इस परिवर्तन से जैन-प्राचीन-परम्परा को भी क्षति नहीं हुई, और विपक्षियों को भी क्षोद-क्षेम करने का अवसर नहीं रहा। सांव्यवहारिक का अर्थ होता है— पारमार्थिक नहीं, अर्थात् व्यावहारिक रूप से इन्द्रिय-ज्ञान प्रत्यक्ष है, परमार्थ से वह परोक्ष ही है। उन्होंने आचार्य श्री समन्तभद्राचार्य के प्रमाण और फल सम्बंधी

भेदाभेद विषयक मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा आदि क्रमशः होने वाले चार मति-ज्ञानों में पूर्व-पूर्व को प्रमाण तथा उत्तर-उत्तर ज्ञान को फल-रूप माना, जिससे प्रमाण-तत्त्व के स्वरूप, संख्या, विषय और फल के सम्बन्ध में विविध विप्रतिपत्तियों का निरसन होने से प्रमाण-शास्त्र सुव्यवस्थित हो गया।

वाद के एक अंग जय-पराजय की व्यवस्था में भी श्री अकलंक देव ने न्याय के अहिंसक दृष्टिकोण को महत्त्वपूर्ण मानते हुए कहा कि स्व-पक्ष की सिद्धि की जय है, और दूसरे पक्ष की असिद्धि ही उसकी पराजय है। उनका *तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य तत्त्वार्थसूत्र*-ग्रंथ पर श्री उद्योतकर के ग्रंथ *न्याय-वार्तिक* की शैली का अनुसरण है। यह व्याख्या-सहित वार्तिक-ग्रंथ है। प्रथम, पंचम एवं चतुर्थ अध्याय की व्याख्या में श्री अकलंक देव ने अनेकान्त की सिद्धि करते हुए सप्तभंगी का विशद विवेचन किया है। उन्होंने “अनेकान्तवाद न संशयवाद है, न ही छलवाद है” का संयुक्तिक विवेचन किया है। उन्होंने सांख्य, न्याय, वैशेषिक तथा बौद्धों के मोक्ष के कारणों का निराकरण किया, जिसमें बौद्धों का प्रतीत्यसमुत्पादवाद भी है। उनका विस्तृत और गम्भीर अध्ययन इस तथ्य से प्रकट होता है कि उन्होंने *पातंजल महाभाष्य, वाक्यपदीय, न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, जैमिनिसूत्र, योगसूत्र, सांख्यकारिका, अभिधर्मकोश, प्रमाणसमुच्चय, मतान्तरसिद्धि* आदि अनेक दर्शन-ग्रंथों के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। उनके *अष्टशती*-ग्रंथ पर आचार्य विद्यानंद की *अष्टसहस्री-टीका* है, जिसे कष्टसहस्री भी कहा जाता है।

स्वरूप-सम्बोधन के परिशीलन के प्रारम्भ में आचार्य कुन्दकुन्द के *समयसार* का उद्धरण दिया है—

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थसुंदरो लोए।

बंधकहाएयत्ते तेण विसंवादिणी होई।।३।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।

एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।४।।

इसप्रकार उस एकत्व-विभक्त स्वरूप को सम्बोधित करने को तत्पर हो, उन्होंने सावधान किया कि यदि उसे लख लो, तो पार हो जाओगे और यदि न लख सको, तो उसे छल या भ्रम रूप में ग्रहण कर लेना। आचार्य विशुद्धसागर ने परिशीलन शब्द क्यों चुना?.... परिशीलन “शील” शब्द से बना है, जिसका अर्थ-ध्यान, भावना, सेवा, पूजा, क्रियान्वयन, अभ्यास, अति-लग्न से लगे रहना, संस्कार में डाल लेना, पुनः-पुनः अभ्यास-रत रहना आदि है। परिशील का अर्थ व्यवहार तथा उपयोग में बहुधा लाना, बारंबार सुव्यवहार में लाना, स्मृति में बनाये रखना, संसर्ग-सम्पर्क में रहना, पीछे लगे रहना, निरन्तर अध्यवसाय में लगाना, अध्ययन में लगे रहना आदि होता है। इसीप्रकार परिशीलन का बोध होता है।

हम यहाँ *स्वरूप-सम्बोधन* की गाथा ४ पर उनके परिशीलन को प्रस्तुत करेंगे। शिष्य जिज्ञासा करता है—“यह आत्मा विधि-रूप है या निषेध-रूप है। मूर्तिक है या अमूर्तिक है?” परिशीलन इसप्रकार है— (कोष्ठक के शब्द प्रस्तावक के हैं)–

“भट्ट-अकलंक-स्वामी यहाँ पर पदार्थ की उभयरूपता का कथन कर रहे हैं। प्रत्येक द्रव्य में उभयरूपता है, जो द्रव्य सत्-रूप है, वही द्रव्य असत् रूप भी है। स्व-चतुष्टय से पदार्थ सत्-रूप है, पर-चतुष्टय से असत् रूप भी है। (चतुष्टय अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा)। कथन तो क्रमशः किया जाता है— जब सत् का कथन होगा, तब असत् का कथन गौण होगा। जब असत्-कथन मुख्य होगा, तब सत् का कथन गौण होगा; परन्तु प्रति-समय सद्भाव (अस्तित्व) दोनों का ही रहेगा, अभाव एक का भी नहीं होगा। तत्त्व-बोध के लिए शीतलहृदय चाहिए। परिणामों में निर्मलता (विशुद्धि) है, तो सम्पूर्ण तत्त्वों (सात तत्त्वों) का निर्णय समीचीन हो जाता है, जिसके हृदय में वक्रता (संक्लेश-भाव) है, वह तत्त्व-बोध (बंधादि-ज्ञेय) को प्राप्त नहीं करता। जिज्ञासु के लिए (जीव) तत्त्व शीघ्र समझ में आ जाता है, हठ-धर्मी को कभी भी सम्यक्तत्त्व का बोध नहीं होगा।”

इसका कारण आचार्य-श्री प्रतिबोधित करते हैं— “जिसके अंतःकरण में वक्रता रहती है (सरलता नहीं रहती है), वह स्व-मत की सिद्धि चाहता है। स्व-मत की सिद्धि (की इच्छा) में छलादि का प्रयोग करता है, कषाय-भाव को प्राप्त होता है। जहाँ क्षयोपशम (बुद्धि) का प्रयोग तत्त्व-बोध में होना चाहिए था, वहाँ न होकर अपनी शक्ति (क्षमता) का प्रयोग अतत्त्व की पृष्ठभूमि में एवं अहंकार की सिद्धि में लगा दिया। अहो! आश्चर्य है— बड़े-बड़े साधु-पुरुष भी इस अहम् के मद में उन्मत्त हो जाते हैं और यथार्थ में स्व-भूल को जानते हुए भी जन-सामान्य के मध्य स्वीकार नहीं कर पाते। ज्ञानियो! ध्यान दो— आगम-वाणी पर व त्याग-तपस्या में किञ्चित् न्यूनता भी रहे; तब भी मोक्ष-तत्त्व की सिद्धि होगी, परन्तु तत्त्व पर विपर्यास करने वाला घोर-त्यागी, तपस्वी, ब्रह्मचारी का कर्म-मोक्ष तो भिन्न है (दूर है), वह तो मिथ्यात्व से भी मुक्त नहीं हो पाएगा।” उपर्युक्त परिशीलन वस्तुतः एक ललकार के रूप में आत्म-जागरण हेतु प्रस्तुत है। एकान्तवादियों के लिए प्रहाररूप है। अनेक धर्म वाले वस्तु को केवल एक धर्म में बहकाने वाले प्रवक्ताओं के लिए एक पाठ-जैसा है।

आचार्य-श्री आगे परिशीलन करते हैं— “(हे) ज्ञानियो! सर्वथा मिथ्यात्व को अकिञ्चित्कर तो नहीं कहा जा सकता। बंध के प्रत्ययों में यह मिथ्यात्व पहला ही प्रत्यय है। यह दर्शन-मोहनीय द्विमुखी सर्प है, जो उभय-मुख से काटता है, सम्यक्त्व का भी घात करता है तथा चारित्र-गुण का भी घात करता है, इसलिए मुमुक्षुओ! सर्वप्रथम आत्म-रक्षा मिथ्यात्व से करना, सम्यक्त्व के कवच द्वारा प्रथम शत्रु से बच जाया जाए, फिर अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि इन शत्रुओं को नष्ट करने का सम्यक्-पुरुषार्थ करना चाहिए। साथ में यह भी ध्यान रखना कि मिथ्यात्व स्वयं का भाव-कषाय है।”

आगे आचार्य-श्री कहते हैं— “सर्वप्रथम मेरा सभी वक्ताओं को संकेत है कि उन्हें स्व-पर-हित के इच्छुक होना चाहिए। किसी भी संस्था से जुड़कर बल्कि सीधे आगम-ग्रंथों के मूल-स्वाध्याय में जुटना चाहिए, जिससे स्वावलम्बीपना आएगा एवं निडरता भी रहेगी। अपनी सत्यार्थ की बात को कहने में किसी का दबाव भी नहीं रहेगा कि संस्था से निकाल दिया जाऊँगा। ज्ञानी! पुद्गल के टुकड़ों के पीछे भगवद्-वाणी के विपरीत कहने में तेरा मन कैसे जाता है?”

इसप्रकार मुमुक्षु को जगाते हुए वे कहते हैं— “वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादन जैसे-का-तैसा करना सम्यक्-दृष्टि जीव का व्यसन होता है, द्रव्य का प्रतिपादन कभी एक-रूप में ही पूर्ण नहीं

हो सकता। विधि-मुख एकान्त से या निषेध-मुख एकान्त से। वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादन तो विधि-निषेध (दोनों) की सापेक्षता से ही सम्यग्रूपेण होता है। न सर्वथा सत्-रूप ही है, न सर्वथा असत्-रूप ही! यानी न सर्वथा विधि-रूप, न सर्वथा निषेध-रूप; आत्मादि द्रव्य विधि-निषेधात्मक हैं।”

आचार्य-श्री पुनः श्रोताओं को सचेत करते हैं— “ध्यान रखें सुधी पाठक जन। यह सम्बोधन-ग्रंथ अध्यात्म-न्याय से परिपूर्ण है। मैं समझता हूँ कि सामान्य जनों की भाषा कठिन होती जा रही है। समाधितंत्र-अनुशीलन में शुद्ध-अध्यात्म है व यह स्वरूप-सम्बोधन-परिशीलन तर्क-शास्त्र बन गया है। आप अभ्यासरत रहें, समझ में आएगा। मेरा अंतःकरण कहता है— यदि मैं इस विषय को स्पष्ट नहीं करता हूँ तो सुधी पाठकों को मैंने अधूरा परोसा है। एक बार महान् ग्रंथ पर विश्लेषण हो जाय, —यही प्रयोजन है, ग्रंथ के कलेवर को बढ़ाना नहीं। समझना है, अतः पुनः अपने विषय पर आते हैं— अर्हत्-दर्शन से बाह्य मन वाले एकान्तवादी, जो पदार्थों के सद्भाव को ही एकान्त मानते हैं, अभावों को नहीं मानते। उनके यहाँ प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव आदि—चारों प्रकार के अभाव के नहीं मानने से सभी पदार्थ सर्वात्मक अनादि-अनन्त और अस्वरूप हो जाएँगे। यानी किसी भी द्रव्य का कोई निश्चित स्वरूप नहीं होगा, स्वरूप-अस्तित्व का लोप हो जाएगा। जानियो! इसलिए ध्यान दो— आत्मा सत्-स्वरूप है, वह मात्र सत् व चित् की अपेक्षा है, न कि जड़ की अपेक्षा। चैतन्यधर्म की दृष्टि से ही सद् रूप है, न कि अचेतन की अपेक्षा। अचेतन की अपेक्षा से वह असदरूप ही है, अतः स्व-चतुष्टय से द्रव्य सदरूप है, पर-चतुष्टय की अपेक्षा असदरूप है।”

पुनः इसीप्रकार विधि-निषेध आदि रूप कथनी है। यथा— “मूर्तिक भी है आत्मा, अमूर्तिक भी है आत्मा। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण निश्चय-नय से आत्मा में नहीं पाया जाता है, इसलिए आत्मा अमूर्तिक स्वभावी है; परन्तु बंध की अपेक्षा व्यवहार-नय से आत्मा-मूर्तिक भी है, अनेकान्त है। दूसरी बात यहाँ पर यह भी समझना— ज्ञान साकार होता है, ज्ञान-मूर्तिक होने से आत्मा-मूर्तिक है तथा पुद्गल मूर्त-धर्म-रहित होने से अमूर्तिक हैं, यहाँ पर जीव को जो अमूर्तिक कहा गया है, वह जीव-स्वभाव का कथन तो है, साथ ही इस कथन से.....एवं चार्वाकों के आत्मा-विषयक स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि रूप मूर्तिकत्व का निराकरण होता है।”

9वीं गाथा में आचार्य-श्री ने परिशीलन में अनेक धर्मात्मक आत्म-तत्त्व पर चर्चा करते हुए निम्न बिन्दुओं की ओर श्रोताओं/पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है, जो महत्त्वपूर्ण हैं—

1. अरे मित्र! तेरा स्वभाव पर-भाव से भिन्न है। तू अपने चतुष्टय में स्वाधीन ही है, अन्य ईश्वर तेरे कर्त्ता-भोक्ता नहीं हैं, तू तो पूर्व से ही स्वतंत्र था, आज भी है, भविष्य में भी स्वतंत्रता से युक्त ही रहेगा, किसी भी दशा में एक द्रव्य अन्य द्रव्य-रूप नहीं होगा,—यह ध्रुव सिद्धान्त है।
2. अहो! मिथ्यात्व की महिमा कितनी विचित्र है कि अपनी स्वतंत्रता को व्यक्ति किस प्रकार नष्ट कर रहा है?.... किसी ने देवों के साथ में स्वयं को दे दिया, किसी ने जादू-टोना, तंत्र-मंत्रों को, किसी ने नगर-देव को, किसी ने कुलदेवी को, तो किसी ने अदेवों, तिर्यचों एवं वृक्षों, खोटे गुरुओं के हाथों में सौंप दिया।

3. इतना ही नहीं, आज धन-पिपासा की वृद्धि को देखते हुए लोक में साधु-सन्तों ने भी भोले लोगों की वंचना प्रारम्भ कर दी है। धर्म के नाम पर भयभीत कर धन लूट रहे हैं, कोई श्रीफल को फूँक रहे हैं। कोई जीवों के कर्मों को कलशों में निहार रहे हैं, सोने-चाँदी के कलश घरों में रखकर, उनमें (लौ) लगाकर अपनी स्वतंत्रता का हनन करने में लीन हैं। नग, अँगूठी, मोती, माला इत्यादि में लगाकर सत्यार्थ-मार्ग से वंचित कर रहे हैं।
4. अहो प्रज्ञ! सत्य बोलना कलश की आराधना क्यों चल रही है?...परिग्रह की कामना के उद्देश्य से, न कि आत्माराधना के लिए। अंतरंग भाव चल रहे हैं कि मेरी कलश-आराधना शीघ्र फलित होवे और घर में परिग्रह की वृद्धि होवे। ज्ञानी! परिग्रह बढ़े न बढ़े, वह लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से मिलने वाली वस्तु है, पर माँगने की भावना ने निःकाक्षित अंग का भी अभाव करा दिया, पर मैं अपना कर्त्तापन स्थापित करा दिया। जड़-द्रव्य में चेतन का कर्त्तापन कैसा?
5. तीर्थकरों की परम्परा मठाधीशों की परम्परा नहीं है, तीर्थकरों की विशद परम्परा गगन के सदृश निर्लेप एवं निर्दोष रही है।
6. उन्होंने (कुंदकुंदाचार्य-जैसे महायोगियों ने) भवनों में आत्म-भवन का नाश नहीं किया, यह तो गृहस्थों का धर्म है। साधु-पुरुषों का कार्य तो तप-साधना एवं श्रुत की आराधना-मात्र है।
7. यदि साधु-संस्था इसी कर्त्तापन में लीन हो गई, तो-फिर वर्द्धमान का वनवास-मार्ग, आत्मवास-मार्ग, मात्र ग्रंथों में ही मिलेगा, निर्ग्रन्थ मठों में निवास करने लगेंगे।
8. श्रमण-संस्कृति का सत्यार्थ-मार्ग आश्रम-मार्ग नहीं है, आश्रम-विधि में षट्काय जीवों की हिंसा होती है। श्रमणों का मार्ग तो षट्काय की हिंसा से परे है। एक क्षण अहो योगियो! चिन्तवन करें कि अपना मार्ग कितना श्रेष्ठ है, जहाँ परिपूर्ण रूप से स्वाधीनता है; न भोजन का विकल्प, न भवन का, सर्पवत् मिलता है। फिर हम क्यों दीमक बनें, जो कि स्वयं बना-बनाकर बामी को तैयार करती है, पर रहते सर्प हैं। उसीप्रकार, श्रमणो! आप उपदेश-आदेश करके बनवा जाओगे, पर धर्मशालाओं में रागी-भोगी जीव ही तो निवास करेंगे। जनक के नाम के राग के वश होकर त्रिलोक्य-पूज्य जिन-मुद्रा को क्यों टुकड़ों में नष्ट कर रहे हो?

दसवीं गाथा कर्म-सिद्धान्त विषयक जिज्ञासा-रूप है, जिसमें श्री अकलंक देव ने भव्यों के कल्याण हेतु कर्मों के कर्तृत्व-भाव, भोक्तृत्व-भाव तथा मुक्तित्व-भाव का विश्लेषण न्याय द्वारा किया है। आचार्य-श्री के परिशीलन के कुछ बिन्दु निम्नलिखित हैं—

1. ज्ञानियो! बड़ी सहजता से एक बात ध्यान देने योग्य है- जो आपके लिए दुःख-रूप निमित्त बन रहा है, वह अन्य के लिए, तेरे ही देखते हुए सुख-रूप निमित्त बन रहा है। यदि सामनेवाला दुःख-रूप ही निमित्त होता, तो अन्य को भी उसके द्वारा दुःख होना चाहिए था। इसका गंभीर तत्त्व खोजिये, यानी कि मेरे लिए दुःख का साधन जो है वह भी मेरे कर्मों का उदय है।
2. पुनर्भव को आप मानते हैं; आस्तिक हैं, तो पूर्व-कृत कर्मों का विपाक भी स्वीकार करना होगा।

3. कर्म का विपाक तीर्थकर पद से भूषित आत्मा को भी स्वीकारना पड़ा, यानी भगवान् आदिनाथ स्वामी से पृच्छना कर लेना। भगवन्! आपके लिए छः माह तक निराहार क्यों रहना पड़ा ?
4. कल्याणकारक में कहा गया है- “स्वभाव, काल, ग्रह, कर्म, दैव, विधाता (ब्रह्मा), पुण्य, ईश्वर, भाग्य, विधाता, कृतांत, नियति, यम, ये सब पूर्वजन्म-कृत कर्म के ही अपर नाम हैं।”
5. जब कर्म के अनुसार ही फल प्राप्त होता है, तो व्यर्थ में ही ईश्वर को क्यों विराजमान करते हो? सीधा बोलो-स्व कृत-कर्म ही मेरे सुख-दुःख के कर्त्ता हैं, अन्य कोई कर्त्ता नहीं है।
6. ज्ञानी! ध्यान दो- जब बन्ध स्व-हेतुक है, तब मोक्ष भी स्व-हेतुक ही है, वह भी पर-हेतुक नहीं।
7. यह विषय द्रव्य के शुद्ध द्रव्यत्व-गुण पर दृष्टि ले जाने वाला है। प्रत्येक द्रव्य स्व-द्रव्य-गुण-पर्याय में निज-स्वभाव से परिणमन कर रहे हैं। अन्य किसी को भी पर के परिणमन में अपने परिणाम में ले जाने की आवश्यकता नहीं है। द्रव्य तो जैसा है, वैसा ही रहेगा; अन्य रूप, अन्यथा रूप नहीं है। प्रत्येक क्षण प्रत्येक द्रव्य जैसे हैं, वैसे ही हैं; जीव व्यर्थ में क्लेश करता है। न आत्मा को पर-कर्त्ता स्वीकारा, न पर को आत्मा का कर्त्ता स्वीकारों, वस्तु की स्वतंत्रता की पहचान करो। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र ही है, ईश्वर आदि से भी परतंत्र नहीं है। शुद्ध दृष्टि से आत्मा कर्मों से भी स्वतंत्र है।

ग्यारहवीं गाथा कर्म मुक्ति-विषयक है, आचार्य-श्री के विचार निम्न प्रकार परिशीलित हैं-

1. ध्रुव सत्य तो यह है कि भगवत्-देशना पर की आस्था के अभाव में अपनी सत्यता का अभाव तो नहीं कर पाएगी, पर-तत्त्व के प्रति विपरीत-आस्था जीव-भव-भ्रमण का कारण अवश्य बन जाती है।
2. जो आगम के विरुद्ध भाषण करते हैं, वे वर्तमान में भले पूर्व पुण्य के नियोग से यश को प्राप्त हो रहे हों, परन्तु अन्तिम समय कष्ट से व्यतीत होता है, साथ ही भविष्य की गति भी नियम से बिगड़ती है। अहो प्रज्ञ! पुद्गल के टुकड़ों के पीछे आगम को तो नहीं तोड़ना।
3. ध्यान रखो- समाधि-सहित मरण चाहते हैं, निज-संसार की संतति को समाप्त करने की इच्छा है, तो अरहन्त-वचनों के अनुरागी बनो, यानी जिन-वाणी के अनुसार अपनी आस्था बनाओ एवं तदनुसार व्याख्यान करो, तदनुसार चिन्तवन करो।

आचार्य-श्री ने बारहवीं गाथा में (जिसमें सम्यक्-ज्ञान के स्वरूप को परिभाषित किया है) तर्क-शैली का अभूतपूर्व प्रयोग पाया है। सम्यक्-ज्ञान के तलस्पर्शी तत्त्व-ज्ञान के बोध हेतु न्याय-नय का ज्ञान अपरिहार्य है। कहा गया है-

सत्य स्वयं की है जो कसौटी, नहीं चाहती अन्य पर सको।

स्वर्ण शुद्धतम से भी शुद्धतर, नहीं माँजना अतिकर उसको।।

सदैव सत्य फाँसी के तख्त पर झूलता है तथा झूठ आदि दोष राजसिंहासन पर हमेशा बैठता है। आचार्य-श्री ने परिशीलन में निम्नलिखित रूप में प्रकाश बिखराया है-

1. सप्त-भय-मुक्त व्यक्ति ही सत्यार्थ का प्रतिपादक हो सकता है। भय के साथ लोभ-कषाय से दूषित-चित्त वाला व्यक्ति भी सत्य-आगम को नहीं कहता, कहीं न कहीं विरुद्ध-प्ररूपणा कर ही देता है।

2. गणधर की पीठ पर उसे ही बैठना चाहिए, जो तत्त्व-बोध से युक्त हो। यदि समीचीन नहीं है, तो क्या प्ररूपणा की जाएगी ? स्वयं प्रश्न करना चाहिए, एक अक्षर भी आगम-विरुद्ध कथन में आ गया, तो ज्ञानी तत्क्षण सम्यक्त्व की हानि समझना चाहिए।
3. अल्पज्ञानी कहलाना अच्छा है, बहुज्ञानी कहलाने के लोभ में मन-वाणी का प्रयोग स्वप्न में भी नहीं करना, अन्यथा आगम से बाधित हो जाओगे।
4. देखो, जब जीव जानकर, पूर्वाचार्यों के विरुद्ध कथन करता है, तब उसे ज्ञात रहता है-अन्तरंग से कषाय के उद्रेक से तपता है, अन्तःकरण से दुःखी, विशुद्धि स्थान से पतित हो रहा है।
5. जो जीव आगम-ज्ञान प्राप्त करके द्रव्य-श्रुत को भाव-श्रुत की प्राप्ति का पुरुषार्थ करता है, वह शीघ्र ही कर्मातीत अवस्था को प्राप्त होता है। अन्तिम समय परिणामों की विशुद्धि बनी रही हो, तो समझना कि वह भाग्यवान् पुरुष निर्दोष श्रुताराधक रहा है।
6. आगम-ग्रंथों में ज्ञान का फल विशुद्ध-भावों की उपलब्धि है, राग-द्वेष की वृद्धि करना, कराना, अनुमोदना करना, ये ज्ञानीपने की पहचान किञ्चित् भी नहीं है।
7. अहो! गाय के सींग से दुग्धधारा नहीं निकलती, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में प्रमाणितपना नहीं होता।
8. भिन्न ज्ञेयों के निमित्त से ज्ञान-गुण तद्रूप परिणमन होता है-इस अपेक्षा से जैसा ज्ञेय होता है, ज्ञेय ज्ञेय ही है।
9. अकलंक स्वामी ने इस एक कारिका में जैन दर्शन का सार प्रदान किया है। अहो! आचार्य-प्रवर की प्रज्ञा एवं दर्शन-चरित्र अति विशद था, निर्मल आत्म-तत्त्व ही यथार्थ-तत्त्व उपदेशक हो सकता है।

तेरहवीं एवं चौदहवीं कारिकाओं में सम्यक्-चारित्र के स्वरूप का परिशीलन आचार्य-श्री ने भली-भाँति निम्नप्रकार किया है—

1. चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्वाचरण है, परन्तु मनीषियो! वह सम्यक्त्वाचरण साधन का ही साधन है। साध्य-प्राप्ति का साक्षात्-कारण न हुआ, न कभी होगा, वह कारण-समयसार का भी कारण है। कार्य-समयसार तो ज्ञानियो! सकल-निकल परमात्मा ही है। सकल-निकल परमात्मा की उपलब्धि कराने वाला साक्षात्-कारण चारित्र है। गुणस्थानों में स्व-स्थान सम्बन्धी विशुद्धि अवश्य है, तद्-तद् अनुभूति भी है। संवेदन तो आत्मा का धर्म है। वह स्व-संवेदन परम शुद्ध संवेदन नहीं है, अव्रत-रूप स्व-संवेदन ही है।
2. जो जीव चारित्र को गौण करके सर्वथा ज्ञान-दर्शन की चर्चा करते हैं, परन्तु संयम से सर्वथा उदास रहते हैं, वे वीतराग शासन के प्रति अवात्सल्यता का व्यवहार करते हैं। कारण दर्शन-ज्ञान मात्र वीतरागता को प्रकट करने में समर्थ नहीं हैं। जब भी वीतरागता का उदय होगा तब ज्ञानी सम्यक्-चारित्र के सदभाव से ही होगा, वीतरागता और सम्यक्-चारित्र का अविनाभाव सम्बन्ध है।
3. जैन-योगियों का मार्ग जगत् के मार्गों से अत्यन्त भिन्न है, ऐसा समझना चाहिए। साथ ही उन ज्ञानी विद्वानों को भी इंगित करता हूँ, जो साधु समाज से लौकिक कार्यों की अपेक्षा

रखते हैं। विद्यालय और औषधालय का निर्माण; विद्वानों आप लोग तत्त्व-ज्ञाता हो— क्या यह मार्ग दिगम्बर साधकों का है ? धर्म-आयतनों के लिए ही साधुओं से आशीष की इच्छा करना। जो आयतन से परे हैं, उन लौकिक कार्यों में साधुओं से किसी प्रकार की इच्छा रख अपनी प्रज्ञा की न्यूनता की पहचान न कराएँ, उन्हें श्रमणाभास की ओर न ले जाएँ। यह मार्ग सामाजिक, राजनैतिक कार्यों से भिन्न है।

4. मात्र क्रिया-चर्या का नाम चारित्र नहीं, अपितु साम्य-भाव का नाम चारित्र है। साम्य-भाव के अभाव में कोई चारित्र नाम का सत् नहीं है। साम्य-भाव-रहित चारित्र असत् है। ज्ञानियो! वनवास में निवास, सम्पूर्ण श्रुत की आराधना, काय-क्लेश, मौन व्रत, अनेक प्रकार के घोर मासोपवास, शरीर आदि की साधना भी साम्य-भाव के अभाव में अंक-विहीन शून्य है।
5. साता-असाता के प्रति विचार करना आत्मा का भूतार्थ धर्म नहीं है, दोनों पुद्गल के ही परिणमन हैं। जो बंध किये थे, वे उदय में तो आएँगे ही। इसके बारे में विचार करके अशुभभाव न करें। अतः सुख व दुःख में मध्यस्थ रहना ही श्रेष्ठ मार्ग है। कर्म उदय में आकर बाह्य सुख-दुःख के साधन तो हो सकते हैं, पर आत्म-स्वभाव का नाश नहीं कर सकते। हाँ, इतना अवश्य है कि कर्म-विपाक सत्यार्थ-शुद्धोपयोग से आत्मा को वंचित होने में निमित्त हो सकते हैं, परन्तु फिर भी ध्रुव-ज्ञायक भाव का अभाव कर्मों के द्वारा न कभी हुआ न होगा।
6. अतः मनीषियो! ध्रुव अखण्ड चैतन्य-धर्म की अनुभूति में लीन होना अनिवार्य है। जो स्वरूप पर-भावों से परिपूर्ण भिन्न है, एक अंश प्रमाण भी आत्मा पर-भाव-रूप नहीं है। भूतार्थ नयाश्रित-तत्त्व ही उपादेय है, पर ज्ञानियो! बिना व्यवहार रत्नत्रय के मात्र शुद्ध-बुद्ध भावना-मात्र मोक्षमार्ग नहीं है, भावना से मोक्षमार्ग नहीं बनता। भाव-संयम से मोक्ष-मार्ग प्रशस्त होता है, उभय रत्नत्रय निश्चय एवं व्यवहार ही सत्यार्थ हैं। एक-एक की एकता मोक्षमार्ग नहीं हैं, व्यवहार-साधन है, निश्चय-साधन है।

इसप्रकार हमने अपनी क्षमता के अनुसार गम्भीर अध्यात्म-न्याय-नय-विषयक ग्रंथ “स्वरूप-सम्बोधन” पर आचार्य-श्री विशुद्धसागर के द्वारा प्रणीत परिशीलन के प्रमुख प्रकरणों को उपर्युक्त रूप में प्रस्तुत किया है। यह प्रस्तुति उनके अगाध, गहन एवं विस्तृत ज्ञान एवं विद्वत्ता का सरलतम रूप में विवेचित भूमिका-रूप है। आचार्य-श्री द्वारा रचित अन्य आगमिक साहित्य देशनादि रूप में अत्यन्त लोकप्रिय माना जा रहा है। आगम के जटिलतम पारिभाषिक पदों को उन्होंने न्याय, उदाहरण, सम्बोधि आदि अनेक-विध अभिव्यक्तियों द्वारा सहज, सुबोधपूर्ण व सरल बना दिया है। ऐसी सिद्धि उनकी निस्पृहता, निष्पक्षता, पूर्वाग्रह-रहित-पना, हृदय की विशालता समाहित करने वाली निर्मलता एवं अनुकम्पा का परिणाम है।

- प्रो. एल. सी. जैन,
जबलपुर

मंगलाचरण

उत्थानिका— आचार्य भगवन्त के श्री-चरणों में अन्तेवासिन् जिज्ञासा प्रकट करता है— भगवन्! मुक्त के साथ अमुक्त सिद्धों की वंदना क्यों?.... यदि अमुक्त हैं, तो सिद्ध कैसे?.... सिद्ध हैं, तो अमुक्त कैसे?... भगवन्! इस विरोधाभास को अवश्य ही समझाएँ।

समाधान— आचार्य-देव करुणा-दृष्टि से शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करते हैं—

मुक्तामुक्तैकरूपो यः, कर्मभिः संविदादिना¹।

अक्षयं परमात्मानं, ज्ञानमूर्तिं नमामि तम्॥

अन्वयार्थ— (यः) जो, (कर्मभिः संविदादिना) कर्मों से तथा सम्यग्ज्ञान् आदि से क्रमशः, (मुक्तामुक्तैरूपः) मुक्त और अमुक्त होता हुआ एक-रूप है, (तम्) उस, (अक्षयं) अविनाशी, (ज्ञानमूर्तिं) ज्ञानमूर्ति, (परमात्मानं) परमात्मा को, (मैं भट्ट अकलंक) (नमामि) नमस्कार करता हूँ॥१॥

मंगल-भावना— आचार्य भगवन् अकलंक स्वामी भारतीय तत्त्व-मनीषा की परंपरा के एक प्रधान आचार्य हुए हैं, जिन्होंने जैनदर्शन के पक्ष को त्रिलोक-मंडित किया है। जगत् के अज्ञ जीवों को समझाने के लिए **संव्यवहार-प्रत्यक्ष** शब्द का सूत्रपात कर जैनन्याय में एक नया मोड़ दिया, जिसे उत्तरवर्ती सम्पूर्ण विद्वानों ने नत-मस्तक होकर स्वीकार किया। भारत-भूमि के वे क्षण अहो-भाग्यशाली रहे होंगे, जिन क्षणों में आचार्य अकलंक स्वामी सिंह की भाँति एकान्त-दृष्टि से दूषित, उन्मत्त, पर-मत-रूपी हाथियों के कुमत्-रूपी मस्तिष्क को विदारित कर स्याद्वाद्-चिह्न से चिह्नित जिन-शासन का संवर्धन कर रहे थे, जिन्होंने क्षणिक-वादियों से भारत-वसुधा को रिक्त कर दिया था, ऐसे ग्रन्थकर्त्ता आचार्य भगवन् श्री अकलंक स्वामी जयवन्त हों। परम वीतराग-दशा जिनकी प्रकट हो चुकी है, भव्यत्व-भाव का भी जो अभाव कर चुके हैं, —ऐसे अशरीरी सिद्ध परमेश्वर हमें अविनाशी पद प्रदान करें।

1. कुछ विद्वान् 'संविदादिना' की जगह 'संविदादिभिः' पाठ भी मानते हैं, पर प्राचीन संस्कृत-टीका में 'संविदादिना' पाठ ही मिलता है; इसके साथ ही साथ अधिकांश प्रतियों में भी 'संविदादिना' पाठ ही उपलब्ध है, अर्थ की दृष्टि से भी यही समुचित प्रतीत होता है, अतः यह पाठ ही यहाँ स्वीकारा गया है।

घाति-चतुष्टय के घातक, केवलज्ञान दिवाकर से शोभायमान, जगत्त्रय को युगपद् जानन-हारे, भव्यों के हितकर, भव-मोक्ष से युक्त, अठारह दोषों से रिक्त, छियालीस गुणों से भूषित, सर्वोदयी शासन के उद्घोषक, समोसरण सभा के स्वामी, श्री वृषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थेश वर्धमान स्वामी-पर्यन्त सम्पूर्ण तीर्थकर, अरहन्त-भगवन्त मेरी आत्मा को पवित्र करें। स्याद्वाद-सिद्धांत के निबद्धक, जगत् के जीवों को मोक्षमार्ग के प्रदर्शक, सर्वज्ञ-सभा के शिरोमणि श्री वृषभसेन आदि करके श्री गौतम गणधर पर्यन्त वसुधा पर विराजे सम्पूर्ण गणधर-भगवन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ।

मिथ्यामार्ग का खण्डन करने वाली, वीतराग-सन्मार्ग का मण्डन करने वाली, भव्यों के भावों का शोध करने वाली, चित्त को चैतन्य-धर्म समझाने वाली, स्वानुभूति के झूले में झुलाने वाली, सर्वज्ञ-मुख से विनिर्गत स्याद्वाद-अनेकान्त की मूर्ति वाग्वादिनी सरस्वती देवी मेरे कण्ठ में विराजें। हे देवी! तूने अनेक अज्ञों को विज्ञ बनाया है; तेरे शुभाशीष से कोटि-कोटि योगीश्वर कैवल्य को प्राप्त हुए हैं। अहो शारदे! मेरे ऊपर भी दृष्टिपात करो, मेरी प्रज्ञा को प्रशस्त करो। पर-भावों से भिन्न निज-भाव को पहचानते हुए स्वानुभूति में लीन हो जाऊँ, जब-जब स्वानुभूति से बाहर आऊँ, तब-तब तेरे चरणों में बैठा रहूँ, पुनः-पुनः प्रार्थना, अहो! हंस-गामिनी मैं पर में न जाऊँ, पर मेरे में न आएँ। हे विद्वानों की जननी! क्या आपकी दृष्टि में भी द्वैत-भाव है, रागियों के अंदर जगत्-प्राणियों में द्वैत-पना रहता है, आप तो वागीश्वरी कुमारी हो, कुमारी की दृष्टि में किसी के प्रति भी कुदृष्टि नहीं होती, उसे तो प्रत्येक पुरुष पुरुष ही दिखता है, अन्य कोई संबंध कुमारी के सामने उपस्थित नहीं होते। भो ब्रह्मचारिणी! बस, मुझे इतना ही आशीष चाहिए कि मैं अपने ब्रह्म में विचरण करता रहूँ। अहो जगत् मातेश्वरी! जब आप जगन्माता हैं, तो माता को अपने पुत्र की चिंता स्वयं होती है, अनेक वत्सों में इस वत्स को भी निहारो, इसकी प्रज्ञा चलायमान है। इसे अचल प्रज्ञा प्रदान करो। हे ब्रह्मणी! पर-भाव-रूप अब्रह्म-भाव का अभाव करो, कुभावों को मेरे अन्तःकरण से पृथक् करो। हे वरदे! ऐसा वरदान दो कि मैं स्व-मार्ग से दूर न रहूँ। हे वाणी! तेरे प्रसाद से गणधर की पीठ पर तेरे चरणानुरागी की वाणी विराम न ले। हे भाषे! मेरी भाषा स्खलित न हो, अहो श्रुत-देवी! मैंने जगत् के कु-श्रुतों को जानकर उनके खोटे परिणामों को समझकर परित्याग किया है, अब मात्र तेरे पाद-मूल में बैठकर आराधना कर रहा हूँ। आप ही मुझे इष्ट हैं, अभिमत हैं, अबाधित हैं। अन्य

कोई वीणा-वादिनी मुझे इष्ट नहीं। अल्प-धी रागी जीवों के द्वारा कल्पित सरस्वती का मैं उपासक नहीं हूँ, मैं तो मात्र आपका ही उपासक हूँ। उसका कारण यह है कि आप अरहन्त-मुख से प्रवाहित हैं, आपका उद्गम-स्थल वीर-हिमाचल है। हे वाग्गंगे! आपके श्री-पाद में इसलिए अनुरंजित हूँ, क्योंकि आप गुरु गौतम-गणधर के कुण्ड में स्थिर होकर फिर परंपरा से आचार्यों के मध्य में प्रवाहित होती रही हैं, इसलिए निर्मल हैं, कुशासन का आपके यहाँ सम्मान नहीं है। नमोऽस्तु-शासन का किञ्चित् भी अपमान नहीं है। जहाँ नमोऽस्तु-शासन का अपमान होता है, वहाँ हे गौ! आपका निवास नहीं होता; इसलिए मैं कर मुकुलित करके आपकी आराधना कर रहा हूँ, क्योंकि बिना आराधना के आराध्य की उपलब्धि नहीं होती है, —यह मुझे भलीभाँति ज्ञात हो गया है। जो नर आराधना किये बिना आराध्य-पद की आकांक्षा रखते हैं, वे अल्पधी अग्नि में कमल-वन खिलाने की अभिलाषा रखते हैं। अहो सिद्धांत-शास्त्रों की उद्घोषिका वीतराग-वाणी! मैंने आपसे ही सीखा है कि आराधना करने वाले की नास्तिकता का परिहार होता है और उसके द्वारा शिष्टाचार का परिपालन, पुण्य का लाभ, निर्विघ्न कार्य की समाप्ति एवं श्रेयोमार्ग की प्राप्ति भी होती है। हे पुण्य-दायिनी, काम-दायिनी, काम-धेनु, अशरीरी स्वरूप में विलीन करने वाली श्रुतदेवी! आप कितनी महान् हैं!..... क्या इस अवनि-तल पर आपसे भी कोई विशिष्ट है?... मैंने वृद्धों के मुख से, गुरुओं के पाद-मूल में बैठकर विद्वानों की सभा में आपसे श्रेष्ठ किसी को नहीं सुना। आपका निवास कमल-वन नहीं, उपवन नहीं, सिंहासन नहीं, हंसासन नहीं, आपका निवास-स्थान लोक में सर्वोपरि अनुपम ही है। हे सरस्वती! तेरे पुण्य भाग्य को व्याख्यायित करने के लिए गणधर परमेष्ठी में भी सामर्थ्य नहीं है। मैंने ध्यान, अध्यात्म, मंत्रों एवं शास्त्रों में आपका निवास अर्हन्-मुख पढ़ा है। हे अर्हन्-मुख-निवासिनी! मेरे पाप-मल का क्षय करो। हे सरस्वती! आपके प्रसाद से मेरे पापों का विनाश हो, मुझे श्रुतज्ञान-स्वरूप बोध एवं भेदाभेद बोधि की प्राप्ति हो, परिणामों में विशुद्धि हो, स्वात्म-तत्त्व की उपलब्धि हो, शिव-सौख्य की सिद्धि हो। अन्य कोई प्रयोजन मेरा नहीं है। हे एकान्त मूर्ति! नित्य ही मेरे हृदयावास में प्रकाश करो, ताकि मैं आपके प्रसाद से परिशीलन को पूर्ण कर सकूँ।

श्रुताराधना के बाद मैं अल्पधी गुरु-आराधना का विचार करता हूँ। जगत्त्रय, लोकत्रय में निश्चय से शुद्धात्मा एवं व्यवहार-नय से पंच परम गुरु मंगलोत्तम शरण-भूत हैं। आचार्य भगवन्त कुन्दकुन्द स्वामी प्रसन्न हों, जिन्होंने वीर-शासन में द्वितीय श्रुतस्कन्ध पर लेखनी चलाकर भव्यों को अशरीरी भगवान् आत्मा का स्वरूप

बतलाकर बहु-उपकार किया है। आत्म-प्रवाद-पूर्व के गूढ़ रहस्यों को जिन्होंने उद्घाटित किया है, गिरनार पर्वत सौराष्ट्र में अम्बिका देवी के मुख से सनातन दिगम्बर धर्म का जयघोष कराया है, आदि दिगम्बर, हमारी आस्था के केन्द्र रूप जिनके पूज्यपाद आत्म-प्रदेशों के अंश में विराजते हैं, वे भगवन् **कुन्दकुन्द स्वामी** शुभाशीष प्रदान करें। मेरी बुद्धि 'दुर्' उपसर्ग को प्राप्त न हो, अतः पुनः-पुनः आचार्य भगवन्त **अकलंक स्वामी** की वंदना करता हूँ। वे मुझे स्व-प्रज्ञा-जैसी निकलंक-मेधा प्रदान करें, जिससे उनकी महान् कृति पर मेरी लेखनी विराम न ले। तीर्थेश पद पर विभूषित, अभद्रों को भी श्री समन्तभद्र बनाने वाले आचार्य भगवन्त मेरे हृदय में विराजें व इस अल्पज्ञ के अंदर तर्क-शक्ति का संचार करें। वीर की परंपरा में हुए अनेक आत्म-अन्वेषी आचार्यों में व घोर तपस्वी, एकान्तवासी, अध्यात्मलीन मुनि-कुंजर आचार्य **आदिसागर महाराज**, उनके कृपा-पात्र हुए अठारह भाषा-भाषी सिद्धान्त व न्याय-विद्या में प्रवीण आचार्य श्री **महावीर कीर्ति महाराज**, जिनके कर-कमलों से संस्कार को प्राप्त मम दादागुरु निमित्त-आचार्य-शिरोमणि, जिनके श्री-मुख से वाणी-निकली थी, मुझ अबोध के प्रति- "बेटा! तू जहाँ जाएगा; वहाँ तेरी जय होगी।" उन वात्सल्य-मूर्ति को मेरा नमस्कार हो, जिन्होंने एक पाषाण-खण्ड को परमात्म-पद की प्राप्ति के लिए अग्रसर किया; अध्यात्म-सिद्धान्त-तर्क-शास्त्रों का पारायण जिनके श्री-मुख से किया है, वे मम जिन-दीक्षा एवं गणी-पद-प्रदाता आचार्य भगवन्त **विरागसागर सूरि** सदा जयवन्त हों, ऐसे आचार्य, जिनका प्रति-पल आशीष मेरे शीष पर रहता है, युगप्रधान संत-शिरोमणि आचार्य श्री **विद्यासागर जी** मेरी अविद्या का नाश करें। (सम्प्रति में सर्वराष्ट्र के लिए आश्चर्यभूत मासोपवासी तपस्वी-सम्राट आचार्य श्री **सन्मतिसागर जी** महाराज के श्री-चरणों में त्रिभक्ति-पूर्वक नमस्कार हो) सभी वन्दनीयों की वन्दना करके अपने परम वन्दनीय, अभीष्ट-देवता स्वर्णगिरी पर्वत पर विराजे १००८ **श्री चन्द्रप्रभु स्वामी** मेरे हृदय में चारित्र-चंद्र प्रकट करें।

पंच परमेष्ठी की वंदना कर चैतन्य-मालिनी, परमानन्द-शालिनी, भगवती आत्मा की उपलब्धि हेतु स्वोपयोग की निर्मलता के लिए अकलंक वीर की वाणी प्राणि-मात्र को निष्कलंक प्राप्त हो, विभिन्न सुधी-जनों के आग्रह पर महान् ग्रन्थ न्याय-सिद्धान्त से समन्वित अध्यात्म का कलश **"स्वरूप-सम्बोधन"** पर परिशीलन लिखने को उद्यत

हुआ हूँ। अकलंक-उदधि का महा-मोती मेरे द्वारा कैसे ग्रहण किया जा सकता था, यह मात्र भक्ति एवं गणी-पद-प्रदाता गुरुदेव के आशीष का फल है, जो कि ग्रन्थराज पर कुछ विचार करेंगे; जो होगा, वह पूर्वाचार्यों का ही समझना।

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

परिशीलन— आचार्य-प्रवर अकलंक स्वामी अनुपम अनूठी शैली में वस्तु-स्वरूप का उद्घाटन कर रहे हैं, जिसे प्रथम बार सुनकर विद्वानों को भी एक क्षण को आश्चर्य लगने लगता है, जब मंगलाचरण में ही अपनी तर्क-भूषित प्रज्ञा का प्रयोग करते हैं, एकान्त-गृह-रत-जीव मेढे-जैसे निहारते हैं। क्या मुक्त भी अमुक्त हो सकते हैं? ...ज्ञानियो! ग्रन्थराज में आचार्य-देव ने सम्पूर्ण कारिकाओं में इसी पद्धति का प्रयोग किया, फिर तर्क के साथ सिद्ध किया, इससे एक नयी दिशा, नया चिन्तन तथा प्रज्ञा के मंथन की प्रेरणा प्राप्त होती है। मेरी दृष्टि में मनीषियो! प्रत्येक प्रज्ञ पुरुष को ग्रन्थराज का अध्ययन अनेक बार ही नहीं, जीवन के क्षण-क्षण में करना चाहिए। यह “स्वरूप-सम्बोधन” वस्तुतः स्वरूप का सम्बोधन ही है। यहाँ पर स्वरूप का कोई विकल्प नहीं रखा गया, शुद्ध अध्यात्म-तत्त्व की चर्चा है, ग्रन्थराज पर परिशीलन का उद्देश्य अल्मारियों की शोभा बढ़ाना नहीं है, अपितु यह सभी हंसात्माओं के हृदय-मंदिर में स्थापित हो, —ऐसी भावना है। जैन आर्ष परम्परा रही है कि प्रत्येक शुभ कार्य से पूर्व मंगलाचरण अनिवार्य होता है। विनयवन्त पुरुष मंगल-पूर्वक ही मंगल कार्य करते हैं, अविनयी पुरुष बिना मंगल के ही कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। यहाँ पर किसी का प्रश्न हो सकता है कि अविनयी जनों का बिना मंगल के किया गया कार्य भी फलित होते देखा जाता है और विनयवन्तों के द्वारा ज्ञान-मंगल करने पर भी अमंगल होते देखा जाता है; फिर आप मंगल की बात क्यों करते हो?... विशिष्ट धर्मात्मा दुःखी देखे जाते हैं, पापी धन-वैभव से सम्पन्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं, इसलिए आपके द्वारा कथित मंगल की अनिवार्यता फलित नहीं होती। अहो! ऐसी आशंका एक नास्तिक के अंदर ही हो सकती है; भव-भीरु, आस्तिक व तत्त्वज्ञ-पुरुष के अंदर ऐसा विचार ही नहीं हो सकता, जिसे वर्तमान पर्याय मात्र दिख रही है, भूत-भविष्य का चिन्तन ही जिसके चित्त में नहीं है, ऐसी प्रत्यक्ष मात्र को प्रमाण मानने वाली चार्वाक दृष्टि है।

मनीषियो! ध्यान रखना— किसी भी परम्परा में व्यक्ति का जन्म क्यों न हो?... उससे व्यक्ति के श्रद्धान का जन्म नहीं होता, श्रद्धान का उद्भव तो चिन्तवन की धारा से होता है। जैसी चिन्तवन-धारा होगी, वैसी ही श्रद्धान की धारा होती है; ध्यान

देना— सामान्य लोगों की पहचान कुल से होती है, पर विशिष्ट लोगों से कुल की पहचान होती है। यह बात तो सत्य है, पर अपनी पहचान बनाने के लिए सत्य को आवृत करने का दुष्प्रयास नहीं होना चाहिए, जो यह कह रहा है कि धर्म करने वाले दुःखी देखे जा रहे हैं, वह मात्र प्रत्यक्ष-प्रमाण मानने वाले चार्वाक् सिद्धान्त में जी रहा है, भले ही उसने किसी भी धर्म-दर्शन को मानने वाले कुल में जन्म क्यों न लिया हो। धर्म करने से कभी भी दुःख नहीं होता; यदि धर्म पुरुषार्थ किया है, तो धर्म का फल निःश्रेयस् अभ्युदय रूप ही फलित होता है और पाप कर्म का फल कभी भी सुख-रूप फलित नहीं होता। ध्यान रखो— यदि पाप से सुख मिलने लगा, तो-फिर नर्क-मार्ग कहाँ से प्राप्त होगा?... सर्वप्रथम तो यह निश्चित कर लेना कि पापी पाप-कर्म से सुखी नहीं है, धर्म करने वाला धर्म से दुःखी नहीं है, इसके आगे अब एकान्त का दुराग्रह छोड़कर स्वस्थ-चित्त होकर सुनो..... सर्वप्रथम जीव के प्रेत-भाव (पुनर्भव) को स्वीकारो, अगर प्रेत-भाव ठीक से समझ में आ जाता है, तो आगे का विषय सहज ही समझ में आ जाता है, लोक में देखा जाता है कि किसी को भूत-बाधा/प्रेत-बाधा हो जाती है, तो उसे तांत्रिक के पास ले जाते हैं, वहाँ वह व्यन्तर बोलता है कि पूर्व में मेरे-साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया था, इसलिए इसको कष्ट दे रहा हूँ, —इसका अर्थ हुआ कि पुनर्भव होता है।

अहो प्रज्ञा! अब प्रज्ञा का प्रयोग करो। भूत पर्याय थी, इसलिए वर्तमान पर्याय है, वर्तमान पर्याय है, तो भविष्य पर्याय भी होगी। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानने वाले प्रज्ञा-न्यून पुरुष के पास तीन काल घटित नहीं होते, पर इतना विशिष्ट ध्यान रखना कि किसी के द्वारा सत्यार्थ-भाव को नहीं स्वीकारने से सत्यार्थ को असत्य नहीं किया जा सकता। वस्तु-धर्म तो जैसा है, वैसा ही है, इसे सर्वज्ञ देव भी परिवर्तित नहीं कर सकते। सर्वदर्शी व सर्वज्ञाता तो कोई विशिष्ट आत्मा ही हो सकती है, जिसे हम भगवान् कहते हैं, पर सर्व-परिवर्तित कर्ता इस जगत् में न कोई हुआ है, न होगा। त्रिलोक की त्रिकाल-व्यवस्था को त्रिलोक में विकृत करने वाला आज-तक कोई उत्पन्न नहीं हुआ और ध्यान रखना— भविष्य में भी नहीं हो सकेगा। अज्ञ प्राणी व्यर्थ के परिणामों को ही राग-द्वेष रूप कर सकते हैं, उसके लिए तो प्रत्येक जीव स्वतंत्र है, पर स्वयं से भिन्न को अपने अनुसार नहीं कर सकते। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल, स्व-भाव के अनुसार ही होता है। ध्रुव सिद्धान्तों को समझते हुए धारावाही विषय पर विचार करो, कुशल-कर्म (पुण्य), अकुशल कर्म (पाप)

दोनों का विपाक जब उदय में आता है, तब जीव पूर्वापर के विवेक को खो देता है और नवीन अकुशल कर्मों का बन्ध कर लेता है, कुशल कर्म-उदय पर अतिभोग-वृत्ति से अभिनव कर्मों को संचित करता है, अकुशल कर्मों का उदय अति-शोक-वृत्ति से पुनः अकुशल कर्मों का संचय करता है, पूर्व में किये गये तीव्र कुशल यानी पुण्य कर्म का द्रव्य प्रचुर होने पर वर्तमान पर्याय में फलित होने पर अशुभ करते हुए भी अच्छा ही अच्छा होते दिखता है, न कि पाप करने से; समझे....। सुख धर्म से ही मिलता है, अधर्म से नहीं। यदि पूर्व पर्याय का तीव्र अकुशल कर्म/पाप-कर्म द्रव्य प्रचुर रूप से संगृहीत है, तो उसके उदय-काल में वर्तमान धर्म करते हुए भी दुःख होता है। यह दुःख वर्तमान धर्म का फल नहीं है, अपितु पूर्व में किये गये तीव्र अशुभ कर्म का फल आज फलित हो रहा है, —ऐसा स्वस्थ-बुद्धि से समझें। मंगल से अमंगल कभी नहीं होता, अमंगल से मंगल भी कभी नहीं होता; जो विपर्यास दिखता है, वह पूर्व के कुशलाकुशल कर्मों का विपाक समझकर समता धारण करना चाहिए तथा प्रत्येक मंगल कार्य करने से पूर्व मंगलाचरण अनिवार्य रूप से करना चाहिए एवं बिना मंगलाचरण किये किसी भी कार्य को प्रारंभ नहीं करना चाहिए। मंगलाचरण करने से विद्या एवं विद्या-फल की प्राप्ति होती है। शिष्य शीघ्र श्रुत-पारगामी होते हैं, यह आगम-वचन है—

पढ़मे मंगलकरणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होति।

मज्झिम्मे णीविग्घं विज्जा विज्जाफलं चरिमे।।

—तिलोयपण्णत्ति, 1/29

अर्थात् शास्त्र के आदि में मंगल पढ़ने पर शिष्य-जन शास्त्र के पारगामी होते हैं, मध्य में मंगल करने पर निर्विघ्न विद्या की प्राप्ति होती है और अंत में मंगल करने पर विद्या का फल प्राप्त होता है।

पुण्णं पूद-पवित्ता पसत्थ-सिव-भदद खेम-कल्लाणा।

सुह-सोक्खादी सव्वे णिदिट्ठा मंगलस्स पज्जाया।।

—तिलोयपण्णत्ति, 1/8

अर्थात् पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य इत्यादि सब मंगल के ही पर्याय अर्थात् समानार्थक शब्द कहे गये हैं। यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि इन्हें मंगल क्यों कहा जाता है?

परमात्मा-वाची शब्दों का उच्चारण-मात्र करने से कुछ होता है क्या? इस बात का सुंदर समाधान भगवत् श्री यतिवृषभ आचार्य स्वामी इसप्रकार ने किया है—

गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे ।

विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ।।

—तिलोयपण्णत्ति, 1/9

अर्थात् वह इसलिए मंगल है, क्योंकि यह कु-मलों को गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, शुद्ध करता है और विध्वंस करता है।

शंका— वर्तमान में कुछ ज्ञानियों ने बिना जय-मंगल एवं मंगलाचरण के शास्त्र-प्रवचन एवं धर्मोदेश करना प्रारंभ कर दिया है, तो क्या ऐसा करना भी आचार्य व आगम-परम्परा है?

समाधान— नहीं, बिना मंगलाचरण किये व जय-मंगल किये कोई मंगल-कार्य नहीं होता, फिर शास्त्र-वचन, धर्मोपदेश कैसे हो सकता है?... यह उक्त ज्ञानियों की स्वच्छंद चेष्टा मात्र है; आगम-वचन तो यही है कि सर्वप्रथम मंगलाचरण तो होना ही चाहिए। कहा भी गया है—

पुप्पिला इरिएहिं मंगं पुणत्थ-वाचयं भणियं ।

तं लादि हु आदत्ते जदो-तदो मंगलं पवरं ।।

—तिलोयपण्णत्ति, 1/16

अर्थात् पूर्व में आचार्यों द्वारा मंगल-पूर्वक ही शास्त्र का पठन-पाठन हुआ है तथा यह मंग अर्थात् मोद एवं सुख को निश्चय से लाता है अर्थात् ग्रहण करता है, इसलिए यह मंगल श्रेष्ठ कहा गया है— इस आगम-वचन को समझना चाहिए। मंगल नहीं करना आगम-व्यवस्था नहीं है, इसे अनागमी-व्यवस्था जानना चाहिए। आस्तिक, गुण-सम्पन्न पुरुष सर्व-प्रथम इष्टदेव को नमस्कार करके उपकार का स्मरण करता ही है। लोक में पापी बहुत हुए हैं, परन्तु पापियों में भी महापापी वे होते हैं, जो अपने उपकारी के उपकार को नहीं स्वीकारते। साधु-पुरुष प्रति-क्षण अपने प्रति किये गये उपकार का ध्यान रखते हैं, कहा भी है—

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,

स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।

इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्मबुद्धि

र्नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ।। —पंचास्तिकाय टीका 1/18 में उद्धृत

सम्यग्ज्ञान यथार्थ आगम से होता है। आगम की उत्पत्ति आप्त (सच्चे देव) से है, इसलिए यह आप्त पूजनीय है, जिसके प्रसाद से बुद्धि तीव्र होती है। निश्चय से साधु जन किये गये उपकार को नहीं भूलते। मंगल में तीन प्रकार के देव का वन्दन किया जाता है— इष्ट, अधिकृत एवं अभिमत। इन तीन प्रकार के देवों का तात्पर्य समझना कि जिनको नमस्कार किया जा रहा है, वह अपने लिए इष्ट-प्रिय होना चाहिए; अधिकृत जिनका यहाँ अधिकार चल रहा हो एवं अभिमत अर्थात् जो माननीय हों।

नमस्कार भी तीन प्रकार का होता है— 1- आशीर्वादात्मक, 2- वस्तु-स्वरूपात्मक एवं 3- स्तुत्यात्मक।

मंगल दो प्रकार का होता है— एक मुख्य-मंगल एवं दूसरा गौण-मंगल।

मुख्य-मंगल जिनेन्द्र-गुण-स्तवन।

गौण-मंगल सिद्धार्थ, पूर्ण-कुम्भ, वंदन-माला, श्वेतच्छत्र, आदर्श-दर्पण, नाथ, स्वामी, कन्या, जय। जिन जिनवरों ने व्रत-नियम-संयमादि गुणों के द्वारा परमार्थ-साधन किया है और जिनकी सिद्ध संज्ञा है, इसलिए वे सिद्धार्थ-मंगल हैं। जो सर्व मनोरथों से और केवलज्ञान से पूर्ण हैं, ऐसे अरहंत इस लोक में पूर्ण-कुम्भ मंगल हैं। किसी द्वार से निकलते या प्रवेश होते समय वंदित होने वाले चौबीस तीर्थकरों के प्रतीक रूप 24 पत्रों वाली वंदन-माला को मंगल कहा है। जगत् के पापियों के लिए अरहंत भगवान् सुख के कर्त्ता हैं व छत्र के समान रक्षक हैं, इसलिए श्वेतच्छत्र को मंगल कहा है। अरहंतों के श्वेत-वर्ण, शुक्ल ध्यान व शुक्ल लेश्या और चार अघातिया कर्म शेष होने के कारण श्वेतच्छत्र को मंगल कहा है। जैसे— दर्पण में प्रतिबिम्ब झलकता है, वैसे ही जिन जिनेन्द्रों के केवलज्ञान में लोक-अलोक दिखता है, इसलिए वे आदर्श-मंगल हैं, वैसे जगत् में राजा और बाल-कन्या को भी मंगल जानना चाहिए। जिन्होंने कर्म-शत्रुओं को जीतकर मोक्ष प्राप्त कर लिया है, ऐसे चारों घातिया रूपी शत्रु के दल को जीतने से अरहंत परमेष्ठी जय-रूप मंगल है। आगम में मंगल के और-भी दो भेद किये गये हैं— एक निबद्ध-मंगल और दूसरा अनिबद्ध-मंगल। जो स्वयं ग्रंथकर्त्ता के द्वारा लिखित होता है, वह निबद्ध-मंगल एवं जो दूसरे ग्रन्थ से

लाकर अथवा बिना निबंधन किये नमस्कारात्मक (नमस्कार किया गया हो) वह अनिबद्ध-मंगल है, दोनों में से कोई एक मंगल करना अनिवार्य है।

आचार्य-देव ने ग्रन्थ के मंगल में अनेकान्त-स्याद्वाद् शैली का प्रयोग कर मुमुक्षुओं को मार्ग दिखाया है। कथन एकान्त रूप नहीं होता है, कथन अनेकान्त रूप होता है। एक ही पदार्थ एक ही समय में अनन्त-धर्मात्मक होता है, कोई भी धर्म पदार्थ से कभी भिन्न नहीं होता, परन्तु धर्मों को एक-साथ कहा नहीं जा सकता है, इसलिए गौण किया जा सकता है, पर अभाव किसी भी धर्म का नहीं किया जा सकता, जो पुरुष तत्त्व की अनेकान्त-विवक्षा को समझे बिना कथन करता है, वह एकान्त-आग्रह से ग्रसित है। जो एकान्त से अपने चित्त को दूषित करता है, वह जिन-शासन के अनुसार स्व-पर का शत्रु है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने स्पष्ट रूप से अनेकान्त-दृष्टि-शून्य व्यक्ति को स्व-पर का वैरी कहा है—

एकान्त-ग्रह-रक्तेषु नाथ! स्व-पर-वैरिषु।।

—आप्तमीमांसा, श्लो. 8

हे नाथ! जो एकान्त ग्रह से अनुरक्त लोग हैं, वे स्व-पर के बैरी हैं। तात्पर्य समझना— एकान्तवादी स्वयं की आत्मा का अहित कर ही रहा है, अपने विवेक को खोकर, एकान्त दृष्टि से ही द्रव्य को देखकर मिथ्यात्व के गर्त में निमग्न है और अनेक भव्यों को स्वयं के अहं को पुण्य करते हुए हल बुद्धि से नाना प्रकार के प्रलोभनों एवं वाक्-पटुता से एकान्त का उपदेश देकर उन्हें सन्मार्ग से च्युत कर मिथ्यान्ध-कूप में डाल रहा है, इसलिए एकान्त-दूषित-चित्त वाला स्व-पर का शत्रु है। ज्ञानियो! शरीर के एक अंग को भंग करने वाला इतना घातक नहीं है, जितना घातक एकाक्षी विद्वान् है, कारण— शरीर के अंग का घात पर्याय को छिन्न कर रहा है, परन्तु एकाक्षी विद्वान् हमारे परिणामों का एवं सिद्धांतों का घातक है।

मनीषियो! तत्त्व-बोध की रुचि है, तो स्याद्वाद्-शैली का आश्रय लेकर ही ग्रहण करें, बिना स्याद्वाद् के विद्याध्ययन न करें, न कराएँ, स्याद्वाद् पद से युक्त वक्ता का वचन ही परमागम में शोभा को प्राप्त होता है। उभय नय के विरोध का अभाव "स्यात्" पद से हो जाता है। बिना स्यात् पद के आलम्बन लिये जो कथन करता है, वह वक्ता उभय तीर्थ का नाशक है। व्यवहार एवं निश्चय दोनों नयों का कथन बराबर करना चाहिए, कारण-कार्य, साधन-साध्य वाली व्यवस्था उसके बिना बन नहीं सकती, एक नय पर विशेष जोर देने वाले भी क्या एक नय का आश्रय लेकर

व्यावहारिक जीवन भी जी पाते हैं?... क्यों व्यर्थ में एकान्त में आकर स्वात्म-वंचना करते हो, जो उभय नय का आलम्बन लेकर वस्तु-स्वरूप का बोधकर, बोधि का मार्ग स्वीकार करो, समाधि चाहते हो, ध्यान रखो— आगम के विरुद्ध करने वाले का कुमरण ही होता है, —ऐसा जिन-वचन है, जो अनुवीचि-भाषण नहीं करता, उसका समाधि-मरण नहीं होता।

अहो प्रज्ञ! क्या बाल-बाल-मरण तुझे स्वीकार है, ध्रुव सत्य है कि जिसका बाल-बाल-मरण निश्चित हो गया है, उसे आगम-विरुद्ध बोलने में किञ्चित् भी भय नहीं होता। अब स्व-प्रज्ञा से स्वयं पृच्छना करो कि मेरी भवितव्यता कैसी है?.... मति-श्रुत-ज्ञान को पाकर आगम के साथ स्वेच्छाचार नहीं करो, ये ज्ञान क्षयोपशमिक है, कब क्षीण हो जाएगा, कोई निश्चित नहीं है। भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी स्वेच्छाचारी को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जो मति-श्रुत-ज्ञान के बल से स्वच्छंद होकर बोलता है, उसे अरहन्त देव ने मिथ्यादृष्टि कहा है, उसे जिन-मार्ग से भिन्न समझना; जैसा-कि कहा भी है—

मदि-सुद-णाण-बलेण दु, सच्छंदं बोल्लइ जिणुदिदहं।

जो-सो होदु कुदिट्ठी, ण होइ जिणमग्गलग्गरओ।।

—रयणसार, गा. ३

यदि आगम-मार्गी बनकर चलना भूतार्थ दृष्टि से जिन-शासन-सेवी है, तो 'स्यात्' पदांकित वाणी को लेकर चलो, तब वाणी में जिनवाणी हो सकेगी, अन्यथा जग-अहितकर वचन हो जाएँगे और ज्ञानियों के वचन तो जग-हितकर ही होते हैं।

अहो मनीषियो! आगम-वचन पर ध्यान दो। यदि आप वीतराग-धर्म की प्रभावना चाहते हो, तो इस गाथा को पढ़ो—

जइ जिणमयं पवज्जइत मा ववहार-णिच्छाए मुयह।

एक्केण विणा छिज्ज तित्थं, अण्णेण उण तच्चं।।

—समयपाहुड, आत्मख्याति टीका 12 में उद्धृत

अर्थात् यदि तुम जैनधर्म का प्रवर्तन चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय —इन दोनों नयों को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहार-नय के बिना तो तीर्थ का नाश हो जाएगा और दूसरे निश्चय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जाएगा; —उक्त गाथा के सार को स्वयं विद्वानों, त्यागियों को विचार करना चाहिए। क्या आप लोग तीर्थ व वस्तु-स्वरूप के घातक होना चाहते हैं?... यदि नहीं....., तो उभय-नय निश्चय-व्यवहार का

कथन 'स्यात्' पद से युक्त होकर करें, जैसा-कि आचार्य भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है—

उभय-नय-विरोधध्वंसिनि स्यात्पदाटे,
जिन-वचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव॥

—अध्यात्म-अमृत-कलश, श्लो. 4 में उद्धृत

अर्थात् निश्चय-व्यवहार रूप जो दो नय हैं, उनमें विषय के भेद से परस्पर में विरोध है, उस विरोध को दूर करने वाले स्यात्पद से चिह्नित जिनेन्द्र भगवान् के वचन में जो रमण करते हैं, प्रचुर प्रीति-सहित अभ्यास करते हैं, वे पुरुष बिना-कारण अपने-आप मिथ्यात्व कर्म के उदय का वमन कर इस अतिशय रूप से परम ज्योतिरुच्चै, प्रकाशमान शुद्धात्मा का शीघ्र ही अवलोकन करते हैं।

ग्रंथकर्ता ने अनेकान्त-स्याद्वाद शैली का सर्वत्र उपयोग करते हुए विरोधाभास अलंकार के साथ मंगलाचरण किया है। परमात्मा को मुक्त भी कहा है और अमुक्त भी। सामान्यतः लोगों की अवधारणा यही होती है कि परमात्मा तो मुक्त ही है, उसे अमुक्त कैसे कहा जा सकता है? यह अवधारणा एकांगी है, सर्वथा मुक्त मानने पर गुणों का अभाव भी स्वीकारना पड़ेगा, जहाँ गुणों का अभाव होगा, वहाँ गुणी का अभाव हो जाएगा, फिर आत्मा का अभाव होना मोक्ष कहलाएगा। अहो! पुनः एक प्रश्न खड़ा हो जाएगा कि जब आत्मा का अभाव हो जाएगा; तो-फिर मोक्ष-सुख की जो महिमा गायी जाती है कि वहाँ पर अनन्त-सुख है, किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है, —इत्यादि सुखों का भोक्ता कौन होगा?... क्योंकि आप तो सर्वत्र एकान्त से मोक्ष मानते हैं, इसलिए प्रज्ञावन्त पुरुषों को मोक्ष के बारे में पुनः चिन्तन करना चाहिए। आचार्य-प्रवर ने जगत् में मोक्ष स्वीकारने वालों को एक नया चिन्तन दिया है कि अनेकान्त-दृष्टि से आत्मा मुक्त-अवस्था में भी सर्वथा मुक्त ही नहीं है, वह अमुक्त भी है; परन्तु ध्यान रखना— एकान्त से अमुक्त भी नहीं है। यदि सर्वथा अमुक्त ही स्वीकारेंगे, तो-फिर आत्मा सर्वथा व सर्वदा कर्म-कलंक से युक्त ही रहेगा और-फिर-तब मोक्ष का अभाव हो जाएगा, इसलिए मनीषियों को मोक्ष-तत्त्व पर अनेकान्त-दृष्टि से ही विचार करना चाहिए। यही कारण है कि अकलंक स्वामी तो एक-समय में एक

ही जीव को मुक्तामुक्त स्वीकारते हैं, भिन्न समयवर्ती भिन्न जीवों की अपेक्षा से नहीं कह रहे कि कुछ जीव मुक्त हैं, कुछ अमुक्त हैं, —इसलिए ऐसा नहीं समझना। नाना जीव की अपेक्षा भी नहीं समझना, एक-समय में एक ही जीव मुक्त भी है और अमुक्त भी है। स्पष्ट तो है, मंगल-सूत्र देखिए— “मुक्तामुक्तैकरूपो यः” मुक्त और अमुक्त होता हुआ एक-रूप है। पर एक-समय में ही मुक्त-अमुक्त कैसे है? आचार्य-देव कहते हैं— “कर्मभिः संविदादिना” कर्मों से मुक्त है, पर ज्ञानादि गुणों से मुक्त नहीं है, ज्ञानादि गुणों से अमुक्त है, यह अवस्था एक ही समय की है, जिन-शासन में मोक्ष की व्यवस्था बहुत ही तर्क-सम्मत है। मोक्ष का अर्थ अभाव नहीं है, मोक्ष का अर्थ छूटना है, भिन्न-भिन्न दो संबंधों का पृथक्-होना है। संयोग-पृथक्कीकरण मोक्ष है, जो छूटता है, वह सदरूप होता है। यदि मोक्ष का अर्थ अभाव-रूप है, तो किससे कौन छूटा? जो जिसके बन्धन में था, उन दोनों की सत्ता का स्वतंत्र होना अनिवार्य है, स्वतंत्र हुए बिना यह कैसे अवगत कराया जा सकता है कि अमुक द्रव्य से अमुक द्रव्य पृथक्-हुआ है, बन्ध-बन्धन-भाव जिसके साथ हैं, उन दोनों का धर्म भी स्वतंत्र होना चाहिए, —यही कारण है कि आत्मा का धर्म ज्ञान-दर्शन है, कर्म के धर्म स्पर्श, रस, गन्ध आदि वर्ण हैं। एक-दूसरे के धर्म पर-रूप नहीं होते, जीव का पुद्गल के साथ जो बन्ध है, वह असमान-जातीय पर्याय है। यहाँ पर यह विषय अच्छी तरह से समझ में आ गया होगा कि जब पुद्गल का बन्ध दो ध्रुव भिन्न द्रव्यों के साथ है, जब दोनों का विभक्त-भाव होगा, तब दोनों का अभाव नहीं होगा, वैसी अवस्था में दोनों द्रव्य पर-संबंध से रहित होकर स्वतंत्र-पने को प्राप्त होते हैं, जड़-मतियों ने मोक्ष का अर्थ अभाव समझकर स्व-अज्ञता का परिचय दिया है, द्रव्य का अभाव होता ही नहीं, द्रव्य का लक्षण ही सत् है—

द्वं सल्लक्खणियं उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्त-संजुत्तं ।

गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सब्बण्हू ।।

—पंचास्तिकाय, गा. 10

अर्थात् जो सत् लक्षण वाला है, उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य से संयुक्त है, अथवा जो गुण-पर्यायों का आधार है, उसे सर्वज्ञ-देव द्रव्य कहते हैं। यथार्थ में द्रव्य की सत्ता ही द्रव्य का लक्षण है। जैसे आर्द्र दीवार पर रज-कण लगे होते हैं, दीवार के सूखने पर

रज-कण स्वयमेव विगलित हो जाते हैं, उसी प्रकार से आत्मा के राग की आर्द्रता से कर्म-कण लग जाते हैं, वीतराग-भाव यथाख्यात-चारित्र के बल से वे कर्म-कण पृथक् हो जाते हैं, अथवा यों कहें कि जिस प्रकार अग्नि के माध्यम से स्वर्ण को पृथक् कर लिया जाता है, उसी प्रकार परम तपोधन वीतराग-योगी ध्यानाग्नि के माध्यम से कर्म-किट्टिमा को पृथक् कर शुद्धात्म-तत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं।

विभिन्न भारतीय दर्शनों की दृष्टि में मोक्ष:-

सांख्य दर्शन- सांख्य-मतावलम्बियों ने आध्यात्मिक (शारीरिक, मानसिक), आधिभौतिक और आधिदैविक इन दुःखों से सदा के लिए दूर हो जाने को मोक्ष माना है।

वैशेषिक दर्शन- "बुद्ध्यादिन्यायगुणोच्छेदः पुरुषस्य मोक्षः" अर्थात् वैशेषिक बुद्धि आदि विशेष गुणों का नाश हो जाने को ही आत्मा का मोक्ष मानते हैं।

बौद्ध दर्शन- "प्रदीप-निर्वाण-कल्पमात्म-निर्वाणम्" जिसप्रकार दीपक बुझ जाता है, उसीप्रकार आत्मा की संतान का विच्छेद होना मोक्ष है। साथ ही बौद्ध दर्शन दो प्रकार के निर्वाण मानता है— सोपाधि एवं निरुपाधि; सोपाधि-शेष निर्वाण में केवल अविद्या, तृष्णा आदि रूप आस्रवों का नाश होता है, शुद्ध चित्संतति शेष रह जाती है, किन्तु निरुपाधि-शेष निर्वाण में चित्त-सन्तति भी नष्ट हो जाती है, यहाँ मोक्ष के इस दूसरे भेद को ध्यान में रखकर उसकी मीमांसा की गयी है। इस सम्बन्ध में बौद्धों का कहना है कि जिस प्रकार दीपक के बुझा देने पर वह ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ आगे-पीछे कहीं नहीं जाता, अपितु वहीं शांत हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा की सन्तान का अंत हो जाना ही मोक्ष है, इसके बाद आत्मा की सन्तान नहीं चलती, वहीं शांत हो जाती है। बौद्धों के इस तत्त्व की मीमांसा करते हुए आचार्य-श्री ने बतलाया है कि उनकी यह कल्पना असत् ही है। मनीषियो! सत्यार्थ-स्वरूप का ज्ञान दीर्घ तपस्या का फल है, पापोदय में वह भाग्योदय कहाँ? जहाँ सर्वोदयी देशना प्रकट हो सके, जिनेन्द्र-देव के सर्वोदय-शासन का आश्रय ज्ञानी को पुण्योदय से ही प्राप्त होता है।

जैन-दर्शन में जो मोक्ष-तत्त्व की चर्चा की गई, वह बहुत तर्क-सम्मत एवं समीचीन है। यहाँ पर न गुणों के नाश की चर्चा है, न आत्मा के ही नाश की क्योंकि

जब गुण व आत्मा गुणी का ही अभाव जो जाएगा, तो-फिर मोक्ष का सुख कौन प्राप्त करेगा? इसलिए स्व-प्रज्ञा का विवेकपूर्वक प्रयोग करो, जब-तक हंसात्मा इस पर्याय में विराजती है, अरहंत की वाणी का अमृत-पान कर भ्रम-रोग का निवारण कर लीजिए। **सर्वार्थसिद्धि** ग्रंथ में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने मोक्ष की परिभाषा करते हुए लिखा है—

**निरवशेष-निराकृत-कर्म-मल-कलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्य
स्वाभाविक-ज्ञानादि-गुणमव्याबाधा-सुख-मात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति॥**

—सर्वार्थसिद्धि, 1/1

अर्थात् जब आत्मा भावकर्म, द्रव्यकर्म-मल-कलंक और शरीर को अपने से सर्वथा जुदा कर देता है, तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादिक गुण-रूप और अव्याबाध सुख-रूप सर्वथा विलक्षण-अवस्था उत्पन्न होती है, उसे आचार्य मोक्ष कहते हैं।

जिनागम में द्रव्यमोक्ष व भावमोक्ष के भेद से मोक्ष दो का कहा गया है :—

**सव्वस्स कम्मणो जो, खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेयो स भावमुक्खो, दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो ॥**

—द्रव्यसंग्रह, गा. 37

अर्थात् सब कर्मों के नाश का कारण जो आत्मा का परिणाम है, उसको भावमोक्ष जानना चाहिए और कर्मों की जो आत्मा से सर्वथा भिन्नता है, वह द्रव्यमोक्ष है। बन्ध के कारणों का अभाव तथा पूर्व-बद्ध कर्मों की निर्जरा से समस्त कर्मों का सदा के लिए छूट जाना मोक्ष कहलाता है। सिद्धालय में विराजे सिद्ध-भगवन्त स्वात्म-सुख में लीन हैं, अन्य पर-द्रव्य के आलम्बन से शून्य हैं, कहा भी है :—

**आत्मोपादान-सिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालम्,
वृद्धि-ह्रास-व्यपेतं विषय-विरहितं निःप्रतिद्वन्द्व-भावम् ।
अन्य-द्रव्यानपेक्षं निरुपमममितं शाश्वतं सर्वकालम्,
उत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ॥**

—सिद्धभक्ति, श्लो. 7

निज आत्म-रूप उपादान कारण से सिद्ध स्वयं अतिशय युक्त, बाधा से शून्य, विशाल, वृद्धि तथा ह्रास से रहित, विषयों से शून्य प्रतिद्वंद्व अर्थात् प्रतिपक्षता से वर्जित, अन्य

द्रव्यों की अपेक्षा से मुक्त, उपमा-रहित, अपरिमाण (अपार) नित्य और सर्व कला में उत्तम तथा अनन्त-सारता से युक्त, ऐसा जो परम सुख है, वह इस मोक्ष से उन सिद्धों को प्रकट हुआ है।

वे सिद्ध भगवान् ज्ञानावरण-कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान से सुशोभित हैं, दर्शनावरण-कर्म का क्षय होने से केवल-दर्शन-सहित होते हैं, वेदनीय-कर्म का क्षय होने से अव्याबाधत्व-गुण को प्राप्त होते हैं, मोहनीय-कर्म का विनाश होने से अविनाशी सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं, आयु-कर्म का विच्छेद होने से अवगाहना को प्राप्त होते हैं, नाम-कर्म का उच्छेद होने से सूक्ष्मत्व-गुण को प्राप्त होते हैं, गोत्र-कर्म का विनाश होने से सदा अ-गुरु-लघु-गुण से रहित होते हैं और अन्तराय का नाश होने से अनन्त-वीर्य को प्राप्त होते हैं।

आत्मा युगपद मुक्तामुक्त है। आठ कर्मों से मुक्त और आठ गुणों से युक्त है, यहाँ ऐसा भी नहीं समझना कि कर्म-नाश पूर्व में होता होगा, गुण बाद में आते हों; दोनों कार्य एक-साथ ही होते हैं, कर्म-नाश व गुण-प्रकट — सूर्य का उदय व अन्धकार का अभाव, प्रकाश-प्रताप-वत् समझना। अतः यहाँ अनेकान्त-दृष्टि से समझना कि आत्मा मुक्त है, आत्मा अमुक्त है, कथंचित् उभयात्मक है। सभी धर्मों को एक-साथ कहा नहीं जा सकता, इसलिए कथंचित् अवक्तव्य है, —इसप्रकार सप्तभंगात्मक होगा, —ऐसा समझना चाहिए।

अक्षयं परमात्मानं— यह विशेषण अपूर्व सिद्धान्त से संबंधित है, जिसके भूत में क्षय नहीं हुआ, वर्तमान में क्षय नहीं हो रहा, भविष्य में क्षय नहीं होगा, त्रैकालिक ध्रुव है, वे अक्षय परमात्मा हैं।

ज्ञानियो! ध्यान रखो— भक्ति की भी भाषा क्यों न हो?... पर सिद्धान्त से युक्त होना चाहिए, जहाँ जैन सिद्धान्त के घातक शब्द का प्रयोग हो, वहाँ भक्ति कहाँ रही?... अक्षय विशेषण पर चर्चा करना अनिवार्य है। विद्वानों व त्यागियों को विशेष ध्यान देने योग्य है, चाहे स्वयं की भक्ति का प्रसंग हो अथवा अन्य की पूजा-सत्कार का, लेकिन सिद्धान्त का खण्डन नहीं होना चाहिए। जहाँ भी सिद्धान्त का घात होता दिखे, वहाँ मौन होने पर भी बोलना चाहिए, —ऐसी आगम-आज्ञा है।

जैन-दर्शन में अप्रतिष्ठित प्रतिमा पूज्य नहीं है, फिर फोटो-तस्वीरें कैसे पूज्य हैं? तीर्थंकर भगवन्तों के साथ वेदी पर आज अपूज्यों की तस्वीरें रखी जाने लगी हैं तथा भिन्न स्थानों पर भी रखकर आचार्य, मुनियों की तस्वीरों की पूजा प्रारंभ है; इसे

त्यागी-गण भी जानते हैं, पर तब भी मौन हैं। सामान्य-जन आगम कम पढ़ते हैं, अनुकरण अधिक करते हैं, क्या तस्वीरों की पूजा उचित है? ज्ञानियो! प्रतिष्ठा-ग्रंथों के अनुसार तीर्थंकर की वेदी पर व अन्यत्र रखकर तीर्थंकर की तस्वीर की पूजा आगम-सम्मत नहीं है, फिर अन्य की कैसे हो सकती है? इनकी पूजा यदि मान्य होती, तो-फिर पंचकल्याणक प्राण-प्रतिष्ठा की क्या आवश्यकता होती? व्यर्थ में लाखों का द्रव्य प्रतिष्ठा में व्यय क्यों किया जाता है? दूसरी भूल— भजनों-वृन्दावलियों में प्रारंभ है, ध्यान दो— भजन कह कर मत टालना। लोग भजनों के माध्यम से सिद्धान्तों को विपरीत समझ लेते हैं—“कभी वीर बन के महावीर बन के चले आना, गुरु जी चले आना” यह भजन दूसरे की नकल है, पूर्ण श्रमण-संस्कृति के विरुद्ध है, श्रमण-संस्कृति में अवतार-वाद को कोई स्थान नहीं है, किसी भी साधक के लिए तीर्थंकर का अवतार बोलना मिथ्यात्व है।

हमारे यहाँ तीर्थंकर भगवान् अवतार नहीं लेते, एक तीर्थंकर के उपरांत दूसरे नए व भिन्न तीर्थंकर का जन्म होता है, न-कि वही अवतार लेते हैं। वर्तमान में मूल सिद्धान्त को भूलकर कुछ संघों व गृहस्थों के द्वारा अवतरण-दिवस मनाना या अवतरण कहना आगमानुकूल नहीं है। आचार्य रविषेण स्वामी ने **पद्मपुराण** में स्पष्ट लिखा है कि तीर्थंकर अवतार नहीं लेते, वे तो जन्म लेते हैं—

आचाराणां विघातेन कुदृष्टिनाज्य संपदा।

धर्म-ग्लानिपरिप्राप्तमुच्छ्रयन्ते जिनोत्तमाः॥

—पद्मपुराण, 5/206

अर्थात् जब आचार के विघात और मिथ्यादृष्टियों के वैभव से समीचीन-धर्म ग्लानि को प्राप्त हो जाता है, प्रभाव-हीन होने लगता है, तब तीर्थंकर उत्पन्न होकर उसका उद्योत करते हैं, न कि अवतार लेते हैं। मनीषियो! सिद्धान्त के विपरीत प्रवृत्ति को देखते हुए भी मौन रखना अहं व स्वार्थ का प्रतीक है। संस्कृति के प्रति निर्मल-भाव हों, तो **ज्ञानार्णव** ग्रंथ की कारिका पर ध्यान दो :—

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धान्तार्थ-विप्लवे।

अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने॥

—ज्ञानार्णव, 1/15

अर्थात् धर्म-नाश के उपस्थित होने पर अथवा परमागम के अर्थ के नष्ट होने पर सत्पुरुषों को पूछे बिना भी उसके स्वरूप को प्रकाशित करने वाला सम्भाषण करना

चाहिए। अक्षय अविनाशी परमात्मा पुनः संसार में नहीं आते। लोक में ऐसी मान्यता है कि जब धर्म की हानि होती है, असुरों की वृद्धि हो जाती है, तब परमात्मा मृत्युलोक में अवतरित होते हैं। ज्ञानियो! आचार्य भगवन् ने अक्षय पद से उक्त मिथ्याधारणा का उपशमन किया है। एक बार जीव द्रव्य शुद्ध होने पर पुनः अशुद्ध नहीं होता, पुद्गल द्रव्य तो शुद्ध होने पर पुनः अशुद्ध हो जाता है, आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है:-

काले कल्पशतेऽपि च, गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।

उत्पादोऽपि यदि स्यात्, त्रिलोक-संभ्रान्ति-करणपटुः॥

—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लो. 133

अर्थात् यदि तीनों जगत् में खलबली पैदा करने वाला उपद्रव भी हो, तो भी सैकड़ों कल्प-कालों के बीत जाने पर भी सिद्धों में कोई विकार दृष्टिगोचर नहीं होता। भव-भ्रमण का कारण कर्म था, जहाँ कर्म का नाश हो जाता है, वहाँ संसार-परिवर्तनों का नाश स्वयमेव हो जाता है। बीज अंकुरवत् हैं, बीज का नाश होते ही अंकुर का नाश तो स्वयमेव सिद्ध है।

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।

कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः॥ —तत्त्वार्थसार, 8/7

अर्थात् जिस प्रकार बीज के अत्यन्त जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्म-रूपी बीज के अत्यन्त जल जाने पर संसार-रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार परमात्मा के लिए प्रयुक्त 'अक्षय' विशेषण सार्थक है।

“परमात्मानं”—परम+आत्मा=परमात्मा अथवा “परं उत्कृष्टं आत्मानम् अर्थात् पर यानी उत्कृष्ट आत्मा को, परा सर्वोत्कृष्ट पद को प्राप्त, ‘मा’ केवलज्ञानादि रूप अन्तरंग लक्ष्मी और समवसरण आदि विभूति-रूप बाह्य लक्ष्मी जिसके हैं, वह परमात्मा अर्थात् अर्हन्त भट्टारक या सिद्ध परमेष्ठी को “नमामि” नमस्कार करता हूँ, ज्ञान ही आकार है जिसका, ऐसे परमात्मा ज्ञानमूर्ति हैं। ज्ञान आत्मा का धर्म है, धर्मी धर्म से भिन्न नहीं होता है, अतः परमात्मा गुण-रहित नहीं है, वे अनन्त ज्ञानादि गुणों से युक्त हैं। मुक्ति के विषय में लोक में अनेक भ्रम हैं, कुछ-लोग आत्मा को सदा शुद्ध ही स्वीकारते हैं, कुछ अज्ञ-जन आत्मा को सर्वदा कर्म-सहित स्वीकारते हैं, —ऐसी एकान्त-मान्यता का यहाँ पर आचार्य महाराज ने बहुत ही मृदुल भाव से निरसन कर दिया है।

बद्ध का ही मोक्ष है। मोक्ष का मोक्ष नहीं है। जैन कुल में जन्म लेकर, आगम-अध्ययन के बाद अल्पधी-जनों की मान्यता है कि आत्मा तो शुद्ध ही है। अहो ज्ञानियो! स्वभाव से सिद्ध है, कर्म-निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से तो सभी संसारी जीव सिद्ध के समान शुद्ध हैं; पर सर्वदा प्रत्येक आत्मा को शुद्ध मानना सदा शैव-दर्शन की पुष्टि है। विपरीत मान्यता को स्वीकारने के समय एक क्षण विचार तो कर लिया करो, पूर्व में ही आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी से पृच्छना कर लेते, तो उत्तर प्राप्त हो जाता कि आत्मा निरपेक्ष दृष्टि से प्रत्येक स्थिति में क्या शुद्ध ही है? नहीं, ज्ञानी! **पंचास्तिकाय** ग्रंथराज में आचार्य-देव स्पष्ट कह रहे हैं—

णाणावरणादीया भावा जीवेण सुट्ठु अणुबद्धा।

तेसिमभावं किच्चा अभूदपुब्बो हवदि सिद्धो।।

—पंचास्तिकाय, गा. 20

अर्थात् इस संसारी जीव के द्वारा ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म की अवस्थाएँ गाँठ-रूप में बाँधी हुई हैं, उन-सब का नाश करके अभूतपूर्व अर्थात् जो पहले कभी नहीं हुआ, —ऐसा सिद्ध हो जाता है। अन्य मुक्त आत्माओं के समान, मुक्त होने के कारण ईश्वर भी अनादि से मुक्त नहीं है, —ऐसा कथन होने से यहाँ कर्मों से मुक्त-स्थित-रूप कथन के द्वारा ईश्वर की अनादि मुक्त-अवस्था-रूप मान्यता को खंडित किया गया है तथा आत्मा संसारावस्था में सदा कर्म-सहित ही रहता है, कभी भी उससे मुक्त नहीं होता, इस एकान्त-मान्यता का भी निराकरण हुआ, क्योंकि कर्मों का अनादि-बन्धन तथा बाद में उनसे मुक्ति स्वीकार न करने पर संसार और मोक्ष की व्यवस्था ही सिद्ध नहीं होती है।

ज्ञानादि से अमुक्त-भाव है, —इस कथन द्वारा बुद्धि और विशेष गुणों का अभाव हो जाना पुरुष का मोक्ष है, यह नैयायिक-वैशेषिक की मान्यता है तथा आत्मा ज्ञान से भिन्न ही है, —वैशेषिक मान्यता, —इन मान्यताओं का निराकरण हो जाता है। 'अक्षय' विशेषण से शून्यवादिता, नैरात्म्यवादिता और क्षण-क्षयिकवादिता रूप मान्यताएँ खंडित हुई। 'ज्ञानमूर्ति' विशेषण द्वारा ज्ञान से आत्मा का हीनाधिक प्रमाणपना निराकृत हुआ। "परम" विशेषण द्वारा आत्मा की बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा इन तीनों दशाओं का कथन-पूर्वक जिसप्रकार बहिरात्माओं को अन्तरात्मा-दशा आराध्य है, उसीप्रकार आचार्य भगवंत **अकलंक देव** ने अन्तरात्माओं को परमात्म-दशा की आराध्यता का प्रतिपादन किया है ।।१।।

श्लोक-2

उत्थानिका— यहाँ पर जिज्ञासा करता है— भगवन्! जो ज्ञायक-स्वभावी परम तत्त्व है, वह कैसा है?....

समाधान— आचार्य-भगवन् कहते हैं—

सोऽस्त्यात्मा सोपयोगोऽयं¹ क्रमाद्धेतुफलावहः ।

यो ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तः² स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ।।

अन्वयार्थ— (अयं) जो, (सोपयोगः) दर्शन-ज्ञान-उपयोग वाला है, (क्रमात्) क्रम से, (हेतुफलावहः) कारण और उसके फल यानी कार्य को धारण करने वाला है, (ग्राह्यः) ग्रहण करने योग्य है, (अग्राह्य) अग्राह्य है, (अथवा) (अग्राही) यानी ग्रहण करने वाला नहीं है, (अनाद्यन्तः) अनादि और अनन्त है, (स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप है, (सः) वह प्रसिद्ध है, (अयं) (इस प्रकार) यह जीवित शरीर में वर्तमान, (आत्मा) आत्मा, (अस्ति) है ।।2।।

परिशीलन— अनादि-अविद्या के वश होकर अज्ञ जीवों ने परम-तत्त्व का कथन विपरीत रूप से करके स्वात्मा का भवार्णव में पतन किया है, सत्य का कथन परम-तत्त्व को अनुभव करने वाले, मोह से आच्छादित पुरुष सम्यग्रूपेण नहीं कर पाते हैं; क्या करूँ?...., मिथ्यात्व का प्रभाव ही ऐसा है, जो भूतार्थ को अभूतार्थ-रूप देखता है। सत्यार्थ को सत्यार्थ समझने के लिए भी प्रबल पुण्य चाहिए पड़ता है, मिथ्या धारणा के पंक से स्वात्मा की रक्षा विवेकशील प्राणी ही कर पाता है। जिस जीव की संसार-संतति दीर्घ है, उसे परम-तत्त्व के प्रति जिज्ञासा-भाव भी नहीं आता, अपने क्षयोपशम का उपयोग जड़ द्रव्य में करता है, पर चैतन्य-ज्ञान स्वात्म-द्रव्य के प्रति उदास रहता है। ज्ञानियो! यह अन्तरंग का विषय है, पर समझो कि बड़े-बड़े दीर्घ तपस्वी भी परम-तत्त्व के प्रति उदासीन दिखायी देते हैं। उपयोग की धारा एक-समय

1. प्राचीन संस्कृत-टीका में व पण्डित खूबचन्द्र शास्त्री ने भी "सोपयोगोऽयं" पाठ ही स्वीकार किया है, जबकि कुछेक विद्वान् "सोपयोगो यः" पाठ मानते हैं, बहु-प्रति-उपलब्धता भी 'अयं' वाले पाठ की ही है, अतः वही यहाँ स्वीकारा गया है।
2. "ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तः" के स्थल पर कुछ विद्वान् व कुछ प्रतियो में "ग्राह्यो ग्राह्यनाद्यन्तः" पाठ भी मानते हैं, पर अनेकान्तात्मक विधि-निषेध-अर्थ में वह पाठ संगत नहीं लगता।

में एक ही रहती है, इस सिद्धान्त के अनुसार चाहे हम अपने उपयोग को परम-तत्त्व में ले जाएँ, चाहे अन्य पर-कार्यों में, एक-समय में एक ही कार्य हो सकता है। निर्माण-कार्य व निर्वाण-कार्य दोनों के कारण भिन्न हैं, कारण से ही कार्य की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है। यह तो सहज सिद्धान्त है कि कार्य की भिन्नता जहाँ होगी, वहाँ कारण भिन्न उपस्थित किये जाते हैं; देखो—रोटी बनाने के भाव यदि माँ के हैं, तो तवा, पानी, अग्नि से कार्य हो जाता है; वहीं पूड़ी बनानी है, तो कारण भिन्न होते हैं—कढ़ाई, घृत आदि साधन-सामग्री चाहिए। मुमुक्षुओ! उसीप्रकार मोक्ष-मार्ग में समझना चाहिए, —भिन्न साधन से भिन्न साध्य की सिद्धि नहीं होती। इस द्वितीय कारिका में आचार्य-देव स्वयं हेतु, हेतु-फल की चर्चा कर रहे हैं। अब स्वयं विचार करो कि रत्नत्रय-धर्म का वेष धारण करके भी यदि साधक अन्य कार्य करता है, अन्य कार्य से मेरा प्रयोजन यह समझना कि जो रत्नत्रय धर्म है, निश्चय व व्यवहार संयम का पालन करते हुए षट् आवश्यकदि मूलोत्तरगुणों के पालन से भिन्न जो भी कार्य श्रमण करते हैं, तो वे उनके लिए सभी अन्य कार्य हैं। कितनी प्रबल साधना के योग से स्व-कार्य की उपलब्धि हेतु जिन-मुद्रा धारण करने को मिलती है। ऐसी त्रिलोक-पूज्य मुद्रा धारण करके भी जीव निज परमात्म-तत्त्व के कार्य को नहीं साध सका, तो यही मानना कि सम्राट् पद पर प्रतिष्ठित होकर भी वह भीख माँगने निकला है। कितना हास्यास्पद होगा, ज्ञानी! थोड़ा-सा चिन्तवन कर, परम तत्त्व की खोज हेतु निकलने के उपरांत भी कोई जीव अपनी परिणति को विषयों के प्रति किञ्चित् भी ले जाता है, तो यही समझना कि वह झाड़ी में छुपे शिकारी-जैसा है एवं संयम की मुद्रा में चारित्र की चिड़िया का घात कर रहा है। स्व-समय की पहचान कर लो; भविष्य खोटा आने वाला है। छठवें काल में न कोई परम-तत्त्व को समझने वाला होगा, न समझाने वाला ही मिलेगा। अभी समय है, तब-तक अपर तत्त्वों से दृष्टि को हटाकर एकाग्र-चित्त होकर स्व-परम-तत्त्व को पहचानो। वह कैसा परम-तत्त्व है?.....“सोऽस्यात्मा सोपयोगोऽयम्” अर्थात् वह-यह उपयोगात्मक आत्मा है, आत्मा उपयोग-रहित कभी नहीं रहती, उपयोग आत्मा का धर्म है, सत्यार्थ तो यही है कि आत्मा का लक्षण अन्य नहीं है। कोई कहे कि जो खाता-पीता है, चलता है। वह जीव है, —यह परिभाषा आत्मा की सार्वकालिक नहीं है, कारण पूछना होगा- क्यों?....कारण यह है कि जो मूर्छित व्यक्ति है, वह किसी एक समय में खाता भी नहीं है, पीता भी नहीं है और चलता भी नहीं है, तो क्या वह उस समय जीवत्वपने से रहित हो गया?..... दूसरी

बात ध्यानस्थ योगी चलते भी नहीं हैं, उस समय खाते-पीते भी नहीं हैं....., तो ऐसे योगी क्या आत्मपने से शून्य हो गये? आत्मत्वपने से शून्य हो जाएँगे, तो जड़ता आ जाएगी, जड़ता जहाँ है, वहाँ चैतन्यता का अभाव हो गया, जब ध्यानस्थ योग की चैतन्यता नष्ट हो गई, यानी जीवत्व-भाव का अभाव हो गया, तो-फिर स्वयं विचार कीजिए कि ऐसी स्थिति में ध्यान का फल निर्वाण किसे प्राप्त होगा?..... क्योंकि आपके सिद्धान्त से आत्मा लोष्टवत् हो गई, आगे भी आपकी परिभाषा से सिद्धान्त का घात होता है; समझो— अयोग केवली एवं सिद्ध भगवन्त कहीं भी चलते-फिरते नहीं, खाने का तो प्रश्न ही नहीं है, आहार-संज्ञा छठवें गुणस्थान तक ही होती है, सातवें गुणस्थान से आहार-संज्ञा का ही अभाव हो जाता है, अतः आपके कथन अनुसार सिद्ध भगवान् अचेतन हो जाएँगे। ज्ञानियो! संसार-अवस्था में राग के साथ जो प्रवृत्ति है, उसी में आहारादि है, राग-रहित अवस्था में नहीं, जीव की पहचान चेतन-गुण से करना। आचार्य भगवन् उमास्वामी महाराज ने जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थ **तत्त्वार्थसूत्र** में जीव का लक्षण उपयोग ही किया है; यथा—

उपयोगो लक्षणम् ॥

—तत्त्वार्थसूत्र, 2/8

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने **सर्वार्थसिद्धि** ग्रन्थ में उपयोग के इस लक्षण की बहुत सुंदर व्याख्या की है—

उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः ॥

—सर्वार्थसिद्धि, 2/8 पैरा, 271

जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्तों से होता है और चैतन्य का अन्वयी है अर्थात् चैतन्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता, वह परिणाम उपयोग कहलाता है। आत्मा उपयोग के अभाव में कभी नहीं रहती, चैतन्य गुण ही जीव का सत्यार्थ लक्षण है, चेतना किसी भी अवस्था में नष्ट नहीं होती, जीव चाहे मूर्च्छित हो, चाहे सुप्त-अवस्था में हो अथवा सिद्ध-अवस्था में हो, चैतन्य-धर्म टंकोत्कीर्ण ज्ञायक-स्वभावी रूप त्रैकालिक है— संसारी और मुक्त चैतन्य में अन्तर इतना समझना कि संसारी जीव अशुद्ध चेतना में जीता है, मुक्त जीव शुद्ध चेतना से युक्त होते हैं, परन्तु चैतन्य-धर्म त्रैकालिक रहता है, वह किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र में, अन्य किसी भी अवस्था में विनाश को प्राप्त नहीं होगा, —यही जीव का सत्यार्थ लक्षण है। चार प्रकार का दर्शन, आठ प्रकार का ज्ञान सामान्यतः जीव का लक्षण है, निश्चय से शुद्ध

ज्ञान, शुद्ध दर्शन जीव का लक्षण है। केवलज्ञान, केवलदर्शन ही परम उपादेय-भूत हैं। आत्मा ज्ञान-दर्शन से भिन्न कभी नहीं होती। ध्रुव, अखण्ड, चैतन्य-पिण्ड, ज्ञान-घन, आनन्द-कन्द जीव-द्रव्य निज-भाव में त्रिकाल व्यवस्थित रहता है, सावरण दशा में मति-श्रुत-अवधि मनःपर्याय ज्ञान तथा चक्षु-अचक्षु अवधि तीन दर्शन व चार ज्ञान के साथ जीव रहता है, यह क्षायोपशमिक दशा है, क्षायिक-अवस्था में जीव क्षायिक ज्ञान व क्षायिक दर्शन से युक्त होता है, यह क्षायिक ज्ञान-दर्शन युगपद् होता है, जो-कि निरावरण रहता है, जब आत्मा बहिरात्मपने से रहित होकर अन्तरात्मा होती है, (तब वह) अन्तरात्मा आत्म-विकास करते हुए परमात्मा की संज्ञा को प्राप्त होती है। परमात्म-पद की प्राप्ति कैवल्य ज्ञान (शुद्धज्ञान) व कैवल्य दर्शन (शुद्धदर्शन) के साथ ही होती है। जब-तक जीव को केवलज्ञान, केवलदर्शन प्रकट नहीं होता, तब-तक ज्ञानियो! परमात्म-संज्ञा प्राप्त नहीं होती, —यही भाव जिन कहलाते हैं, इन्हें ही अरहन्त कहते हैं, तेरहवें गुणस्थान में जीव परमात्मा बन जाता है। ये सकल परमात्मा कहलाते हैं, अशरीरी सिद्ध भगवान् निकल परमात्म-पद को प्राप्त होते हैं, सकल-निकल उभय परमात्मा शुद्ध ज्ञान-दर्शन से मण्डित हैं। मनीषियो! यहाँ पर यह स्पष्ट समझना— जो जीव चतुर्थादि गुणस्थान में ही अपने-आपको शुद्ध परमात्मा कहते हैं, उन्हें नय-विवक्षा से कहना चाहिए, वे शुद्ध निश्चय-नय से कहें, तो ठीक है, बिना नय-विवक्षा के यदि परमात्मा की संज्ञा स्वयं को देते हैं, तो यह केवली परमात्मा का अवर्णवाद है। केवलज्ञानी परमात्मा आहार-निहार से परे होते हैं। समोसरण में परमौदारिक शरीर से युक्त सप्त धातु से रिक्त होते हैं,— पर ये रागी-भोगी, मृगनयनी को नयनों में स्थापित किये, काम-भोग में लिप्त, वित्त-वृत्ति वाले जीव स्वयं को परमात्मा कहने लगे तो, ज्ञानी! ध्यान दो— वीतराग-शासन में भोग त्यागने की आवश्यकता नहीं, द्रव्य-दृष्टि से शुद्ध सत्ता का ज्ञान तो होता है, पर अनुभूति नहीं होती, बिना तत्पर्याय की प्रत्यासत्ति (तद् पर्याय युक्त) के तदरूप अनुभवन नहीं होता, जैसे—कि सम्पूर्ण व्यंजन, खाद्य पदार्थ गेहूँ से बनते हैं, पर गेहूँ के खाने पर वे स्वाद नहीं आते, उन व्यंजनों की पर्याय का होना अनिवार्य है, पूड़ी पर्याय बनाने पर ही पूड़ी का स्वाद आता है, उसी प्रकार अरहन्त-सिद्ध पर्याय के प्रकट होने पर ही शुद्ध ज्ञान-दर्शन-स्वभावी परमात्मपद की अनुभूति होती है। अन्य अवस्था में ज्ञानानुभूति श्रद्धानुभूति तो हो सकती है, पर परमात्मा की साक्षात् जो अनुभूति है, वह तो परमात्मा बनने पर ही होगी। परोक्षानुभूति ज्ञान से हो सकती है, लेकिन प्रत्यक्ष परमात्मानुभूति तो परमात्मपद की प्राप्ति होने पर ही होगी। यहाँ विशेष ध्यान देना—

आगम-वचन पर ही आस्था रखना चाहिए, जैसा पूर्वाचार्यों ने कथन किया है; अन्यथा उस प्रकार समझना आत्मा उपयोगमयी है, इस सिद्धान्त सूत्र से नैयायिक दर्शन की एकान्त दृष्टि का निरसन किया, जो-कि गुण-गुणी को भिन्न ही मानता है, आत्मा को ज्ञान से सर्वथा पृथक् स्वीकारने वाले नैयायिक मति वाले लोगों को यह समझना चाहिए कि जैसे— अग्नि से उष्णता को भिन्न नहीं किया जा सकता, उसीप्रकार आत्मा को ज्ञान-गुण से पृथक् नहीं किया जा सकता है। अतः आत्मा उपयोग-मयी है, —यह सिद्धान्त ध्रुव सत्य है। उपयोग लक्षण आत्मा का असाधारण गुण है, आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता। द्वितीय विशेषण “क्रमाद्धेतुफलावहः” क्रम से कारण और उसका फल यानी कार्य धारण करने वाला है, कार्य-कारण पर भी ध्यान देना, विज्ञ-पुरुष! तत्त्व पर निर्णय करने में कार्य-कारण-भाव पर विचार करना अनिवार्य है, कारण-कार्य-भाव के ज्ञान से शून्य होने के कारण अज्ञ प्राणी क्लेश को प्राप्त हो रहे हैं। कार्य हुआ है, तो कारण अवश्य होना चाहिए। बिना कारण के कार्य होता नहीं है, चाहे दुःख हो, चाहे सुख-रूप कार्य दिखे, ...पर ज्ञानी! कार्य को देखकर निर्णय नहीं करना, कार्य के साथ कारण पर भी ध्यान देना, इसीलिए विज्ञ पुरुष तत्त्व-निर्णय कारण-कार्य-भाव को देखकर ही लेते हैं। वर्तमान दुःख पर्याय को देखकर क्लेश को प्राप्त होने की अपेक्षा एवं दूसरों को स्व-दुःख का हेतु बनाने के पूर्व दुःख कार्य के कारण को खोज लेता, तो संभवतः न उतना क्लेश होता और न ही दूसरों पर दोष देता, भौतिक कार्य-कारण-भाव के चिन्तन मात्र से सम्पूर्ण समाधान हो जाते हैं। प्रत्येक कार्य के उभय कारण होते हैं— अन्तरंग और बहिरंग; कभी-कभी बहिरंग कारण तो व्यक्ति देख लेता है, पर अन्तरंग कारण पर ध्यान ही नहीं देता। यही कारण है कि बहिरंग कारणों को दोष देकर नवीन कर्मास्रव और-कर-लेता है। जिसका फल भविष्य में पुनः आएगा, फल आने पर बहिरंग कारण को बार-बार देखता रहेगा और कारण से कार्य, कार्य से कारण, —ऐसा होते-होते अनन्त-भव व्यतीत हो जाएँगे, पर संसार की संतति का अन्त नहीं हो सकेगा।

अहो आत्मन्! शान्त भाव से एक क्षण चिन्तन करो, नरक पर्याय को प्राप्त एक जीव कार्य को देखकर कि वह अति-दुःख को प्राप्त हो रहा है और अन्य नारकियों द्वारा पीड़ित करने पर रोता-चिल्लाता है, कहता है कि ये मुझे क्यों पीड़ित कर रहे हैं, इनका मैंने क्या बिगाड़ा है, बिना कारण के क्यों सता रहे हैं?...—ऐसा चिन्तन करने वाला नारकी तीव्र वेदना को प्राप्त होता है, वहीं एक मन्द-कषायी, भद्र-परिणामी, सम्यक्त्वगुण-भूषित अथवा सम्यक्त्व के सम्मुख बहिरंग कारण के साथ अन्तरंग

कारण का चिन्तन करता है कि मेरे दुःख का कारण यह नारक भूमि, या ये नारकी कैसे हो सकते हैं?... इस भूमि पर असुर जाति के देव भी आ रहे हैं, तीसरे नरक तक अम्बावरीष देव भी आ रहे हैं और नारकियों को परस्पर लड़ाते हैं, तब वह भद्र-परिणामी विचार करता है कि नरक-भूमि कष्ट देती, तो इन देवों को कष्ट क्यों नहीं हो रहा, दूसरे नारकी जीव कष्ट देते हैं, तो इन देवों को क्यों नहीं देते हैं, मेरे कष्ट के ये बाह्य निमित्त अवश्य हैं। पर्याय की प्रत्यासत्ति से यह समझ में आ रहा है, पर इसका अन्तरंग कारण अवश्य होना चाहिए। नरक-पर्याय क्या है, पर इसका अन्तरंग मेरे द्वारा किये गये अशुभ कर्म ही होंगे, मुझे सद्गुरुओं ने बहुत उपदेश दिये थे, पर मैंने ध्यान ही नहीं दिया और बहु-आरंभ-परिग्रह का संचय कर अति-संकलेश परिणामों से पूर्व-पर्याय को पूर्ण किया था, उसका ही ये फल है। ये नरक भूमि, नारकी जीव तो बाह्य निमित्त मात्र हैं, पूर्व का कारण ही मेरे दुःख का मुख्य साधन है, जो वर्तमान है, दुःख तो कार्यभूत है।

अहो मुमुक्षुओ! यहाँ नरक व नारकी का दृष्टान्त तो उपलक्षण मात्र है। शेष जीवों को भी उक्त विषय पर चिन्तन करना चाहिए। वर्तमान जीवन में उपस्थित हुए आतप एवं बहु-दुःखों को देखकर व्यथित तथा अन्य को दोष न देकर कार्य-कारण-भाव पर चिन्तन करना चाहिए। स्वयं के किये पूर्व के कर्म न होते तो, जो दुःख के निमित्त दिखायी दे रहे हैं, वे दुःख-रूप फलित क्यों होते?... क्या कारण है? यह प्रश्न स्वयं ही उठाना चाहिए। बिना कारण के भी कोई कार्य घटित होते हैं क्या?... यह सिद्धान्त है कि कार्य की निष्पत्ति कारण के सद्भाव में ही होती है, चाहे वह लौकिक हो, चाहे पारमार्थिक, यही कारण है कि महान् तार्किक दर्शनाचार्य अकलंकदेव स्वामी ने हेतु व हेतु-फल की चर्चा की है। हेतु कारण है, हेतु-फल कार्य है, शुभ-भाव कारण है, शुद्ध-भाव कार्य है। कारण-कार्य समयसार को अध्यात्म-शास्त्रों में सर्वत्र प्ररूपित किया है। एक-समय पूर्व का भाव कारण है, द्वितीय समय का कार्य है। पूर्वचर हेतु, उत्तरचर हेतु को न्याय ग्रन्थों से समझना चाहिए। शान्त भाव से बैठकर एकान्त में व्यक्ति ध्यान को प्राप्त कर ले, पर-दृष्टि से भिन्न होकर स्व-दृष्टि में लीन हो जाए, एक श्वास-प्रमाण-काल भी तत्त्व-चिन्तन से शून्य नहीं होना चाहिए। क्या अन्य मेरा कुछ कर पाएगा, कारण-कार्य भाव ही मेरे सुख-दुःख के साधन हैं; अन्य लोक का द्रव्य बहिरंग कारण है, अन्तरंग कारण स्व-द्रव्य भाव-कर्म को ही समझना चाहिए। संसार-भ्रमण, मोक्ष-गमन इन दोनों का कार्य-कारण भाव है, संसार में जीव भटक रहा

है, सर्वप्रथम इस पर विचार करें, चतुर्गति-भ्रमण कार्य है, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि संसार-भ्रमण के कारण हैं।

अहो मुमुक्षुओ! संसार के कार्य को समाप्त करना चाहते हो, तो ध्यान दो, मिथ्यात्वादि कारणों का अभाव सर्वप्रथम करना पड़ेगा, लोक में अज्ञ प्राणी कार्य अच्छा चाहते हैं, पर कारणों पर ध्यान नहीं देते, सहज भाव से स्वयं विचार करो कि कैसे कार्य श्रेष्ठ हो सकेगा, सिद्धान्त का यह नियम है कि “कारणसदृशं कार्य भवतीति” कारण के सदृश ही कार्य होता है। बन्ध के जो कारण हैं, वे ही संसार के कारण हैं, बिना बन्ध हुए संसार नहीं चलता, इसलिए तत्त्व-ज्ञानियो! संसारातीत निर्वाणभूत कार्य फलित करना है, तो सर्वप्रथम संसार-वृद्धि के कारणों का त्याग करना होगा और मोक्ष के कारणों में संलग्न होना होगा, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, —ये कारण-समयसार हैं। निर्वाण-रूप उसका फल कार्य-समयसार है। जिन-शासन में दो ही बातें हैं —कारण, कार्य; —जिसे हम अनेक प्रकार से कह सकते हैं— मार्ग, मार्ग का फल, आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार ग्रन्थ में कारण-कार्य-भाव को मार्ग एवं मार्ग का फल कहकर समझाया है, यथा—

मग्गो मग्गफलंति य, दुविहं जिणसासणे समक्खादं।

मग्गो मोक्ख उवाओ, तस्स फलं होइ णिव्वाणं।।

—नियमसार, गा. 2

मार्ग और मार्ग का फल, इन दो प्रकारों का जिन-शासन में कथन किया गया है, मार्ग तो मोक्ष का उपाय है और उसका फल निर्वाण है, यह जो उपाय कहा है, वह कारण है; फल जो कहा है, वह कार्य है। सात तत्त्वों में जब बन्ध-तत्त्व का विचार करते हैं, तब आस्रव कारण दिखता है, बन्ध कार्य है; यह संसार का कारण है; जब परमार्थ-दृष्टि डालते हैं, तब संवर-निर्जरा-तत्त्व कारण-रूप हैं, मोक्ष-तत्त्व कार्य-रूप है, यह कारण-कार्य-भाव सातों तत्त्वों में लक्षित होता है, सात तत्त्व जीव-पुद्गल के संयोग-भूत हैं, इसलिए कथंचित् आत्मा सात-तत्त्वात्मक है और आत्मा कैसा है?..... आचार्य-देव कहते हैं —“ग्राह्य भी अग्राह्य भी; ज्ञानी! —यही तत्त्व-व्यवस्था है, इसे ही तो समझना है, इसे समझने के लिए स्याद्वाद-शासन का आलम्बन लेना आवश्यक है, अज्ञ-पुरुषों ने आत्मा के धर्मों को समझा ही कहाँ है? बिना अनेकान्त दृष्टि से जो तत्त्व को समझना चाहते हैं, वे पलाश-पुष्प से सुगंध प्राप्त करना चाहते हैं। सर्वप्रथम दृष्टि को निर्मल करो, फिर आत्म-तत्त्व के सत्यार्थत्व का ज्ञान होगा, आत्मा

ग्राह्य भी है, अग्राह्य भी है, मित्रामित्र न्याय को समझो, एक पुरुष मित्र भी है, उसी समय वही पुरुष अमित्र भी है, स्व-मित्र की अपेक्षा मित्र है, स्व-शत्रु की अपेक्षा अमित्र भी है, यह मित्रामित्र न्याय है, इसी न्याय से एक समय में एक ही आत्मा ग्राह्य भी है, अग्राह्य भी है। स्वानुभवगम्य होने से तथा संसार दशा में बाह्य श्वासोच्छ्वास, हलन-चलन क्रिया से चैतन्य धर्म की पहचान अनुमान से अन्य के द्वारा भी ग्रहण की जाती है। अतः ग्राह्य है, वह अन्य द्रव्य के गुण-पर्यायों को स्वीकार नहीं करता, अन्य द्रव्य रूप नहीं होता, अतः अग्राह्य भी है। आचार्य-श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा:—

यदग्राह्यं न ग्रहणाति गृहीतं नैव मुञ्चति ।

जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥

—समाधितंत्र, श्लो. 20

जो शुद्धात्मा ग्रहण न करने योग्य को ग्रहण नहीं करता है, और ग्रहण किये जाने योग्य अनंत ज्ञानादि गुणों को नहीं छोड़ता, तथा सम्पूर्ण पदार्थों को सभी प्रकार से जानता है, वही अपने द्वारा ही अनुभव में आने-योग्य चैतन्य द्रव्य —“मैं आत्मा हूँ”। आत्म-द्रव्य पर-भावों से अत्यन्त भिन्न है, अन्य किसी भी द्रव्य के द्वारा आत्म-द्रव्य ग्रहण नहीं किया जाता है, न अन्य द्रव्य द्वारा स्पर्शता ही है। आत्मा अग्राह्य है। ध्यान दो—स्वर्ण कीचड़ के मध्य है, पर कीचड़ को किंचित् भी ग्रहण नहीं कर रहा है, कीचड़ उसे ग्रहण नहीं कर रहा है। पंक पंक ही है, स्वर्ण स्वर्ण ही है, आत्मा कर्म-मल के मध्य रहने पर भी कार्य-रूप नहीं होती, तथा अनादि-बद्ध कर्म आज तक चैतन्य-भूत नहीं हुए अथवा प्राग्भाव रूप आगामी पर्यायों को ग्रहण-करने-योग्य है, अतः ग्राह्य है तथा प्रध्वंसाभावरूप पूर्व-पर्यायों को कभी भी ग्रहण नहीं करता है, अतः अग्राह्य है अथवा यों कहना चाहिए कि सहज ज्ञान द्वारा जानी जाती है, इसलिए ग्राह्य है तथा क्षयोपशम ज्ञान के द्वारा अवेद्यक होने से अग्राह्य है। आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं:—

अरसमरूवमगंधं अव्वतं चेदणागुणमसद्दं ।

जाण अलिङ्गग्गहणं जीवमणिदिट्ठसंठाणं ॥

—समयसार, गा. 49

यह आत्मा अमूर्त स्वभाव होने से रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द, संस्थानादिक पौद्गलिक भावों से रहित है, अपने चेतन गुण से धर्म, अधर्म, आकाश, काल, —इन चार अमूर्त द्रव्यों से भी भिन्न है, स्व-जीव-सत्ता की अपेक्षा अन्य-जीव-द्रव्य से भी भिन्न है, अपना

अस्तित्व वस्तु-मात्र है। यहाँ पर अलिंग ग्रहण विशेषण इसलिए कहा है कि वह आत्मा किसी पौद्गलिक चिह्न से ग्रहण नहीं किया जाता। इस विशेषण पद के अनेक अर्थ हैं, उनमें से कुछ कहते हैं— लिंग नाम इन्द्रियों का है, उन इन्द्रियों से यह आत्मा पदार्थों का ग्रहण करने वाला नहीं है, अतीन्द्रिय स्वभाव से पदार्थों को जानना है अथवा इन्द्रियों से अन्य जीव भी इस आत्मा का ग्रहण नहीं कर सकते, —यह तो अतीन्द्रिय स्व-संवेदन-ज्ञान-गम्य है। जैसे धूम-चिह्न को देखकर अग्नि का ज्ञान करते हैं, वैसे ही अनुमान लिंग अर्थात् चिह्न कर यह आत्मा अन्य पदार्थों का जानने वाला नहीं है, यह तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता है, इस कारण अलिंग-ग्रहण है; कोई भी जीव इन्द्रिय-गम्य चिह्न से इस आत्मा का अनुमान नहीं कर सकता, —इस कारण भी अलिंग-ग्रहण है। यह शुद्धात्मा केवल अनुभव-गम्य है, इसलिए ग्राह्य नहीं है। यहाँ वस्तु-स्वरूप की गवेषणा से यह निष्कर्ष निकला कि आत्मा उभयधर्मी है— ग्राह्य भी है, अग्राह्य भी है, यह नय-सापेक्ष निरपेक्ष रूप से नहीं है और वह आत्मा कैसी है?“अनाद्यन्तः” द्रव्य की द्रव्यता त्रैकालिक है, द्रव्य का उत्पाद नहीं होता, व्यय नहीं होता, जो उत्पाद-व्यय होता दिखता है, वह पर्याय का होता है, द्रव्य की सत्ता प्रत्येक काल में विद्यमान रहती है, एक-मात्र जीव द्रव्य की ही नहीं, अपितु प्रत्येक द्रव्य की समझना; कहा भी है—

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूपा अणंतपज्जाया।

भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का।। —पंचास्तिकाय, गा. 8

सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक एक सर्व-पदार्थ-स्थित सविश्वरूप अनंत पर्यायमय और सप्रतिपक्ष है, अस्तित्व अर्थात् सत्ता, सत् का भाव अर्थात् सत्त्व। विद्यमान मात्र वस्तु न तो सर्वथा नित्य रूप होती है, न सर्वथा क्षणिक रूप ही होती है। वस्तु सर्वथा नित्य ही स्वीकारते हैं, तो पर्याय का अभाव हो जाएगा, वस्तु को सर्वथा क्षणिक मानते हैं, तो प्रत्यभिज्ञान का अभाव हो जाएगा, नित्य एकान्त में सांख्य-दर्शन का प्रसंग आता है, क्षणिक एकान्त में बौद्ध दर्शन का प्रसंग आता है। प्रत्येक तत्त्व की प्ररूपणा सप्रतिपक्ष, होती है। क्षणिक एवं नित्य दोनों ही एकान्तों के पक्ष को स्वीकार करने से वस्तु- क्रिया-कारण का अभाव दिखायी देता है। आत्मा अनादि और अनन्त रूप है। प्रत्येक द्रव्य स्व-चतुष्टय में त्रिकाल से अवस्थित है, द्रव्य का लक्षण ही सत् है :-

सद् द्रव्यलक्षणम्।।

—तत्त्वार्थसूत्र, 5/29

यत्सत्तद् द्रव्यमित्यर्थः ।।

—सर्वार्थसिद्धि, 5/29, पैरा 582

जो सत् है, वह द्रव्य है, —यह इस सूत्र का भाव है कि असत् का उत्पाद नहीं होता, सत् का विनाश नहीं होता, द्रव्य-दृष्टि से यह सनातन क्रिया है। आत्मा कभी उत्पन्न नहीं हुई, कभी नष्ट भी नहीं होगी, अनादि से है और अनन्त काल तक इसीप्रकार विद्यमान रहेगी। पूर्णतः विनाश नहीं होता, जिन-शासन में तुच्छाभाव को किञ्चित् भी स्वीकार नहीं किया गया। तुच्छाभाव का अर्थ पूर्णतया-अभाव है, जब पूर्णतया-अभाव ही हो जाएगा, तब द्रव्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा, —ऐसा होने से लोकालोक भेद समाप्त हो जाएगा और तब लोक-अलोक में क्या अन्तर रहेगा?... —जैसा-अलोकाकाश शुद्ध आकाश है, क्योंकि वहाँ पर शेष द्रव्य नहीं हैं, उसी प्रकार छः द्रव्यों के समूह को जो लोक संज्ञा प्राप्त है, वह भी समाप्त हो जाएगी, संसार, मोक्ष, पुण्य, पाप ही सब व्यर्थ हो जाएगा। सम्पूर्ण लोक में जड़ता-शून्यता का प्रसंग आएगा। अतः तत्त्वज्ञानियो! जिन-देव की देशना के अनुसार तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त करो। उत्पत्ति-विनाश द्रव्य में नहीं होता, उत्पाद-व्यय द्रव्य की पर्यायों में ही होता है, द्रव्य तो सद्भाव-रूप ही है—

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।

गुण-पज्जएसु भावा उप्पाद वए पकुव्वंति ।।

—पंचास्तिकाय, गा. 15

भाव “सत्” का नाश नहीं होता तथा अभाव “असत्” का उत्पाद नहीं है, भाव गुण-पर्यायों में उत्पाद-व्यय करता है, इस प्रकार पूर्णरूप से समझना। आत्म-द्रव्य में अभाव-भाव का पूर्ण अभाव है, अतः आत्मा की अनाद्यन्तता स्वतः-सिद्ध है। आत्मा की त्रैकालिकता पर सम्यग्दृष्टि जीव को किसी भी प्रकार के प्रश्न ही नहीं उठते। प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है कि वह अपने आस्तिक्य गुण को पूर्णरूपेण सुरक्षित करके चले, आस्तिक्य गुण के अभाव में सम्पूर्ण गुणों का अभाव समझना चाहिए। अहो! उस व्यक्ति के यहाँ व्रत, नियम, तप, त्याग कहाँ ठहरता है, जहाँ आत्मा के प्रति आस्था नहीं है; आश्चर्य तो इस बात का है कि जब वह आत्मा को ही नहीं स्वीकारता तो-फिर वह उपर्युक्त क्रियाएँ किस के लिए कर रहा है, लोक में मूढ़-मतियों की कमी नहीं है, जिसके मध्य में से सम्पूर्ण लोक का वेदन कर रहा है, उसे ही नहीं वेद पा रहा, ...क्या कहूँ..... प्रज्ञा की जड़ता को। जिसकी बुद्धि जड़ भोगों में लिप्त है, वह

चैतन्य-धन भगवान् आत्मा को क्या पहचान पाएगा?... अहो प्रज्ञात्माओ! ध्रुव आत्म-द्रव्य को स्वीकार कर परम-तत्त्व को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। वह आत्मा और कैसी है?" "स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः" स्थित, ध्रौव्य, उत्पत्ति/उत्पाद उत्पन्न होने योग्य, व्यय/विनाश होने योग्य है, इसप्रकार ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय जिसका स्वरूप है, वह आत्मा है। द्रव्य का लक्षण सत् है और वह सत् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है, द्रव्य की त्रि-लक्षण-अवस्था त्रिकाल है, —ऐसा एक क्षण भी नहीं होता, जब द्रव्य में त्रि-लक्षण-धारा का वियोग होता हो, —वह तो प्रति-क्षण प्रवहमान रहती है, शुद्ध द्रव्य में शुद्ध परिणमन होता है। अशुद्ध द्रव्य में अशुद्ध रूप परिणमन होता है। जीव द्रव्य के साथ अनूठी व्यवस्था है; अशुद्ध जीव में एक-साथ दो द्रव्यों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यता घटित होती है। अशुद्ध जीव असमान-जातीय कर्म-नोकर्म के साथ रहता है। जीव के भाव-कर्मों का परिणमन भिन्न चलता है, द्रव्य-कर्मों का परिणमन भिन्न चलता है। अज्ञ प्राणी असमान-जातीय पर्याय की भिन्नता को नहीं समझने के कारण क्लेश को प्राप्त होता है, जिसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक द्रव्य होता है। द्रव्य का द्रव्यत्व-भाव त्रैकालिक ध्रौव्य है। यह जीव मोह के वश हुआ पर के परिणमन को स्व का परिणमन स्वीकार कर व्यर्थ में क्लेश का भोजन हो रहा है, थोड़ा भी स्व-विवेक का प्रयोग कर ले, तो ज्ञानियो! लोक में कहीं भी जीव को कष्ट का स्थान नहीं है। अर्थ-पर्याय का परिणमन षट् गुण-हानि-वृद्धि-रूप प्रति-पल चल रहा है, इसे आगम-प्रमाण से ही जाना जाता है, वचन-अगोचर है। शरीर का परिणमन भिन्न है, आत्म-गुणों का परिणमन भिन्न है, व्यक्ति कितना ही राग-रूप पुरुषार्थ कर ले, परन्तु पुरुष (आत्मा) के द्रव्यत्व का जो परिणमन है, उसे नहीं रोक सकता। द्रव्य में जो सहज परिणमन है, ज्ञानी! वह किसी के प्रतिबन्धक की अपेक्षा नहीं रखता, जैसे— पुरुष का परिणमन निरपेक्ष है। ज्ञानियो! इसप्रकार को अच्छी तरह से समझना कि— उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य धर्म कभी किसी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की भी अपेक्षा नहीं रखता कि मैं अमुक द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के होने पर परिणमन करूँगा। वह तो त्रिकाल सर्व-क्षेत्रादि में परिणमन-शील है, पदार्थ किसी भी अवस्था में हो, पर परिणामीपन से रहित कभी नहीं रहता। देखो! एक रागी पुरुष अपने वर्तमान शरीर को हृष्ट-पुष्ट रखने के लिए

प्रतिदिन घृत-दुग्धादि पौष्टिक द्रव्यों का सेवन करता है तथा अखाड़े में जाकर व्यायाम भी करता है, फिर-भी ढलते शरीर को नहीं बचा पाता है, उसको भी देखते ही देखते मृत्यु का सामना करना पड़ता है, यानी-कि राग के वश होकर कर्म-बन्ध ही कर पाता है, पर शरीर के परिणमन पर कोई पुरुषार्थ नहीं चलता। लोक में ऐसी कोई औषधि निर्मित नहीं हुई, जिससे कि प्रकृति के इस ध्रुव धर्म को रोका जा सके।

अहो हंसात्मन्! प्रति-क्षण समानजातीय स्वभाव का ध्यान करो, जो मनुष्य-पर्याय में था, वही देव-पर्याय को प्राप्त होता है। एक पर्याय का विनाश, दूसरी पर्याय का उत्पाद, पर जीव-द्रव्य ध्रौव्य है, —इस प्रकार से आत्मा त्रिलक्षणात्मक है, भावों की अपेक्षा से देखें, तो जीव अशुभ उपयोग में था, वही शुभ-उपयोग को प्राप्त हुआ, अशुभ-उपयोग का व्यय शुभोपयोग का उत्पाद, आत्मा परिणामी ध्रौव्य है। संसारी जीव रत्नत्रय की आराधना करके संसार का अभाव करके भक्त-अवस्था को प्राप्त होता है। संसार-पर्याय का व्यय मुक्त-पर्याय का उत्पाद, परंतु आत्मा वही है, जो पूर्व में संसारी बनकर चतुर्गति भ्रमण में नाना द्रव्यों से पीड़ित थी, वही आत्मा जगत्त्रय काल-त्रय वन्दनीय परमात्म-पद को प्राप्त हुई आत्मा ध्रौव्य है, यहाँ यह कैसे हो सकता है? इस शंका का बहुत ही सुंदर समाधान आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने *आप्तमीमांसा* ग्रंथ में किया है—

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक्।

न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत्॥

—आप्तमीमांसा, श्लो. 58

जो कार्य की उत्पत्ति है, वही हेतु उपादान-कारण का विनाश है। निश्चय से दोनों उत्पाद और व्यय स्वरूप भेद के कारण भिन्न हैं। जाति आदि के कारण अब स्थान के कारण सत्त्व, प्रमेयत्व आदि के कारण उत्पाद और व्यय भिन्न नहीं हैं, कैसे ? उस रूप से एक होने के कारण परस्पर अपेक्षा के बिना उत्पत्ति और विनाश आकाश-कुसुम के समान अवस्तु हो जाएँगे, अतः ये तीनों कथञ्चित् परस्पर अभिन्न और कथञ्चित् भिन्न हैं। द्रव्य दृष्टि से किसी वस्तु का न उत्पाद होता है, न विनाश। वह सदैव एक-सी रहती है। पर्याय रूप से उत्पत्ति और विनाश होता है, कार्य की उत्पत्ति ही कारण का विनाश है।

एक पर्याय की उत्पत्ति तभी होगी, जब पूर्व पर्याय का विनाश होता है, अतः उत्पाद और व्यय दोनों एक-साथ होते हैं, और द्रव्य की सत्ता दोनों में समान रूप से

होती है, —इस प्रकार एक वस्तु में एक-साथ स्थिति, उत्पत्ति और विनाश होता है, जो कि दृष्टान्त के माध्यम से समझाते हैं यथा—

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।

शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।।

- आप्तमीमांसा, श्लो. 59

प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है, इसी प्रकार को लौकिक दृष्टान्त से पुष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि एक सोने का घड़ा है। एक व्यक्ति सोने के घड़े को चाहता है, दूसरा सोने के मुकुट को चाहता है और तीसरा व्यक्ति केवल सोने को चाहता है। सोने के घड़े को तोड़कर मुकुट बना देने से पहला व्यक्ति दुःखी होता है, क्योंकि अब घड़ा नहीं रहा, नष्ट हो गया, परंतु दूसरा व्यक्ति प्रसन्न होता है, क्योंकि मुकुट बन गया; तीसरा व्यक्ति मध्यस्थ रहता है, क्योंकि सोना घड़े के रूप में भी था, मुकुट के रूप में भी है, —ये तीनों बातें हेतु-सहित हैं, बिना हेतु के नहीं हैं। स्वर्ण-द्रव्य नित्य है और घड़ा तथा मुकुट-रूप उसकी पर्यायें अनित्य हैं। घड़े का विनाश हुआ और मुकुट की उत्पत्ति हुई, —इस प्रकार एक वस्तु में उत्पाद, व्यय और नित्यता-रूप तीनों स्थितियाँ पायी जाती हैं।

ज्ञानियो! द्रव्य की द्रव्यता पर दृष्टि रखते हुए पर्याय के परिणमन को पर्याय-रूप समझकर राग-द्वेष का परिहार करके माध्यस्थ्य-भाव को प्राप्त होकर स्वात्म-धर्म पर लक्ष्यपात करना मुमुक्षु जीवों का परम कर्तव्य है, इसीप्रकार आचार्य-देव ने आत्मा के विभिन्न धर्मों का एक ही श्लोक के माध्यम से प्ररूपण किया है।।२।।

भक्तिसार

1. भक्ति करने से जब बाहरी बंधन व ताले-कड़ियाँ तक दूट सकती हैं, तो क्या भीतरी कर्म-बंध नहीं टूटेंगे?
2. भक्ति का असली रूप पहचान लो, तभी मंजिल तक पहुँचोगे, अन्यथा संसार-रूपी मरुभूमि में ही भटकते ही रह जाओगे।

—आचार्य श्री विद्यासागर जी

श्लोक¹-3

उत्थानिका— विनय-पूर्वक विनेय अपनी जिज्ञासा प्रकट करता है— भगवन्! आत्म-द्रव्य एक ही काल में चेतन तथा अचेतन दोनों कैसे हो सकता है?.... समझाने का अनुग्रह करें.....

समाधान— आचार्य-देव कहते हैं:—

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः ।

ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ।।

अन्वयार्थ— (वह आत्मा) (प्रमेयत्वादिभिः) प्रमेयत्व आदि, (धर्मैः) धर्मों के द्वारा, (अचिदात्मा) अचेतन-रूप है, (ज्ञानदर्शनतः) ज्ञान और दर्शन-गुण से, (चिदात्मकः) चेतन-रूप है, (तस्मात्) इस कारण, (चेतनाचेतनात्मकः) चेतन-अचेतन दोनों रूप है ।।3।।

परिशीलन— जिन-शासन में वस्तु के स्वरूप को समझाने के लिए प्रमाण और नय का आलम्बन लेना अनिवार्य है, जो प्रमाण और नय के माध्यम से तत्त्व-प्ररूपण करता है, वही सम्यग्दृष्टि होता है, बिना नय-प्रमाण के कुछ-भी बोलने वाला जिन-शासन से बाह्य है, —ऐसा समझना चाहिए। तत्त्व-ज्ञानियों ने स्पष्ट रूप से नय-दृष्टि-रहित को मिथ्यादृष्टि कहा है:—

जे णय-दिट्ठि-विहीणा ताण ण वत्थूसहाव-उवलद्धिं ।

वत्थु-सहाव-विहूणा सम्मादिट्ठी कंहं हुंति ।।

—द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश, नयचक्र, गा. 181

जो नय-दृष्टि से विहीन हैं, उन्हें वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तु के स्वरूप को न जानने वाले सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं?.....वस्तु-स्वरूप का सत्यार्थ निर्णय करने वाला तत्त्वज्ञ पुरुष ही सम्यग्दृष्टिपने को प्राप्त होता है। मनीषियो! एक बात को स्पष्ट समझना— धर्म की पुण्य-क्रियाओं को करना भिन्न विषय है, तत्त्व-निर्णय भिन्न विषय है। पूजन-पाठ आदि धार्मिक अनुष्ठान पूर्णरूपेण हेय नहीं

1. इस श्लोक को डॉ. सुदीप जी ने अपने सम्पादित संस्करण में चौथे श्लोक के रूप में प्रस्तुत किया है, पर वे चौथे श्लोक के रूप में उसे क्यों प्रस्तुत कर रहे हैं? इसका कोई कारण वहाँ उल्लिखित नहीं है। हमने बहु-प्रति-उपलब्धता के आधार पर इसे तीसरे स्थान पर ही रहने दिया है।

हैं, अपितु उपादेय हैं, लेकिन तत्त्व-निर्णय किये बिना ये अनुष्ठान पुण्यात्म-रूप आस्रव-बन्ध के कारण तो हैं और जो तत्त्व-निर्णय के अभाव में परम्परा से भी मोक्ष के कारण नहीं हैं तथा जो तत्त्व-निर्णय करके इन पुण्य-क्रियाओं को करता है, उसके धार्मिक-अनुष्ठान परम्परा से मोक्ष के कारण हैं, —इसमें किञ्चित् भी शंकित होने की आवश्यकता नहीं है; लेकिन यह भी स्पष्ट समझना— तत्त्वज्ञान तत्त्व-निर्णय हुए बिना सम्यग्ज्ञान के रूप से प्रकट नहीं होता। सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन का अविनाभाव सम्बन्ध है, जहाँ सम्यक्त्व होगा, वहीं सम्यग्ज्ञान होगा, जहाँ सम्यग्ज्ञान होगा, वहीं सम्यग्दर्शन होगा, अग्नि-उष्णत्ववत्। जिसप्रकार बिना उष्णता के अग्नि नहीं होती, उसीप्रकार बिना सम्यग्दर्शन के सम्यग्ज्ञान नहीं होता, पर इन दोनों के पूर्व तत्त्व-ज्ञान व तत्त्व-निर्णय होना आवश्यक है। तत्त्व-निर्णय समीचीन-नय-ज्ञान से ही संभव है। नयों में भी कुनय-सुनय का जानना भी तो अनिवार्य है। सुनय-कुनय के अन्तर को समझकर सुनय का आश्रय लेना चाहिए, कुनय को दूर से छोड़ना ज्ञानियों का कर्तव्य है।

नय, दुर्नय, सुनय की परिभाषा करते हुए आगम में उल्लिखित है—

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।

नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः॥

—अष्टसहस्री, 3/106वीं कारिका में उद्धृत

अनेक धर्मान्तर-सापेक्ष एक अंश के ज्ञान को नय कहते हैं, और धर्मान्तरों का निराकरण करके वस्तु के एक ही धर्म का कथन करने वाले को दुर्नय कहते हैं। सुनय वस्तु-स्वरूप का यथार्थ-बोधक है, दुर्नय मिथ्यात्व-पोषक है। मुमुक्षुओं को नय का आलम्बन लेना चाहिए व दुर्नय को दूर से ही छोड़ देना चाहिए। एक-एक धर्म का कथन एक-एक नय के द्वारा होता है, नय-प्रमाण ही वस्तु-स्वरूप का प्ररूपक है, नय-प्रमाण-विहीन कोई भी पदार्थ नहीं है। सब पदार्थों का एक-साथ वाचन नहीं हो सकता। व्याख्यान के लिए सप्तभंगी का प्रयोग किया जाता है, बिना 'स्यात्' पद के भूतार्थ-तत्त्व का ज्ञान नहीं होता। युक्ति से युक्त जो है, वही वस्तु है, जो युक्ति से रहित है, वह अवस्तु है; कहा भी है—

सिय-जुत्तो णयणि-वहो दव्व-सहावं भणेइ इह तत्थं।

सुणयपमाणा जुत्ती णहु जुत्तिविवज्जियं तच्च॥

—द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश, गा. 261

अर्थात् “स्यात्” पद से युक्त नय-समूह द्रव्य के यथार्थ-स्वभाव को कहता है। सम्यक् नय और प्रमाण को युक्ति कहते हैं। जो युक्ति से शून्य है, वह तत्त्व नहीं है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने *आप्त-मीमांसा* की कारिका नं. 107 में कहा है कि त्रिकालवर्ती नयों और उप-नयों के विषय-भूत धर्मों का ऐसा समूह, जिनमें परस्पर में तादात्म्य हो, उसे वस्तु कहते हैं अर्थात् वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है और एक-एक नय वस्तु के एक-एक धर्म को ग्रहण करता है, अतः सब-नयों का समूह ही वस्तु है। यदि एक नय के विषय-भूत धर्म को ही पूर्ण वस्तु माना जाए, तो वह मिथ्या है अर्थात् प्रत्येक नय का विषय यदि अन्य नय-निरपेक्ष हो, तो मिथ्या है। इसी से ‘स्यात्’ पद से युक्त नय-समूह को यथार्थ द्रव्य कहा है, क्योंकि ‘स्यात्’ पद अनेक धर्मों का सूचक है। सापेक्ष-नय ही सम्यक् नय है और ‘स्यात्’-पद-शून्य-नय मिथ्या-नय है। नय और प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु ही यथार्थ होती है, वही सबसे यथार्थ-युक्ति है, ‘युक्ति’ शब्द से उन्हीं का ग्रहण किया गया है। अतः युक्ति-पूर्वक वस्तु को स्वीकार करना चाहिए अर्थात् प्रमाण और नय के द्वारा गृहीत वस्तु ही यथार्थ है और उसे ही सम्यक् मानकर स्वीकार करना चाहिए। जो नय और प्रमाण-रूप युक्ति से शून्य है, वह अवस्तु है। आत्म-द्रव्य को समझना है, तो नय-प्रमाण के द्वारा ही समझा जा सकता है, वर्तमान में बड़े-बड़े विद्वान् तत्त्व-मनीषी आत्मा को एक-गुणात्मक ही मानते आ रहे हैं, वह गुण है चैतन्य, क्या आत्मा एक चैतन्य-स्वरूप-मात्र है? प्रज्ञ पुरुषों को स्व-प्रज्ञा से आगम के आलोक में आत्म-गुणों का अध्ययन करने की अति-आवश्यकता है। आत्मा चैतन्य-गुण-स्वभावी ही है, —ऐसा एकान्त नहीं है; आत्मा अचैतन्य-स्वभावी भी है। जो आत्मा को मात्र चैतन्य-स्वभावी कहता है, वह आत्म-द्रव्य का सर्वांगीण ज्ञाता नहीं है। जो भी परम-तत्त्व का ज्ञाता है, वह आत्मा को चेतन एवं अचेतन-भूत ही स्वीकारता है, एकाकी रूप से न चेतन और न अचेतन ही स्वीकारता है, तत्त्व के प्रति किञ्चित् भी विपर्यास सम्यक्त्व-गुण-घातक होता, इसलिए वस्तु पर आस्था कभी भी जीवन में एकान्त से स्थापित नहीं करना। मूर्धन्य विद्वान् भी आगम में किञ्चित् विपर्यास करके असमाधि को प्राप्त हुए हैं, समाधि-साधक के लिए पूर्वाचार्य-प्रणीत आगम-ग्रन्थों पर एवं तदनुसार कथन करने वाले वर्तमान वीतरागी आचार्य, उपाध्याय, मुनि, भगवन्तों एवं विद्वानों की बातें ही स्वीकार्य होती हैं, यदि पूर्वाचार्यों के वचनों से संबद्ध नहीं हैं, तो हमें किसी भी अवस्था में श्रद्धान नहीं करना चाहिए; फिर वैसा कथन करने वाले चाहे गृहस्थ हों अथवा त्यागी, भेष-मात्र से प्रामाणिकता नहीं होती, प्रामाणिकता आगम-वचनों से होती है। इस बात को वर्तमान

में सभी साधु-जनों को ज्ञात होना चाहिए, यह काल का ही दुष्प्रभाव एवं परिणामों के कालुष्य का प्रभाव है, जिससे कि वर्तमान सामान्य जन भी पूर्वाचार्यों के वचनों पर प्रश्न करने लगे हैं, जो-कि उनकी अल्पज्ञता का ही द्योतक है। सर्वप्रथम आज्ञा-सम्यक्त्व पर ध्यान ले जाना चाहिए, जो जिन-वचन हैं— वे सत्य हैं, उनमें कोई संशय नहीं है, कहा भी है—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।

आज्ञा-सिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥

—आलापपद्धति, सूत्र -91 में उद्धृत

जिन भगवान् के द्वारा कहा गया तत्त्व सूक्ष्म है, युक्तियों के द्वारा उसका घात नहीं किया जा सकता, उसे आज्ञा-सिद्ध नमस्कार ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जिनदेव अन्यथा नहीं कहते, —ये आगम-वचन हैं, इसलिए परम करुणा-बुद्धि से यह कहना है कि ज्ञानियो! अपने क्षयोपशम की वृद्धि करें, परन्तु सर्वज्ञ-देव एवं पूर्वाचार्यों की वाणी पर शंका करके निःशंकपने का घात करके अपने सम्यक्त्व-गुण का घात मत करो। आप इतने श्रेष्ठ प्रज्ञावन्त दृष्टिगोचर नहीं होते हो, जो-कि वीतरागदेव ने इस स्वरूप-सम्बोधन ग्रंथ में सभी सुधी-जनों को यह समझाया है कि वस्तु को एकान्त से नहीं सोचो, प्रत्येक पदार्थ को अनेकान्त के नेत्रों से देखना सीखो। यदि ये नेत्र नहीं हैं, तो उसकी प्राप्ति का पुरुषार्थ करो, उसके बिना ज्ञान-चारित्र कुछ भी कार्यकारी नहीं है। इसप्रकार निःसंशय होकर समझो— सत्यार्थ तो सम्यक् श्रद्धान है, श्रद्धा-गुण के अभाव में वधू के विवाह-जैसी स्थिति है। आस्था निर्मल है, तो मोक्ष-मार्ग निर्मल है, जिसकी आस्था सबल है, वह मोक्षमार्ग के निकट भी है, इसप्रकार अनन्त-धर्मों का बोध अनन्त-धर्म-रूप तो होना ही चाहिए, भले ही भिन्न-भिन्न करके जानें या न जानें, व्याख्यान अपने-अपने विशिष्ट क्षयोपशम का परिणाम है, पर श्रद्धान करना श्रद्धा गुण की पहचान है। जितना गहरा तत्त्व-श्रद्धान उतनी गहरी आत्मानुभूति होगी। एकात्म-तत्त्व को स्वीकार करने वाला समीचीन तत्त्व की प्ररूपणा नहीं कर सकता, वह स्व-पर के ज्ञान को विपरीतता प्रदान कर रहा है, एक पक्ष का ही ज्ञाता रहेगा, द्वितीय पक्ष से परिपूर्ण अज्ञानता को प्राप्त करेगा। ऐसे लोगों से स्वात्म-रक्षा करना अनिवार्य है, कारण क्या है? यदि कोई उभय पक्ष से पूर्ण अनभिज्ञ है, तो वह यह आस्था तो लेकर चलता है कि अर्थवान् जो-जो पदार्थ हैं, वे-सब सत्यार्थ हैं, उसके ज्ञान में कोई एक पक्ष नहीं है, पर जिसने एक ही पक्ष स्वीकार लिया है, उसकी धारणा विपरीतता

से युक्त हो गई, वह विपरीत-एकान्त मिथ्यादृष्टिपने को प्राप्त हो गया, —ऐसा समझना।

आचार्य-प्रवर आत्मा को चैतन्य-धर्म के साथ-साथ अचेतन-धर्मी भी कह रहे हैं, तो क्या ऐसा नहीं है? इस प्रकार की आशंका का उद्भव अपने मन में नहीं करना। आत्मा उभय-धर्मी है। स्वयं विचार करो! एक-धर्म-मात्र का ज्ञाता व व्याख्याता सत्यार्थ-ज्ञाता व व्याख्याता है क्या?..... नहीं है न। सत्यार्थ का ज्ञाता व व्याख्याता वही होता है, जो द्रव्यों के अनन्त-धर्मों का ज्ञाता व व्याख्याता होता है, केवली भगवन्त सम्पूर्ण द्रव्यों की सम्पूर्ण पर्यायों के ज्ञाता होते हैं। क्षयोपशमिक ज्ञानी सम्पूर्ण द्रव्यों की कुछ पर्यायों को परोक्ष रूप से जानते हैं। परोक्ष ज्ञाता वही सम्यक् है, जो उभय-नय के अनसुार अपने ज्ञान का उपयोग करता है। अतः आत्मा को अनन्त-धर्मात्मक स्वीकार करो। चैतन्य-आत्मा अचैतन्य-धर्मी कैसे है?..... आत्मा को अनन्त-धर्मात्मक तो आप स्वीकारते ही हैं; —अतः अब प्रश्न यह है कि उन अनन्त-धर्मों में चैतन्य-धर्म कितने हैं?... अचेतन-धर्म कितने हैं, ज्ञानी! ध्यान दो— चैतन्य-धर्म तो मात्र दो हैं:— 1. ज्ञान, 2. दर्शन अर्थात् ज्ञान-दर्शन-स्वभावी आत्मा है, —ऐसा सर्वत्र सुनने एवं पढ़ने में आता है, वह कथन परम स्वभाव-ग्राहक द्रव्यार्थिक नय का है, अनेक स्वभावों में से ज्ञान-स्वभाव को ही ग्रहण करता है—

परम-भाव-ग्राहक-द्रव्यार्थिको यथा ज्ञानस्वरूप आत्मा।

अत्रानेक-स्वभावानां मध्ये ज्ञानाख्यः परमस्वभावो गृहीतः॥

—आलापद्धति, सूत्र-56

परम-भाव-ग्राहक द्रव्यार्थिक-नय से जैसे आत्मा ज्ञान-स्वरूप है। यहाँ पर आत्मा के अनेक स्वभावों में से ज्ञान नामक परम-स्वभाव को ग्रहण किया गया है, शेष स्वभावों का क्या अभाव है?... नहीं, अभाव नहीं है, सिद्धान्त का नियम है, द्रव्य का अभाव नहीं किया जाता, उनमें से कुछ को गौण किया जा सकता है; किसी की गौणता होती है, तो किसी की प्रधानता। अभाव-वादियों का अभाव-प्रमाण अभाव-रूप ही है, यानी अभाव-प्रमाण का अभाव ही है, वह कोई प्रमाण नहीं है, तत्त्व को प्रधानता या गौणता से ही कहा जाता है, अभाव करके कोई कथन जैन-परंपरा में नहीं होता, —ऐसा महाश्रमणों ने कहा है—

अर्पितानर्पितसिद्धेः॥

—तत्त्वार्थसूत्र, 5/32

मुख्यता और गौणता की अपेक्षा एक वस्तु में विरोधी मालूम पड़ने वाले दो धर्मों की सिद्धि होती है। वस्तु अनेकात्मक है। प्रयोजन के अनुसार उसके किसी एक धर्म की विवक्षा से जब प्रधानता प्राप्त होती है, तो वह अर्पित या उपनीत कहलाता है और प्रयोजन के अभाव में जिसकी प्रधानता नहीं रहती, वह अनर्पित कहलाता है; तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु या धर्म के रहते हुए भी उसकी विवक्षा नहीं होती, इसलिए जो गौण हो जाता है, वह अनर्पित कहलाता है। इन दोनों के बीच में “अनर्पितं च अर्पितं च” —इसप्रकार के विग्रह वाला द्वन्द्व-समास है। इन दोनों की अपेक्षा एक वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्मों की सिद्धि होती है, इसलिए कोई विरोध नहीं है, जैसे— देवदत्त के पिता, पुत्र, भाई और भांजे भी हैं, इसीप्रकार और-भी जनकत्व और जन्यत्व आदि के निमित्त से होने वाले सम्बन्ध विरोध को प्राप्त नहीं होते। जब जिस धर्म की प्रधानता होती है, उस समय उसमें वह धर्म माना जाता है। उदाहरणार्थ— पुत्र की अपेक्षा वह पिता है और पिता की अपेक्षा वह पुत्र है, आदि। इसीप्रकार द्रव्य भी सामान्य की अपेक्षा नित्य है, विशेष की अपेक्षा अनित्य है, इसलिए विरोध नहीं है, वे सामान्य और विशेष कथञ्चित् भेद हैं और अभेद की अपेक्षा से ही व्यवहार के कारण हैं, इसीप्रकार यहाँ पर आत्मा के चेतन और अचेतन स्वभाव के बारे में विचार करना चाहिए। आत्मा ज्ञान-दर्शन-स्वभाव से चेतन है और अन्य नाना गुणों की अपेक्षा अचेतन-स्वभावी भी है। उभय-दृष्टि से युगपद् देखें, तो आत्मा चेतन-अचेतन स्वभावी है, अतः एकान्त से न चेतन ही है, न अचेतन ही है, ‘स्यात्’ पद से हमेशा यह समझना चाहिए। जिन धर्मों की अपेक्षा अचिदात्मा है, वे धर्म प्रमेयत्वादि हैं, प्रमेयत्व आदि से शेष धर्मों को भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

अस्तित्व वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुत्व, लघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व इत्यादि दस द्रव्यों के सामान्य गुण हैं। ये दस गुण आत्मा में घटित होते हैं; एक अपेक्षा से एक-मात्र चेतनत्व-भाव जीव का स्वभाव है, तो इन दसों में से अचेतनत्व, मूर्तत्व दो गुण कम हो जाते हैं, फिर आठ गुण रहते हैं, परन्तु बन्ध के ग्रहण करने पर दसों ही सामान्य गुण आत्मा में घटित हैं। यह पूर्व में ही विदित हो चुका है कि प्रमेयत्वादि धर्मों की अपेक्षा आत्मा अमूर्तिक है तथा बन्ध की अपेक्षा आत्मा भी मूर्तिक है, आत्मा का मूर्तिक-अमूर्तिक-पना नय-सापेक्ष है, नय-निरपेक्ष नहीं है, कहा भी गया है—

बंध पडि एयत्तं लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं।

तम्हा अमुत्तभावो णेगंतो होदि जीवस्स॥

—पंचास्तिकाय, गा. 134

कर्म-बन्ध की अपेक्षा जीव के साथ पुद्गल का एकमेव सम्बन्ध है, परन्तु लक्षण की अपेक्षा दोनों में भिन्न-भिन्न-पना है, इसलिए एकान्त से जीव के अमूर्तिक-भाव नहीं हैं। कथञ्चित् मूर्तिक, कथञ्चित् अमूर्तिक-स्वभाव बन्ध और मुक्त की अपेक्षा से हैं। अतः मूर्तिक-धर्म भी आत्मा में घटित हो जाता है, जैसा-कि आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने भी कहा है—

वण्ण-रस पंच गंधा दो फासा अड्ड णिच्छया जीवे।

णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो॥

—द्रव्यसंग्रह, गा. 7

अर्थात् निश्चय से जीव में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श नहीं हैं, इसलिए जीव अमूर्त है और बंध से व्यवहार की अपेक्षा करके जीव मूर्त है।

इसीप्रकार अचेतन-धर्म भी जीव में घटित होता है, एक दृष्टि असद्भूत-नय की है, जिसके अनुसार जीव भी अचेतन-स्वभावी घटित होता है, सूत्र देखिए—

जीवस्याप्यसद्भूत-व्यवहारेणाचेतनस्वभावः।

—आलापपद्धति, सूत्र 162

अर्थात् असद्भूत-व्यवहार-नय से जीव अचेतन-स्वभावी है। दूसरी दृष्टि प्रमेयत्वादि धर्मों की अपेक्षा जीव चेतन-स्वभावी है, इसप्रकार दसों सामान्य धर्म एक आत्मा में घटित हो जाते हैं, नय-सापेक्षता से समझना चाहिए।

अस्तित्व-गुण— प्रथम गुण पर विचार करें, तो जो द्रव्य की त्रैकालिकता का ज्ञापक है, वह अस्तित्व-गुण है। वस्तु की सत्ता सनातन है, इसका भी अभाव नहीं होता, वह हमेशा अपने स्वभाव में परिणमन करता है, सम्पूर्ण द्रव्यों की सत्ता अनादि है, जीव-द्रव्य भी अनादि ही है; कहीं कभी उत्पन्न नहीं हुआ, न कभी नाश को प्राप्त होगा, अस्तित्व-भाव से अनभिज्ञ जीव खेद को प्राप्त होता है, तब-जब कोई जीव स्थानान्तरित हो अथवा पर्यायान्तरित हो और हाय-हाय करके वह असाता-वेदनीय के कर्माश्रय को प्राप्त होता है।

अहो प्रज्ञ! तुझे मालूम होना चाहिए कि जगत् में आत्म-द्रव्य का क्या कभी विनाश हुआ होगा...होगा क्या....अथवा हो रहा है? मात्र परिणमन है, इसे आत्मा का अभाव नहीं स्वीकारना। आत्मा त्रिकाल ध्रुव, अविनाशी है। क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होना, —यह क्रियावर्ती शक्ति के प्रभाव से होता है, जीव स्व-क्रिया-वर्ती शक्ति से त्रिलोक का भ्रमण करता रहा है, जब-तक कर्मातीत-अशरीरी-शुद्ध-दशा को प्राप्त नहीं होता, तब-तक द्रव्य-क्षेत्र, काल, भाव, भव-संसार में पर्यटन करता है, पर उस पर्यटन-काल में कभी भी अस्तित्व-भाव का अभाव नहीं होता। मुमुक्षुओ! यहाँ पर अस्तित्व-गुण के कथन से यह ग्रहण करना कि अज्ञ जीव व्यर्थ में क्लेश को प्राप्त करता है, वह वस्तु के धर्म को तो नहीं बदल सकता, मोह-वश रुदन-करता है, शोक-सभा करके शोक मानकर असाता-वेदनीय-कर्म के आस्रव का कर्ता मात्र है, यह भी एक-तरह की शुद्ध-मूढ़ता ही है, न-कि विज्ञता, जो-कि मोह के वशवर्ती होकर समता-शून्य होते हुए रुदनकर स्व-पर को क्लेशित करता है। जगत् में किसी तत्त्व की देशना करनी हो, तो विद्वानों-त्यागियों को सर्वप्रथम चाहिए कि वे अस्तित्व-गुण का व्याख्यान करें, इस तत्त्व का संदेश बाल-गोपाल तक भेजना चाहिए। अनेकान्त-दृष्टि से जैसे लोक में अहिंसा पर विश्व-स्तर पर चर्चा होती है, उसी प्रकार सारे विश्व में अस्तित्व-गुण पर चर्चाएँ-गोष्ठियाँ होना चाहिए; प्रत्येक पुरुष के अंदर इस सूत्र का विषय स्वानुभूति में आना चाहिए। लोक में जो भी अनिष्ट दिख रहा है, वह अस्तित्व-गुण के रहस्य को न समझने के कारण ही हो रहा है। व्यक्ति पर्याय के परिणमन में आत्मा का अभाव मानकर रोना प्रारंभ कर देता है, और विवेक-ज्ञान से रहित होकर, अधीर होकर व्यर्थ में कर्म की संतति की वृद्धि कर लेता है।

अहो हंसात्मन्! जब-तक किसी जीव के साथ वर्तमान-पर्याय का संबंध है, तब-तक वात्सल्य-धर्म के साथ उसके साथ निवास कर लो, इसप्रकार की भावना लिये हुए स्व-पर-कल्याण की भावना के साथ जैसे-ही उसकी आयु पूर्ण होती है, तब वस्तु-स्वरूप का चिन्तन करते हुए उसके अन्तिम संस्कार के समय स्वात्मा में समाधि-मरण के संस्कारों का आरोपण करो। व्यर्थ में दुःख करके स्व-पर के लिए अशुभ असाता-वेदनीय-कर्म का आस्रव न करो।

ज्ञानियो! इतनी शिक्षा ग्रहण अवश्य कर लीजिए कि हम बचा तो किसी को नहीं सकेंगे, पर जो-भी संबंधी या वस्तु आपसे पृथक् हुई है, वह लोकाकाश के बाहर नहीं गई, और तू-भी लोकाकाश में ही है, अन्य के लिए तू रुदन कर रहा है। तू-भी किसी

अन्य को रुलाकर आया है, तुझे आने पर कष्ट है क्या ? जिससे अन्य के जाने पर तू रो रहा है। क्यों स्व-प्रज्ञा-विहीनता का परिचय लोक को दे रहा है कि मैं तो अल्पधी हूँ?.... व इसप्रकार तू अस्तित्व-गुण-शून्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यता के स्वभाव को भूलकर, रो-रोकर अपनी आत्म-ज्ञान-रहित प्रज्ञा का परिचय जगत् के मध्य दे रहा है और प्रज्ञावानों के द्वारा हास्य का पात्र बनता है। योगी पुरुष प्रत्येक क्षण अस्तित्व-गुण का ध्यान कर अपने परिणामों को प्रति-पल सँभालकर आत्म-तत्त्व में लीन रहते हैं। न हर्ष को प्राप्त होते हैं वे, न विषाद को ही प्राप्त होते हैं, वे तो आत्मानन्द में लीन रहते हैं। वहीं अज्ञानी पर के मिलाप के अभाव में विलाप करके संसार-चक्र के कारण कर्म-चक्र को प्राप्त होकर धर्म-चक्र-शून्य होकर यम के चक्र को प्राप्त होता है। जो भी परिणमन है, वह पर्याय है; द्रव्य की ध्रौव्यता तो ध्रौव्य है, अस्तित्व-गुण द्रव्य की त्रैकालिकता का ज्ञापक है, आत्मा लोक के किसी-भी प्रदेश में रहते हुए, किसी-भी पर्याय में अवस्थित होकर भी अपने ज्ञान-दर्शन-स्वभाव का त्याग नहीं करता। द्रव्य-व्यञ्जन-पर्याय जो विभाव-रूप हैं, वे-सब पुद्गल-रूप हैं, उनके मध्य रहते हुए भी आत्मा अपने जीवत्व-भाव के अस्तित्व का अभाव नहीं कर सका। पुद्गल जीव के साथ कर्म-रूप से अनादि से सम्बद्ध है, वह अपने पुद्गलत्व-भाव के अस्तित्व का अभाव नहीं कर सका। लोक में छः द्रव्य अवस्थित हैं, एक-दूसरे में मिले होने पर भी स्व-अस्तित्व का विनाश नहीं होने देते, यह प्रत्येक द्रव्य का साधारण धर्म है; कहा भी गया है—

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगास-मण्णमण्णस्स ।

मेलंता वि य णिच्चं सगं सगभावं ण विजहंति ।।

—पंचास्तिकाय, गा. 7

अर्थात् वे द्रव्य एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, अन्योन्य को अवकाश देते हैं, परस्पर 'नीर-क्षीर-वत्' मिल जाते हैं, तथापि सदा अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। एक-द्रव्य दूसरे द्रव्य-रूप लोक में कभी नहीं होते। अपने स्व-चतुष्टय में ही निवास करते हैं। यह व्यवस्था अनादि से सहज है, किसी अन्य-पुरुष-कृत नहीं है, व्यक्ति व्यर्थ में मोह-वश भ्रमित होकर जगत्कर्ता-हर्ता-रक्षक की कल्पना कर अपने सम्यक्त्व को

मलिन कर मिथ्यात्व की गर्त में गिरता है। तटस्थ हुआ योगी लोक-व्यवस्था को देखकर न हर्ष को प्राप्त होता है, न विषाद को। वह माध्यस्थ्य-भाव से निज द्रव्य-गुण-पर्याय का अवलोकन कर असमान-जातीय-पर्याय से मोह घटाकर समान-जातीय अपने चैतन्य-धर्म का अवलोकन करता है। अन्य को अन्य भूत ही देखता है। अन्य में अन्य-दृष्टि को नहीं डालता, अन्य तो अन्य ही रहते हैं, वे अन्यान्य तो नहीं हो सकते, क्योंकि भिन्न द्रव्य का भिन्न द्रव्य से अत्यन्ताभाव होता है। तत्त्व-ज्ञानी यह समझता है कि लवण-समुद्र का पानी ग्रीष्म-काल में शुष्क होकर कठोर नमक के रूप में परिवर्तित हो जाता है। वह कठोर द्रव्य वर्षा-काल में तरल पानी के रूप में पुनः आ जाता है। यह तो हो सकता है, क्योंकि इनमें अन्योन्याभाव था, पर ऐसा जीवादि द्रव्यों के साथ नहीं होता, चाहे ग्रीष्म-काल हो, चाहे शीत; एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप कभी भी नहीं होता, अपनी-अपनी सत्ता में ही सद-रूप रहते हैं।

सद-रूपत्व-अस्तित्व / स्वरूपास्तित्व—

अस्तीत्येतस्य भावोऽस्तित्वं सदरूपत्वम् ।।

—आलापपद्धति, सूत्र 94

अस्ति के भाव को अस्तित्व कहते हैं, अस्तित्व का अर्थ सत्ता है। जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कभी नाश नहीं होता, वह अस्तित्व है। वही निश्चय करके मूलभूत स्वभाव है, निश्चय करके अस्तित्व ही द्रव्य-स्वभाव है, क्योंकि अस्तित्व किसी अन्य निमित्त से उत्पन्न नहीं है, अनादि-अनंत एक-रूप प्रकृति से अविनाशी है। विभाव-भाव रूप नहीं, किन्तु स्वाभाविक भाव है, और गुण-गुणी के भेद से यद्यपि द्रव्य से अस्तित्व गुण पृथक् कहा जा सकता है, परन्तु वह प्रदेश-भेद के बिना द्रव्य से एक-रूप है। एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य की तरह पृथक् नहीं है, क्योंकि द्रव्य के अस्तित्व से गुण पर्यायों का अस्तित्व है, और गुण-पर्यायों के अस्तित्व से द्रव्य का अस्तित्व है। जैसे—पीतत्वादि गुण तथा कुंडलादि पर्याय जो-कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा सोने से पृथक् नहीं है, उनका कर्त्ता-साधन और आधार सोना है, क्योंकि सोने के अस्तित्व से उनका अस्तित्व है। जो सोना न होवे, तो पीतत्वादि गुण तथा कुंडलादि पर्याय भी न होवें, सोना स्वभाववत् है, और वे स्वभावाश्रित हैं। इसीप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की अपेक्षा द्रव्य से अभिन्न जो उसके गुण पर्याय हैं, उनका कर्त्ता साधन और

आधार द्रव्य है, क्योंकि द्रव्य अस्तित्व से ही गुण-पर्यायों का अस्तित्व है। जो द्रव्य न होवे, तो गुण-पर्याय भी न होवे। द्रव्य-स्वभाव-वत् और गुण-पर्याय स्वभाव है, और जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों से पीतत्वादि गुण तथा कुण्डलादि पर्यायों से अपृथक्भूत सोने के कर्म पीतत्वादि गुण तथा कुण्डलादि पर्यायें हैं, इसलिए पीतत्वादि गुण और कुण्डलादि पर्यायों के अस्तित्व से सोने का अस्तित्व है। यदि पीतत्वादि गुण तथा कुण्डलादि पर्यायें न होवें, तो सोना भी न होवे। इसीप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों से गुण-पर्यायों से अपृथक्भूत द्रव्य के कर्म-गुण-पर्याय हैं, इसलिए गुण-पर्यायों के अस्तित्व से द्रव्य का अस्तित्व है। जो गुण-पर्यायें न होवें, तो द्रव्य भी न होवे और जैसे— द्रव्य, क्षेत्र, काल भावों से सोने से अपृथक्भूत ऐसा जो कंकण का उत्पाद, कुण्डल का व्यय तथा पीतत्वादि का ध्रौव्य —इन तीन भावों का कर्त्ता साधन और आधार सोना है, इसलिए सोने के अस्तित्व से इनका अस्तित्व है, क्योंकि जो सोना न होवे, तो कंकण का उत्पाद, कुण्डल का व्यय और पीतत्वादि का ध्रौव्य —ये तीन भाव भी न होवें। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल भावों को करके द्रव्य से अपृथक्भूत ऐसे जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य —इन तीन भावों का कर्त्ता, साधन तथा आधार द्रव्य है, इसलिए द्रव्य के अस्तित्व से उत्पादादि का अस्तित्व है। जो द्रव्य न होवे, तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, —ये तीन भाव न होवें, और जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों से अपृथक्भूत जो सोना है, उसके कर्त्ता साधन और आधार कंकणादि, उत्पाद, कुण्डलादि, व्यय पीतत्वादि ध्रौव्य —ये तीन भाव हैं, इसलिए इन तीन भावों के अस्तित्व से सोने का अस्तित्व है। यदि ये तीन भाव न होंवें, तो सोना भी न होवे, यदि ये तीनों भाव न होवें तो द्रव्य भी न होवे, —इससे यह बात सिद्ध हुई कि द्रव्य, गुण और पर्याय का अस्तित्व एक है, और जो भी द्रव्य हैं, सो अपने गुण-पर्याय स्वरूप को लिये हुए हैं, अन्य द्रव्य से कभी नहीं मिलता, इसी को स्वरूपास्तित्व कहते हैं।

सादृश्यास्तित्व—

इह विविह लक्खणाणं लक्खमणमेगंसदिति सत्त्वगयं।

उवदिसदा खलु धम्मं जिण वणवसहेण पणणत्तं।।

—प्रवचनसार, गा. 5

इस श्लोक में वस्तु के स्वभाव का उपदेश देने वाले गणधरादि देवों में श्रेष्ठ श्री वीतराग सर्वज्ञ-देव ने ऐसा कहा है कि नाना प्रकार के लक्षणों वाले अपने स्वरूपास्तित्व से जुदा-जुदा सभी द्रव्यों में सामान्य रूप से रहने वाला “सद्-रूप” सामान्य-लक्षण

है। स्वरूपास्तित्व विशेष-लक्षण रूप है, क्योंकि वह द्रव्यों की विचित्रता का विस्तार करता है तथा अन्य द्रव्य भेद करके प्रत्येक द्रव्य की मर्यादा करता है, और सत् ऐसा जो सादृश्यास्तित्व है, सो द्रव्यों में भेद नहीं करता, सब द्रव्यों में प्रवर्तता है, प्रत्येक द्रव्य की मर्यादा को दूर करता है और सर्व-गत है, इसलिए सामान्य-लक्षण-रूप है। 'सत्' शब्द सब पदार्थों का ज्ञान कराता है, क्योंकि यदि ऐसा न मानें, तो कुछ पदार्थ सत् हों, कुछ असत् हों और कुछ अव्यक्त हों, परन्तु ऐसा नहीं है। जैसे— वृक्ष अपने स्वरूपास्तित्व से आम, बबूल व नीमादि के भेदों से अनेक प्रकार के हैं और सादृश्यास्तित्व से वृक्ष जाति की अपेक्षा एक हैं, इसीप्रकार द्रव्य अपने-अपने स्वरूपास्तित्व से छः प्रकार के हैं, और सादृश्यास्तित्व से सत् की अपेक्षा सब एक हैं, सत् के कहने में छः द्रव्य गर्भित हो जाते हैं, जैसे— वृक्षों में स्वरूपास्तित्व से भेद करते हैं, तब सादृश्यास्तित्व-रूप वृक्ष-जाति की एकता मिट जाती है, और जब सादृश्यास्तित्व-रूप वृक्ष-जाति की एकता करते हैं, तब स्वरूपास्तित्व से उत्पन्न नाना-प्रकार के भेद मिट जाते हैं। इसीप्रकार द्रव्यों में स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा सद्-रूप एकता मिट जाती है और सादृश्यास्तित्व की अपेक्षा नाना प्रकार के भेद मिट जाते हैं। भगवान् का मत अनेकान्त-रूप है, जिसकी विवक्षा करते हैं, वह पक्ष मुख्य होता है, और जिसकी विवक्षा नहीं करते, वह पक्ष गौण होता है। अनेकान्त से नय सम्पूर्ण प्रमाण हैं, विवक्षा की अपेक्षा मुख्य-गौण हैं।

वस्तुत्वगुण—

जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य में अर्थ-क्रिया होती है, उसे वस्तुत्व-गुण कहते हैं, जैसे घड़े की अर्थ-क्रिया जल-धारण है।

वस्तुनो भावो वस्तुत्वम्, सामान्य-विशेषात्मकं वस्तु।

—आलापपद्धति, सूत्र 95

वस्तु के भाव को वस्तुत्व कहते हैं, वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। सामान्य से रहित विशेष, विशेष से रहित सामान्य नहीं होता, जहाँ सामान्य होता है, वहाँ विशेष होता ही है, जैसे पुरुष सामान्य है, उसमें बालक, युवा, वृद्ध आदि-संज्ञा विशेष है, सामान्य अभेद-रूप है, विशेष भेद-रूप है। कहा भी है—

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खर-विषाण-वत्।

सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि।।

—आलापपद्धति सूत्र 131 में उद्धृत

बिना विशेष का सामान्य गधे के सींग की तरह असत् है, और बिना सामान्य के विशेष भी गधे की सींग की तरह असत् है, अतः सामान्य-विशेष-धर्म से युक्त ही वस्तुत्व-गुण है, तभी अर्थ-क्रिया-कारित्व घटित होता है, यानी कार्य करने की स्थिति बनती है।

द्रव्यत्व गुण— जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य में सदा उत्पाद-व्यय होता रहता है, उसे द्रव्यत्व-गुण कहते हैं। आचार्य उमास्वामी महाराज ने उक्त विषय को स्पष्ट किया है—

सद्द्रव्यलक्षणम् ।।

—तत्त्वार्थसूत्र, 5/29

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत् ।।

—तत्त्वार्थसूत्र, 5/30

द्रव्य का लक्षण सत् है, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त है।

द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वम् ।

—आलापपद्धति, सूत्र 96

द्रव्य के भाव को द्रव्यत्व गुण कहते हैं। द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्याय में परिणमन करता है।

प्रमेयत्वगुण— जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी न किसी के ज्ञान का विषय होता है, उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं।

प्रमेयस्य भावः प्रमेयत्वं प्रमाणेन स्व-पर-स्वरूपं परिच्छेद्यं प्रमेयम् ।।

—आलापपद्धति, सूत्र 98

प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं। प्रमेय का अर्थ होता है— प्रमाण के द्वारा ज्ञेय होना। इसी गुण के कारण द्रव्य किसी न किसी के ज्ञान का विषय होता है।

अगुरुलघुत्व-गुण—

अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वम्, सूक्ष्मा अवागोचराः ।

प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रामाण्यादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः ।।

—आलापपद्धति, 99

अगुरुलघु के भाव को अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं, आगम में प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघु-नामक गुण माने गये हैं। ये अगुरुलघु-नामक गुण सूक्ष्म हैं, वचन के अगोचर हैं,

उनके सम्बन्ध में कुछ कहना शक्य नहीं है, वे प्रति-समय प्रत्येक द्रव्य में वर्तमान रहते हैं और आगम-प्रमाण द्वारा ही जाने जाते हैं। सूक्ष्म-तत्त्वों को हमें आस्था का विषय बनाना चाहिए, आवश्यक नहीं है कि सम्पूर्ण तत्त्व क्षयोपशम-ज्ञान का विषय बन जाएँ, अपने क्षयोपशम के अनुसार आगम का अर्थ नहीं निकलता, अपितु आगम के अनुसार क्षयोपशम की वृद्धि करनी चाहिए। भूतार्थ-ज्ञाता आगम के सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों को जानने का प्रयास एवं पुरुषार्थ दोनों करता है, फिर अति-सूक्ष्म तत्त्व है, जहाँ पर श्रुत नहीं पहुँच पाता, वहाँ सम्यग्दृष्टि तत्त्व-ज्ञानी जिन-आज्ञा मानकर शीघ्र स्वीकार करता है, आगम में अपनी शंका नहीं करता, दृष्टि आज्ञा-सम्यक्त्व पर रखता है, उसे यह दृढ़ आस्था होती है कि जिन-देव विपर्यास नहीं करते। कहा भी है—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।

आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः।।

—आलाप पद्धति, सूत्र 100 पर उद्धृत

जिन भगवान् के द्वारा कहा गया तत्त्व सूक्ष्म है, युक्तियों से उसका घात नहीं किया जा सकता, उसे आज्ञा-सिद्ध मानकर ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जिनदेव के द्वारा कहे गये आगम को प्रमाण मानकर अगुरुलघु-गुणों को स्वीकार करना चाहिए। इस गुण के कारण एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप एक-गुण दूसरे गुण-रूप परिणमन नहीं करता, और न एक द्रव्य के गुण बिखरकर पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।

प्रदेशत्व-गुण— जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कुछ न कुछ आकार होता है, उसे प्रदेशत्व-गुण कहते हैं।

प्रदेशस्य भावः प्रदेशत्वं क्षेत्रत्वम्, अविभागी-पुद्गल-परमाणुनावष्टब्धम्।।

—आलापपद्धति, सूत्र 100

अर्थात् प्रदेश के भाव को प्रदेशत्व कहते हैं। एक अविभागी पुद्गल-परमाणु जितने क्षेत्र को रोकता है, या व्याप्त करता है, या घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं।

चेतनत्व-गुण—

चेतनस्य भावो चैतन्यमनुभवनम्।

—आलापपद्धति, सूत्र 101

अर्थात् चेतन के भाव को चेतनत्व कहते हैं। चेतनत्व का अर्थ है, चैतन्य अर्थात् अनुभव करना अथवा जिस शक्ति के निमित्त से जानना-देखना-पना हो, उसे चेतनत्व-गुण कहते हैं।

अचेतनत्व-गुण—

अचेतनस्य भावोऽचेतनत्वमचैतन्यमवनुभवनम्॥

—आलापपद्धति, सूत्र 102

अर्थात् अचेतन के भाव को अचेतनत्व कहते हैं अथवा जिस शक्ति के निमित्त से जड़पना का अनुभवन हो, उसे अचेतनत्व कहते हैं।

मूर्तत्व-गुण—

मूर्तस्य भावो मूर्तत्वं रूपादिमत्त्वम्॥

—आलापपद्धति, सूत्र 103

अर्थात् मूर्त के भाव को मूर्तत्व-भाव कहते हैं और जिसमें रूपादि गुण पाये जाते हैं, उसे मूर्तत्व-गुण कहते हैं।

अमूर्तत्व-गुण—

अमूर्तस्य भावोऽमूर्तत्वं रूपादि-रहितत्वम्॥

—आलापपद्धति, सूत्र 104

अर्थात् अमूर्त का जो भाव है, उसे अमूर्तत्व-गुण कहते हैं, जो रूपादि से रहित होता है और आचार्य अकलंक स्वामी ने अपने महान् तर्क-शास्त्र *तत्त्वार्थवार्तिक* 2/7 में पारिणामिक भावों का कथन करते हुए अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पर्यायवत्त्व, असर्व-गत-त्व, अनादि-सन्तति, बन्धनत्व, प्रदेशत्व, अरूपत्व, नित्यत्व आदि को पारिणामिक-भाव बतलाया है, और यह भी लिखा है कि जीव के सिवाय अन्य द्रव्यों में भी ये पाये जाते हैं, अतः ये साधारण या सामान्य हैं। जैसे— अस्तित्व सभी द्रव्यों में पाया जाता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से भिन्न है, अतः अन्यत्व भी सब द्रव्यों में पाया जाता है। सभी द्रव्य अपनी-अपनी क्रिया को स्वतंत्र हैं, अतः कर्तृत्व भी साधारण है। एक विशिष्ट शक्ति वाले द्रव्य के द्वारा दूसरे द्रव्य की सामर्थ्य-शक्ति को ग्रहण करना भोक्तृत्व है, जैसे— आत्मा आहारादि द्रव्य की शक्ति को खींचने के कारण भोक्ता कहा जाता है, भोक्तृत्व भी साधारण है, विष द्रव्य अपनी शक्ति से सब को विष रूप कर देता है, नमक के ढेर में जो गिर जाता है, वह-सब नमक हो जाता है। पर्यायत्व

भी साधारण है, क्योंकि सभी द्रव्य पर्याय वाले हैं। आकाश के सिवाय सभी द्रव्य में अ-सर्व-गत पाया जाता है, अतः वह भी साधारण है। सभी द्रव्य अपनी-अपनी अनादि-सन्तान से बद्ध हैं, अतः वह भी साधारण है। सभी द्रव्य अपने नियत-प्रदेश वाले हैं, अतः प्रदेशत्व भी साधारण है। अरूपत्व भी पुद्गल के सिवाय शेष सब द्रव्यों में पाया जाता है। द्रव्य-दृष्टि से सभी नित्य हैं, इसलिए नित्यत्व भी साधारण है। इसप्रकार आचार्य अकलंकदेव ने ये साधारण पारिणामिक भाव बतलाये हैं, मगर गुण में और स्वभाव में अन्तर है। गुण तो स्वभाव-रूप होते हैं, किन्तु स्वभाव गुण-रूप नहीं होते, इसलिए सामान्य गुणों की गणना में सब को ग्रहण नहीं किया है।

आचार्य भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी ने *प्रवचनसार* जी की गाथा 2/3 की व्याख्या में सामान्य गुण इसप्रकार बतलाये हैं— अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व और अगुरुलघुत्व। इनमें भी गुण और स्वभाव का भेद नहीं किया गया। *आलापपद्धति* के कर्ता आचार्य देवसेन स्वामी ने गुणों और स्वभावों को अलग-अलग गिनाया है। *द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश-नय-चक्र* के रचयिता ने भी उन्हीं का अनुकरण किया है।

नय-विवक्षा से आत्मा चेतन-अचेतन-स्वभावी है, यह बात अच्छी तरह से घटित हो गई है। परस्पर विरुद्ध-धर्मों का एक-साथ रहना सम्भव है, उनके साथ रहने में कोई विरोध नहीं है, अनन्त-गुणात्मक आत्मा में सत् की अपेक्षा सभी गुणों के परस्पर अभेद होने पर भी संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा परस्पर-भेद को स्वीकार किया होने से तथा न्याय-शास्त्र में प्रसिद्ध तीन विरोध भी यहाँ घटित नहीं होते हैं, बध्य-घातक, सहानवस्थान, प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक।

सहानवस्थान-रूप विरोध तो सम्भव नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु में भेद-अभेद सत्त्व-असत्त्व आदि-धर्म अपेक्षा-भेद से देखे जाते हैं। परस्पर परिहार-स्थिति रूप विरोध तो एक आम्र-फल में रूप और रस की तरह एक-साथ रहने वाले दो धर्मों में ही सम्भव होता है। बध्य-घातक भाव-रूप विरोध भी सर्प और नेवले की तरह बलवान् और कमजोर में ही होता है, किन्तु एक ही वस्तु में रहने वाले सत्त्व-असत्त्व, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य आदि-धर्म तो समान-बल-शाली हैं, अतः उनमें यह विरोध

भी संभव नहीं है। एकान्त-कथन में दोष ही दोष है, अनेकान्तवाद ही निर्दोष-तत्त्व-प्ररूपक है, —ऐसा समझना चाहिए। अनेकान्तवाद ही सम्यग्वाद है। यह छल व संशय-रूप नहीं है, यही सत्यार्थ-वाद है, जो अनेकान्तवाद को संशय-रूप से समझते हैं, वे अल्पधी स्व-प्रज्ञा की वृद्धि करके हठ-धर्मिता का विसर्जन करके विचार करें, तो उन्हें ज्ञात हो जाएगा कि स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, अपितु स्याद्वाद ही सम्यग्वाद है। बिना स्याद्वाद के गृह-व्यापार तक भी नहीं चलता, फिर परमार्थ कैसे चल सकता है?... किसी भी विषय पर टिप्पणी करने के पूर्व तद्विषय का गंभीर अध्ययन करना अनिवार्य है, अन्यथा प्रशंसा-पात्र होने के स्थान पर हास्य के पात्र ही बन जाएँगे। अतः स्याद्वाद-सिद्धान्त का अध्ययन निर्मल भाव से करो। जिससे स्याद्वाद में सम्यग्वाद समझ में आने लगे, फिर नहीं कह पाओगे कि स्याद्वाद छल-वाद व संशय-वाद है। जिस व्यक्ति ने स्याद्वाद व अनेकान्त-सिद्धान्त को संशय-वाद कहा है, वह स्वयं में संशय-वादी था, उसे किञ्चित् भी जिज्ञासा-भाव तत्त्व-निर्णय का होता, तो अवश्य ही वह भी स्याद्वाद का ही घोष करता, परन्तु क्या करें?..... अनादि की अविद्या के वश जीव ईर्ष्या-भाव को प्राप्त होता है, जिसके निमित्त सत्यार्थ को भी कहने में संकोच करता है, पर ध्यान रखना— ईर्ष्या के वश सत्य कोई न कहे, तो क्या सत्य असत्य हो जाएगा?... नहीं, सत्य तो सत्य ही रहेगा, अन्य की ईर्ष्या से क्या आप सत्यार्थ-शासन का त्याग कर देंगे?.... —ऐसा कभी नहीं करना; कहा भी है—

ईसाभावेण पुणो केई णिदंति सुन्दरं मग्गं।

तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे।।

—नियमसार, गा. 186

परन्तु ईर्ष्या-भाव से कई लोग सुन्दर मार्ग को निन्दते हैं, उनके वचन सुनकर जिन-मार्ग के प्रति अभक्ति नहीं करना, अपितु निःश्रेयस्-सुख के लिए भक्ति करना।

अज्ञ बहिरात्मा मिथ्या-मार्ग को मिथ्या-मार्ग जानते हुए भी उसे नहीं छोड़ते, —ऐसा तीव्र मिथ्या-राग होता है कि प्राणों का परित्याग करने को भी तैयार रहते हैं, लेकिन मिथ्या धारणा को नहीं बदलते। अहो! क्या आश्चर्य है, मिथ्या अज्ञान का कि जीव भव-भ्रमण से किञ्चित् भी भयभीत नहीं होता, उसी में लीन रहता है, और उसकी पुष्टि में अपने परिणामों को लगाता है, एक क्षण भी सम्यक्त्व में शान्ति की श्वास नहीं लेता।

भो ज्ञानियो! एक मिथ्यादृष्टि मिथ्यामार्ग में इतना दृढ़ है, फिर हम वीतराग सम्यक्-मार्ग के प्रति मृदु क्यों बने हैं, अर्हन्मत साक्षात्-सिद्धि का निलय है, इसे कौन भव्य त्याग सकेगा?.... अहो! अभागे ही छोड़ने का विचार कर सकेंगे, सम्यग्ज्ञानी भाग्यवान् तो स्वप्न में भी जिन-शासन से अपने-आपको पृथक् करने से भयभीत हो जाएगा। तत्त्व-ज्ञानी सत्यार्थ-मार्ग का कभी भी त्याग नहीं करता। जो जीव जिन-शासन से भिन्न होकर आत्म-शान्ति निर्वाण-सुख की अभिलाषा रखता है, वह अज्ञ सूखे सरोवर में कमल खिलाने की भावना रखता है, पर वह सम्भव नहीं है। अहो मेरे मित्र! मेरी इतनी बात प्रेम से स्वीकार कर लेना— किसी भी स्थिति में वीतराग-सर्वज्ञ-शासन से अपने-आप को पृथक् नहीं करना, सम्पूर्ण विश्व में समीचीन मार्ग कोई है, तो मात्र अर्हत्-शासन ही है। ईर्ष्यालु की ईर्ष्या से भगवन्त में न्यूनता नहीं आती, भूतार्थ तो भूतार्थ ही रहेगा, ईर्ष्या वही करता है, जिसका स्वयं पुण्य क्षीण होता है और स्वयं के यश व पूजा की भावना रखता है, पर ईर्ष्या से कभी पूजा नहीं होती, पूजा तो पुण्योदय होने पर ही चरित्रवान् की ही होती है।॥३॥

विशुद्ध-वचन

* परिणाम निर्मल

तो लाठी

सहारा,

पर यदि खोदें पवित्रता

परिणाम.....,

तो चोट कर देती

वह

सर पर....।

* हे मुमुक्षु !

यदि नष्ट करना है

कर्मों को,

तो नष्ट कर

कषायों को....।

* भुजबल

वह नहीं

जो

मंथन करे

समुद्र में;

भुजबल वह

जो मथे

कषायों को.....।

* सब खो देते विवेक

तूफान और आवेग में,

विरले होते

जो रख पाते विवेक

वेग और आवेग में भी...।

श्लोक-4

उत्थानिका— यहाँ पर शिष्य जिज्ञासा प्रकट करता है कि हे भगवन्! यह तो समझाएँ कि निर्विकार, चिदानन्द, एक-स्वभाव पद-रूप वह ज्ञान आत्मा से भिन्न है या अभिन्न है?

समाधान— आचार्य-देव समझाते हैं:—

ज्ञानादिभन्नो न चाभिन्नो¹, भिन्नाभिन्नः कथंचन।

ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोऽयमात्मेति कीर्तितः॥

अन्वयार्थ— (ज्ञान) आत्मा का ज्ञान गुण, (पूर्वापरीभूत) भूतकाल और भविष्यत्काल के पदार्थों को जानने रूप पर्यायों वाला है, (स अयं आत्मा) वह यह प्रसिद्ध आत्मा, (ज्ञानात्) उस ज्ञान-गुण से, (भिन्नः न) सर्वथा भिन्न नहीं है, (च) और, (अभिन्नः न) सर्वथा अभिन्न भी नहीं है, यानी एक-रूप भी नहीं है, (कथंचन) किसी अपेक्षा से (भिन्नाभिन्नः) भिन्न और अभिन्न है, (इति) इस प्रकार, (कीर्तितः) कहा गया है॥४॥

परिशीलन— स्वभाव, स्वभाववान् का वर्णन इस कारिका में आचार्य भगवन् कर रहे हैं। लोक में दो ही अवस्थाएँ हैं— एक स्वभाव, एक स्वभाववान्। दोनों एक भी हैं, अनेक भी हैं। बिना स्वभाव के कोई स्वभाववान् नहीं होता तथा बिना स्वभाववान् के स्वभाव का कोई अस्तित्व नहीं होता। लोक छः द्रव्यों का समूह है। उन छः द्रव्यों की स्थिति स्वभाव, स्वभाववान् रूप ही है। स्वभाव वस्तु का लक्षण है, स्वभाववान् लक्ष्यभूत वस्तु है। यदि वस्तु हो और वस्तु का कोई लक्षण न हो, तो आप स्वयं ही विचार करें, वस्तु को अन्य पाँच द्रव्यों में से एक भी द्रव्य से/को भिन्न नहीं कर पाएँगे, जब भिन्न नहीं होंगे, तो संकर-दोष खड़ा जो जाएगा, सभी द्रव्यों में एकल-भाव उत्पन्न हो जाएगा। स्वरूप-अस्तित्व का अस्तित्व ही नहीं बचेगा, स्वरूप-अस्तित्व का वर्णन पूर्व श्लोक के परिशीलन में हम देख चुके हैं, जो स्व-सत्ता का ज्ञापक है, पर-सत्ता से विभक्त करने वाला है। स्वरूप-अस्तित्व का ज्ञान करता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य-रूप नहीं है, पर क्यों नहीं है? —इस रहस्य का कर्त्ता कौन

1. डॉ. सुदीप जी ने 'चाभिन्नो' की जगह 'नाभिन्नो' पाठ दिया है, जबकि पूर्व-प्रकाशित अन्य दोनों संस्करणों में 'चाभिन्नो' पाठ ही है। 'नाभिन्नो' ही क्यों हो?.....इसका वहाँ कोई स्पष्ट आधार भी उल्लिखित नहीं है।

है?... ऐसा प्रश्न उत्पन्न होने पर जिससे ज्ञात होता है, वह स्वभाव है। एक द्रव्य का स्वभाव अन्य द्रव्य रूप किसी भी काल में किसी क्षेत्र में नहीं होता, प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव निज द्रव्य-रूप ही रहता है, जो स्वभाव है, वही तो वस्तु का गुण है। गुणी में गुण का अविनाभाव है, बिना गुण के गुणी और बिना गुणी के गुण नहीं होता, आकाश-पुष्प-वत्। धर्म-धर्मी न्याय की भाषा में कहें, तो जहाँ धर्मी होगा, वहाँ पर नियम से धर्म होगा; जहाँ धर्म होगा, वहाँ नियम से धर्मी होगा। जैसे— जहाँ अग्नि होगी, वहाँ पर उष्णता नियम से होगी, -यह ध्रुव सत्य है, अग्नि के बिना उष्णता, उष्णता के बिना अग्नि नहीं हो सकती; अग्नि का लक्षण ही उष्णता है, जैसे—पानी का लक्षण शीतलता है। धर्म द्रव्य का असाधारण लक्षण गति-हेतुत्व, अधर्म-द्रव्य का असाधारण धर्म स्थिति-हेतुत्व, आकाश का धर्म अवगाहन-हेतुत्व, काल द्रव्य का धर्म वर्तना-हेतुत्व, पुद्गल का धर्म मूर्तत्व एवं पूरण-गलना रूप उसमें रहने वाला असाधारण धर्म है, इसीप्रकार जीव का असाधारण लक्षण चेतनत्व व ज्ञान-दर्शन-स्वभाव है। आत्मा त्रिकाल ज्ञान-दर्शन-सम्पन्न रहता है, किसी भी अवस्था में ज्ञान-दर्शन से आत्मा भिन्न नहीं होती, —ऐसा समझना। पर यहाँ पर तो भिन्न भी है, ऐसा कहा है। ज्ञान आत्मा से भिन्न है तथा अभिन्न भी है। प्रश्न यहाँ हो सकता है कि एक ही द्रव्य में एक ही काल में भिन्नत्व-भाव व अभिन्नत्व-भाव कैसे घटित होगा? —ऐसा प्रश्न स्याद्वाद्-विद्या से अनभिज्ञ के अन्तःकरण में जन्म लेगा, स्याद्वाद्-तत्त्व को जानने वाले मुमुक्षु के मन में इस प्रश्न का जन्म ही नहीं हो सकता, स्याद्वादी तो अनेकान्त-धर्म को जानता है, वहाँ ये प्रश्न नहीं होते, वहाँ तो इन प्रश्नों का समाधान होता है। बिना स्याद्वाद् के मनीषियो! सम्यक्-रूपेण तत्त्व-ज्ञान सम्भव नहीं है, प्रत्येक वस्तु का ज्ञान सप्तभंगात्मक है, एक-एक भंगों का एकान्त भी मिथ्यात्व-रूप है, एक-एक सम्यक्-भंगों का समूह ही अनेकान्त है। सम्यक्-वक्ता प्रत्येक व्याख्यान को अनेकान्त-दृष्टि से, स्याद्वाद् की भाषा में करता है। जबकि मिथ्या-दृष्टि एकान्त-पक्ष से ग्रसित होकर स्व-मति को दूषित करता है और एक-मात्र दुर्गति का ही भाजन होता है, भव-भ्रमण का बन्ध ही करता है, मारीचि के जीव से पृच्छना कर लीजिए— एक बार के विपरीत-श्रद्धान एवं प्रतिपादन का क्या परिणाम निकला? भ. आदिनाथ स्वामी की भी देशना कार्यकारी नहीं हुई, जब उपादान निर्मल हुआ, परिणति विशुद्ध हुई, तब देशना काम कर पायी। भटकाव कितना ही हो गया हो, पर अन्त में शरण वहीं जाना पड़ा, जिस मुद्रा को त्याग कर एकान्त मत में आकर सांख्यदर्शन की प्रवृत्ति की, लेकिन सार क्या निकला, अनेकों को भ्रमित कर गये, पर

जब स्वयं का कल्याण करने का समय आया, तब वीतराग-जिन दिगम्बर-मुद्रा, स्याद्वाद् अनेकान्त का आलम्बन लेना ही पड़ा, और तभी भगवान् महावीर बन पाये।

मनीषियो! भ्रम में नहीं पड़ जाना, कितने भी विपरीत-मार्ग की स्थापना लोग कर लें; यह भी ध्यान रखना— स्थापना वे ही कर पाते हैं, जो पुण्य के द्रव्य से युक्त होते हैं, पुण्य क्षीण हो, उसका कोई पन्थ नहीं बन पाता, एक पर्याय के पुण्य को तो वे नष्ट कर ही गये, पर वे अनेक अनुयायियों को संसार में भ्रमित भी कर गये। मेरा यहाँ सामान्य जीवों को इंगित करना है; ध्यान दो— जैसे-कि लोक में वर्तमान में देखा जाता है कि जो राजनेता हैं, वे स्वयं अपनी सुरक्षा तो रखते हैं, पर व्यर्थ में सामान्य नागरिक कष्ट व पीड़ा को सहन करते हैं। व्यर्थ के आतंक में कितने नेता मरण को प्राप्त हुए और कितनी जनता?..... स्वयं निर्णय कीजिये— इसी प्रकार पन्थ-सम्प्रदायों के जनक स्वयं पुण्यवान् होते हैं, अहंकार के बश हो सामान्य जीवों को विपरीत, उत्पथ-दर्शक कु-सूत्र प्रदान कर जाते हैं और स्वयं अन्य पर्याय में पहुँचकर सम्यग्-आराधना करके भगवान् बन गए; देखा, भगवान् महावीर स्वामी को ही अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं थी। अतः वीतराग-मार्ग से हटकर जो भी उपदेश करे, उनकी बातों में नहीं आना, यदि स्व-कल्याण की इच्छा है, तो पुनः मूल पर आते हैं। ज्ञान से भिन्न है आत्मा, ज्ञान से अभिन्न है आत्मा, —इस विषय को अब स्याद्वाद्-सिद्धान्त से प्रतिपादित करते हैं। यदि आत्मा से ज्ञान में भिन्नत्व-भाव स्वीकार नहीं करते हैं, तो गुण व गुणी एकत्व को प्राप्त हो जाएगा और आत्म-भूत लक्षण का अभाव हो जाएगा। गुण स्वभाव होता है। गुणी स्वभावी होता है। गुण के द्वारा ही गुणी की पहचान होती है। अतः संज्ञा, लक्षण व प्रयोजन की अपेक्षा दोनों में भिन्नत्व-भाव है और प्रदेशत्व की अपेक्षा से अभिन्नत्व-भाव है, इसप्रकार समझना। गुण-गुणी में अयुत-भाव है, युत-भाव नहीं है, अत्यन्त भिन्न-भाव ज्ञान और आत्मा में नहीं है; कहा भी है—

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः।

परिणाम-विशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः।।

—आप्तमीमांसा, श्लो. 71

द्रव्य और पर्याय इन दोनों में परिणाम के विशेष शक्ति-अशक्ति भाव से एकता है, इन दोनों की अलग-अलग उपलब्धि नहीं होती। कारण-गुणी-सामान्य वस्तु/द्रव्य कहा जाता है। कार्य-गुण-विशेष पर्याय कहा जाता है, उन दोनों में अर्थात् द्रव्य और

पर्याय में एकत्व है, कैसे ?... अभिन्नता पायी जाने से, इससे गुण-गुणी के एकत्व रूप की गई पूर्व-प्रतिज्ञा का निराकरण हो जाता है। परिणाम-कार्य का अन्यथा-रूप होना, अतीत में जो वचन-गोचर है, उसका विशेष से अर्थात् परिणाम-विशेष से उसमें एकता है। जिससे शक्ति है, वह शक्तिवाला है, द्रव्य है, जो परिणामी है, प्रतिनियत कार्य को सम्पन्न करने की सामर्थ्य-विशेष शक्ति है, जैसे— घी आदि का चिकना होना, तृप्ति होना और वृद्धि करना आदि शक्तिमान् है और शक्ति का भाव होने से द्रव्य और गुण में एकता है, —ऐसा समझना, पर विवक्षा से एकता स्वीकारना, न-कि सर्वथा; जो कार्य-कारण को, गुण-गुणी को सर्वथा एकत्व-रूप समझते हैं, वे वस्तु-तत्त्व के सत्यार्थ-निर्णय तक नहीं पहुँचते। भो ज्ञानी! स्व-प्रज्ञा का किञ्चित् तो प्रयोग करो। यदि गुण-गुणी एक ही हैं, तो दो में से आपके ही अनुसार एक का अभाव स्वीकारना होगा, जहाँ गुण का अभाव हुआ कि गुणी का भी अभाव होगा, जहाँ गुणी का अभाव होगा, वहाँ गुण का भी अभाव हो जाएगा। पता चला कि अवस्तु का प्रसंग आ गया, इसलिए तत्त्व-प्ररूपणा जो भी की जाए, वह विवेक-पूर्वक की जाए। गुण-गुणी कभी ऐसे पृथक् नहीं, जैसे-कि दण्डी के हाथ में डण्डा। गुण-गुणी का सम्बंध घृत में चिक्कण के समान है। शब्द में, संज्ञा में और प्रयोजन में घृत और चिकनेपन में भेद है, पर क्या प्रदेश से भिन्नत्व है?..... प्रदेश भिन्नत्व नहीं है, प्रदेश से तो अभिन्नत्व ही है, जहाँ घृत द्रव्य है, वहीं चिक्कण गुण भी है, जैसा-कि आ. श्री समन्तभद्रस्वामी ने कहा है—

संज्ञा-संख्या-विशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।

प्रयोजनादि भेदाच्च, तन्नानात्वं न सर्वथा।।

—आप्तमीमांसा, श्लो. 72

नाम और संख्या की विशेषता से द्रव्य और गुण में भेद दिखायी देता है, नाम का भेद जैसे—ऊढ़ा और बधू। यहाँ ऊढ़ा गुण का नाम है और बधू गुणी का नाम है। प्रमदा-कामिनी में प्रमाद गुण का नाम है, कामिनी गुणी का नाम है, क्रोधवती भामा में क्रोधवती गुण का नाम है और भामा गुणी का नाम है। गुण दो, तीन, चार कितने ही हो सकते हैं, पर गुणी एक ही होता है। एक गुणी के आश्रय में कई गुण हो सकते हैं। अपना असाधारण लक्षण है, जिसकी विशेषता उससे भी द्रव्य-गुणी और गुण में भिन्नता है तथा द्रव्य से दूसरे प्रयोजन की सिद्धि होती है और पर्याय से दूसरे प्रयोजन की, वृक्ष, पत्र एवं पुष्प के समान। जैन-दर्शन में जो आत्मा को ज्ञान से

कथंचित् भिन्न कहा है, वह सापेक्ष-कथन है, संज्ञा लक्षण व प्रयोजन को लिये हुए है, एक-दूसरे में संयोग सम्बन्ध नहीं है, एक-दूसरे में अविनाभाव सम्बन्ध है, वैशेषिक दर्शन के सदृश गुण-ग्राही का सम्बन्ध जैन-दर्शन स्वीकार नहीं करता, उनका कथन ना तो आगम-सम्मत है, ना ही तर्क-सम्मत है, युक्ति एवं शास्त्र दोनों से ही वहाँ विरोध है। वस्तु स्वरूप का कथन तभी सत्यार्थ होता है, जब वह युक्त और आगम दोनों से घटित होता है।

वैशेषिकों का मत है कि गुण व गुणी भिन्न ही हैं, वे संयोग-सम्बन्ध स्वीकारते हैं, आत्मा भिन्न है, ज्ञानादि गुण भिन्न हैं, कर्त्ता-कर्म-करण में भेद करके समझाते हैं; जैसे— बसूले से वृक्ष को छीला जाता है, यहाँ वृक्ष भिन्न है, बसूला भिन्न है, छीलने वाला भी भिन्न है। इसीप्रकार आत्मा ज्ञान से पदार्थों को जानती है, आत्मा जानने वाला कर्त्ता भिन्न है, जानना क्रिया है। पदार्थ कार्य है, रूप भिन्न है, और ज्ञान से जिसे जानता है, वह करण है, वह भी भिन्न है। जिसप्रकार बसूले के संयोग से देवदत्त नामक पुरुष वृक्ष को छीलता है, उसीप्रकार आत्मा ज्ञान के संयोग से पदार्थों को जानता है, ऐसा वैशेषिकों ने दृष्टान्त के माध्यम से अपना मत प्रदर्शित किया। वह दूसरा दृष्टान्त देकर पुनः जैन-दर्शन से कहता है कि आप यह तो बतलाओ कि क्या नट अपने स्वयं के कन्धे पर बैठकर खेल दिखाता है?.....वह पर के कन्धे पर बैठकर ही खेल दिखाता है, उसीप्रकार ज्ञान भी स्वयं को नहीं जानता, पर को ही जानता है, यहाँ पर वैशेषिक ने दूसरे विपरीत सिद्धान्त का दृष्टान्त दिया है। एक ओर वह गुण-गुणी में सर्वथा भेद करता है, दूसरी ओर वह ज्ञान को पर-प्रकाशी मानता है, उनके मत में आत्मा स्व-ज्ञान से स्वयं को नहीं जानता, पर-ज्ञान से ही स्वयं को जान पाता है।

मनीषियो! यह विशेष रूप से वैशेषिक-मत का उन्मत्त-पना है, वस्तु स्वरूप के भूतार्थ ज्ञान से शून्यता की असीमिता का द्योतक समझना। भाषा का ज्ञान, स्वयं का चिन्तवन कभी सम्यक्-स्वरूप के प्ररूपक नहीं होते। जिसकी वाणी में स्याद्वाद का अमोघ अस्त्र न हो, तो चिन्तवन विपरीत हो सकता है, वह किसी भी भाषा में लिखा जा सकता है, चिन्तवन चित्त से चलता है, परन्तु वस्तु-स्वभाव स्वरूप से होता है, उसे कोई परिवर्तित नहीं कर सकता। देखो, जैसे— कोई अग्नि की संज्ञा शीतल करके पुकारे, तो क्या उस अज्ञ के द्वारा अग्नि की उष्णता का अभाव हो गया?... जैसे— किसी का नाम देवपुत्र है, तो क्या वह देव का पुत्र हो गया?.... जैसे— असंयमी

जीव अपने-आपको संयमी स्वरूपाचरण में लीन कहने लगा, तो क्या वह असंयम-अवस्था में शुद्धोपयोग में लीन होने लगेगा?... अहो मुमुक्षुओ! किञ्चित् स्व-विवेक का प्रयोग तो करो, बेटे का नाम अरहंत रख लिया, तो क्या वह अरहंत हो गया?... नाम मात्र से क्या कहीं कोई अर्हता को प्राप्त होता है, यह तो भाषा का खेल है। उसी प्रकार आगम के विपरीत उत्सूत्र के प्रतिपादक लोगों के द्वारा कभी भी वस्तु-स्वरूप नहीं बदला जा सकता, विपरीत-कथन करके सु-मरण को प्राप्त न होकर दुर्गति के ही भाजन होते हैं और मिथ्यात्व के पोषक होकर दीर्घ संसार में भ्रमण करते हैं, मारीचि के समान अन्त में सत्यार्थ-मार्ग का आलम्बन लेना ही पड़ता है। यह ध्रुव सत्य है कि समीचीन मार्ग पर चले बिना सत्य-मार्ग की प्राप्ति होती ही नहीं, अतः यहाँ पर यह समझना है कि वैशेषिकों के द्वारा दिये गये तर्क तर्काभास हैं तथा उनके दृष्टान्त भी सर्व-देश घटित नहीं होते हैं, वे भी दृष्टान्ताभास हैं। अब यहाँ उक्त वैशेषिक कथित विषय की मीमांसा करते हैं— वैशेषिकों का सर्वप्रथम मत है कि गुण व गुणी सर्वथा भिन्न-स्वरूप ही हैं, —यह कहना आकाश में पुष्प-उत्पत्ति-तुल्य ही समझना; जैसे— आकाश में पुष्प पुष्पित नहीं होते, उसीप्रकार गुण सर्वथा गुणी से भिन्न नहीं होते। कारक भेद-अभेद रूप होते हैं, वे मात्र न भेद-रूप ही होते हैं, न अभेद-रूप ही। कारक भेदाभेद-रूप हैं, प्रत्येक कार्य की सिद्धि में भेदाभेद-कारक लगते हैं। जो बसूले का दृष्टान्त दिया है, वे भेद-कारक हैं, भेद-कारक पर का आलम्बन लेता है एवं अभेद-कारक एक ही द्रव्य में घटित होते हैं। गुण-गुणी में कथञ्चित् भेद के कारण नहीं लगते हैं, कथञ्चित् होते हैं, तत्त्व-प्ररूपणा की शैली उभय-कारक है, एकांगी नहीं है। देखिए; जैसे— आपने कर्ता, कर्म, करण तीनों कारण भिन्न द्रव्य पुरुष, बसूले, एवं वृक्ष में भिन्न-भिन्न घटित किये हैं। दृष्टान्त देखिए— मिट्टी ने मिट्टी को मिट्टी के द्वारा मिट्टी के लिए मिट्टी से ही मिट्टी में घट निर्मित किया, उसी प्रकार प्रमाता ने प्रमाता को, प्रमाता के ही ज्ञान-गुण से प्रमेयों को जाना। प्रमाता यानी ज्ञाता-आत्मा, प्रमेय यानी ज्ञेय, जानने-योग्य पदार्थ, अतः यहाँ पर यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ही द्रव्य में अभिन्नत्व में गुण-गुणी का भाव होता है, गुण-गुणी-भाव भिन्नत्व में नहीं होता, गुण-गुणी में अयुतसिद्धि है, युत-सिद्धिपना नहीं है। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द देव ने उक्त विषय को बहुत सुन्दर शैली में समझाया है—

णाणी णाणं च सदा अत्थं-तरिदा दु अण्ण-मण्णस्स ।

दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ।।

यदि ज्ञानी और ज्ञान सदा परस्पर अर्थान्तर-भूत हों, तो दोनों को अचेतनपने का प्रसंग आ जाये —ऐसा “जिन का सम्यक् मत है।”

यदि ज्ञानी (आत्मा) ज्ञान से अर्थान्तर भूत हो, तो आत्मा अपने करण अंश, बिना कुल्हाड़ी रहित, देवदत्त की भाँति करण का व्यापार करने में असमर्थ होने से न चेतता (जानता) हुआ ही अचेतन ही होगा और यदि ज्ञान ज्ञानी (आत्मा) से अर्थान्तर-भूत हो, तो ज्ञान अपने कर्त्ता अंश के बिना, देवदत्त-रहित कुल्हाड़ी की भाँति, अपने कर्त्ता का व्यापार करने में असमर्थ होने से न जानने के कारण अचेतन ही होगा। पुनश्च युत-सिद्ध, पृथक्-सिद्ध, ऐसे ज्ञान और ज्ञानी के संयोग से चेतनपना हो, —ऐसा भी नहीं है, क्योंकि निर्विशेष द्रव्य निराश्रय-शून्य होते हैं अर्थात् गुण के बिना द्रव्य और द्रव्य-रूप आश्रय के बिना गुण का अभाव होता है।

यदि कोई यों कहे कि समवाय से ज्ञानी जानता है, यानी आत्मा ज्ञान के संयोग से ज्ञेयों को जानता है, तो यह बात भी अभूतार्थ ही है, किंचित् भी सम्यक् नहीं है, समवाय का जो अर्थ नैयायिक और वैशेषिक करते हैं, वह यहीं घटित नहीं होता, नैयायिक और वैशेषिक समवाय का अर्थ संयोग करते हैं, जो कि युत-सिद्ध है, अपृथग्भूत है, वह जैन-दर्शन स्वीकार नहीं करता। जैनदर्शन में कहा है कि द्रव्य और गुण एक-अस्तित्व से रचित हैं, इसलिए उनकी जो अनादि-अनंत सह-वृत्ति (एक-साथ रहना) है, वह वास्तव में समवर्तीपना है, वही जैनों के मत में समवाय है। वही संज्ञादि भेद होने पर भी वस्तु-रूप से अभेद होने से अपृथक्पना है, वही युतसिद्धि के कारण-भूत अस्तित्वांतर का अभाव होने से अयुतसिद्धपना है, इसलिए समवर्तित्व-स्वरूप समवाय वाले द्रव्य और गुण अयुतसिद्ध ही हैं, गुण और गुणी में पृथक्पना नहीं है। पुनः एक बार ध्यान देना चाहिए— यदि ज्ञान को ज्ञानी से अत्यन्त-भेद रूप मानोगे, तो समवाय नाम के सम्बन्ध से भी उनकी एकता नहीं की जा सकती है।

ण हि सो समवायादो अत्थंतरिदो दुणाणदो णाणी।

अण्णाणीति य वयणं एगत्तप्पसाधगं होदि।

—पंचास्तिकाय, गा. 49

तथा ज्ञान से अत्यन्त भिन्न होता हुआ, वह जीव समवाय सम्बन्ध से ज्ञानी नहीं होता है। यह जीव अज्ञानी है, —ऐसा वचन गुण और गुणी की एकता को साधने वाला हो जाता है।

यहाँ दो विचार पैदा होते हैं कि ज्ञान के साथ जीव का समवाय सम्बन्ध होने के पूर्व यह जीव ज्ञानी था या-कि अज्ञानी?... यदि कहोगे कि ज्ञानी था, तो ज्ञान का समवाय सम्बन्ध हुआ, यह कहना व्यर्थ होगा, क्योंकि ज्ञानी तो पहले से था अथवा यदि कहोगे कि वह अज्ञानी था, तो वहाँ भी दो विचार उठते हैं कि वह अज्ञान-गुण के समवाय-सम्बन्ध से अज्ञानी था कि स्वभाव से अज्ञानी था। यदि वह जीव अज्ञान-गुण के समवाय से अज्ञानी था, तो अज्ञान-गुण का समवाय कहना वृथा होगा, क्योंकि अज्ञानी तो पहले से ही था, अथवा यदि मानोगे कि स्वभाव से अज्ञानीपना है, तो जैसे अज्ञानीपना स्वभाव से है, वैसे ज्ञानीपना भी स्वभाव से क्यों न मान लिया जावे, क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण है, गुण और गुणी भिन्न नहीं होते। यहाँ यह तात्पर्य है कि जैसे सूर्य में मेघों के पटलों से आच्छादित होते हुए भी प्रकाश पहले से ही मौजूद है; फिर जितना-जितना पटल हटता है, उतना-उतना प्रकाश प्रकट होता है, वैसे ही जीव में निश्चय-नय से क्रमवर्ती जानने से रहित तीन लोक सम्बन्धी व उसके भीतर रहने-वाले सभी पदार्थों के अनन्त स्वभावों को प्रकाश करने वाला अखण्ड प्रकाशमयी केवल-ज्ञान शक्ति-रूप में पहले से ही मौजूद है, किन्तु व्यवहार-नय से अनादि काल से कर्मों से ढका हुआ वह पूर्ण प्रकट नहीं है एवं उस पूर्ण-ज्ञान का पता नहीं चलता है, फिर जितना-जितना कर्म-पटल घटता जाता है, उतना-उतना ज्ञान प्रकट होता जाता है। वह ज्ञान जीव के बाहर कहीं भी नहीं है, जहाँ से जीव में आता हो और पीछे समवाय-सम्बन्ध से जीव से मिल जाता हो, यहाँ पर यह निर्णय समझना ज्ञान आत्मा का धर्म है, धर्म धर्मी से कभी भी भिन्न नहीं होता है, अतः आत्मा ज्ञानी है, ज्ञान आत्मा में है।

समवाय की परिकल्पना में अनवस्था-दोष आता है, क्योंकि आत्मा चेतना के समवाय से चैतन्यवान् हुआ, तो चेतना किसके समवाय से चेतन हुई?... —यह प्रश्न अनवस्था की उपस्थिति करता है। अतः अग्नि के उष्ण-गुण की तरह आत्मा का चैतन्य-स्वरूप भी स्वभावतः है, समवाय से नहीं।

ज्ञान जो है, वह “पूर्वापरीभूत” भूतकाल, भविष्यकाल के विषय को जानने वाला है, स्व के साथ। जो पूर्व में दृष्टान्त देकर शंका रखी थी, ज्ञान पर को ही जानता है, स्व को नहीं जानता, नट का उदाहरण देकर जो आलाप किया है, वह भी वैशेषिकों की बुद्धि-न्यूनता का ही प्रतीक है। ज्ञानियो! एक ज्ञान के द्वारा दूसरे ज्ञान की आवश्यकता बतलाना ऐसे ही है, जैसे— जलते दीपक को खोजने के लिए एक और

दीपक जलाना, ज्ञान पर-प्रकाशी है, कितना बड़ा आश्चर्य है, जो पर को प्रकाशित करे और स्वयं को प्रकाशित न कर पाए, —यह कथन युक्ति व आगम के विरुद्ध है, जैन-दर्शन में ज्ञान को स्व-पर-प्रकाशक कहा है, वही प्रमाण है।

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।।

—परीक्षामुख सूत्र-1

जो अपने-आपको अथवा अपने स्वरूप को और अन्य पदार्थों के स्वरूप को निर्णय को विशेष रूप से धारण करता है, वही प्रमाण कहा जाता है। जैसे— नट स्वयं अपने कंधे पर चढ़ने का अभिनय नहीं कर सकता, उसीतरह ज्ञान अपने को प्रकाशित नहीं करता, —यह मत जैनों के विचार से युक्ति-संगत नहीं है। जैसे— दीपक स्व-पर-प्रकाशक होता है, स्व को भी प्रकाशित करता है और पर-पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, ऐसा जैनों का ज्ञान के संबंध में मत है। वह मात्र पर-प्रकाशी नहीं, वह तो स्व-पर-प्रकाशी है, उसीप्रकार जो ज्ञान अन्य को जानता है, वह ज्ञानी स्व को भी जानता है, अतः यहाँ पर आचार्य भगवन् अकलंक स्वामी ने इस कारिका में गुण-गुणी का स्याद्वाद् नय से बहुत ही सुन्दर कथन किया है, नय-प्रमाण से तत्त्व का परिज्ञान ही श्रेयस्कर है, यही परम-उपादेय है ॥४॥

विशुद्ध-वचन

* मानव की
मूँछ और पूँछ
दोनों बनते
दुर्गति के कारण.....
इसलिए सँभाल कर रखो
इन्हें..... ।

* जानते हैं झुकना
गुणों से भरे
गुणी..... ।

* मत मारो पग
पद के मान में आकर
पता नहीं कब चला जाए पद...?
पर पग मारने का बन्ध
रह जाता बँधा
लम्बे समय तक..... ।

* मान बना देता
मानव को
दानव... ।

श्लोक¹-5

उत्थानिका— शिष्य जिज्ञासा प्रकट करता है—भगवन्! आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से तथा ज्ञान की अपेक्षा से कैसी है ?.....

समाधान— आचार्य-देव कहते हैं—

स्वदेहप्रमितश्चायं, ज्ञानमात्रोऽपि नैव सः ।

ततः सर्वगतश्चायं, विश्वव्यापी न सर्वथा ॥

अन्वयार्थ— (अयं) यह आत्मा, (स्वदेहप्रमितः) अपने शरीर के बराबर है, (च) और, (सः) वह आत्मा, (ज्ञानमात्रः अपि) ज्ञान गुणमात्र भी, (नैव) नहीं है, (ततः) इस कारण, (अयं) यह आत्मा, (सर्वथा) सब तरह, (सर्वगतः) समस्त पदार्थों को स्पर्श करने वाला, (न) नहीं है, (विश्वव्यापी) समस्त जगत् में व्यापने वाला भी सर्वथा, (न) नहीं है ॥5॥

परिशीलन— आचार्य भगवन्त इस कारिका में जीव-द्रव्य के प्रति विभिन्न दार्शनिकों द्वारा स्थापित नाना प्रकार के भ्रमों का निरसन कर रहे हैं, लोक में नाना जीव हैं, नाना कर्म हैं, सभी अपने-अपने क्षयोपशम से युक्त हैं।

अहो ज्ञानियो! जगत् के जीव सभी भगवत्-शक्ति सम्पन्न हैं, उनके प्रति द्वेष-भाव नहीं करना, कारण कि द्रव्य-दृष्टि से देखो! जो मिथ्या धारणा में जी रहा है, वही परम सम्यक्त्व दशा को भी प्राप्त कर लेता है और स्वयं का कल्याण कर शिवत्व को प्राप्त होता है, मिथ्या-मत का निषेध करना अनिवार्य है। जितनी अनिवार्यता सम्यक्-मार्ग की स्थापना की है, उतनी ही अनिवार्यता मिथ्या मत के निरसन की होनी चाहिए। कारण समझना लोक में ऐसे भी जीव हैं, जो विधि को स्वीकार करने के बाद निषेध पर भी दृष्टि रखते हैं, कहते हैं, कि अमुक वस्तु उपादेय है, यह तो ठीक है, पर अमुक वस्तु हेय है, —यह तो कहा ही नहीं है। विधि का कथन करने के साथ निषेध का कथन करना अति-अनिवार्य है, जैसे— किसी से कहा कि अरहन्त देव की आराधना करना चाहिए, वह कहता है— ठीक है, अरहन्त की आराधना करना

1. इस श्लोक का निम्न पाठ और मिलता है तथा निम्न पाठ ही ग्राह्य क्यों हो?.... इसके आधार वहाँ उल्लिखित नहीं हैं, अतः हम उक्त पाठ ही स्वीकारते हैं—

स्वदेहप्रमितश्चायं, ज्ञानमात्रोऽपि नैव सः ।

तत्सर्वगततः सोऽपि, विश्वव्यापी न सर्वथा ॥

चाहिए, परन्तु अन्य देवों की पूजा नहीं करना चाहिए, —ऐसा कहाँ कहा गया है, मैं उनको भी मानता हूँ, लेकिन ज्ञानियो! यह मिथ्या धारणा है। तत्त्व-ज्ञानियों का कर्तव्य बनता है कि तत्त्वोपदेश इसप्रकार का होना चाहिए, जिससे प्रज्ञावान् एवं मंद-मति दोनों का अनुग्रह हो, इसलिए विधि के साथ निषेध का कथन करना अनिवार्य है, जगत् विचित्र है, उस विचित्रता का अवलोकन करते हुए ही व्याख्यान करना अपेक्षित है; यही कारण है कि पूर्वाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उभय-नय से कथन किया है, जो जिस नय का पात्र है, वह उस नय से तत्त्व को समझ ले, परन्तु नय को लेकर विसंवाद न करे। नय वस्तु तो है नहीं, वह तो वस्तु को समझने-समझाने की पद्धति/शैली है। अज्ञ जीव उस शैली को न समझने के कारण अनेक प्रकार के पन्थ एवं सम्प्रदायों में विभक्त हो गए। जब-कि तत्त्व-ज्ञान एकत्व-विभक्त शुद्धात्म-चिद्रूप-तत्त्व को समझाता है, अल्पधी तत्त्व-ज्ञान में ही विसंवाद करके काषायिक भाव कर कर्म-बन्ध को प्राप्त होते हैं। न्याय-शास्त्रों में जो पर-मत का आश्रय लेकर चर्चा की जाती है, उसका यथार्थ उद्देश्य समझो, जो जीव-तत्त्व के विपरीत चले गये हैं, उन्हें पुनः समीचीन तत्त्व में स्थापित करना तथा प्रबल कारण यह भी है, जो तत्त्व के प्रति निर्भ्रान्त हैं, वे कहीं भ्रान्ति को प्राप्त न हो जाएँ, कदाचित् दुराग्रह से दूषित परिवर्तित हों, न हों, पर उनके छल-प्रपञ्च में अन्य भोले प्राणी न चले जाएँ, ऐसी करुणा-बुद्धि से आचार्य-देव के द्वारा तर्क एवं आगम से समीचीन व्याख्या भव्यों को प्रदान की गई है। मिथ्या धारणा से आत्म-रक्षा करना अति-आवश्यक है, असंयम के जीवन से मिथ्यात्व-सहित जीवन अधिक घातक है, श्रद्धा की रक्षा प्रति-पल करना चाहिए। किञ्चित् भी तत्त्व की विपरीत-आस्था नहीं लेना चाहिए, इसलिए न्याय-शास्त्रों का अभ्यास परम आवश्यक है, कारण कि न्याय-शास्त्रों में सभी मतों की विपरीतता एवं स्व-मत की सिद्धि का ज्ञान भी हो जाता है। कभी-कभी स्व-मत संबंधित आचरण करते हुए भी व्यक्ति पर-दर्शनों के सिद्धान्तों पर व्यावहारिक रूप से चलने लगता है, जैसे-कि सूर्य-ग्रहण व चन्द्र-ग्रहण के समय सूर्य, चन्द्र को देवता मानकर यह कहना कि भगवान् पर कष्ट आ गया अथवा सूतक लग गया है; आदि-आदि। मंदिर नहीं जाना, भोजन नहीं करना अथवा तत्काल मंदिर के दरवाजे बंद कर देना, यह-सब जैन सिद्धान्त के विपरीत है। आगम में ग्रहण-काल में मात्र सिद्धान्त-ग्रन्थों के अध्ययन का निषेध है, न कि भगवान् की भक्ति-वंदना का निषेध है, भगवान् की भक्ति व वंदना तो उस काल में अधिक करनी चाहिए। सूर्य व चंद्रमा ज्योतिष्क देव हैं, जो आकाश में दिखायी देते हैं, वे विमान हैं। सूर्य-चंद्र विमान के सामने जब

राहु-केतु के विमान आ जाते हैं, तो उनके प्रकाश में मंदता आ जाती है। कोई किसी को न निगलता है, न कष्ट देता है, इस विपरीतता का त्याग करो। आगम जाने बिना सहसा किसी भी व्यक्ति की बात नहीं मान लेना। लोक-मूढ़ता का त्याग करना चाहिए। ऐसी लोक-मूढ़ता में नहीं आना चाहिए, जिससे अपने सम्यक्त्व एवं चारित्र्य दोनों की हानि हो जाए। वह लोक-रूढ़ि कथञ्चित् स्वीकार है, जिससे सम्यक्त्व व चारित्र्य की हानि न होती हो।

ज्ञानियो! आज वर्तमान में सर्वत्र मिथ्यात्व की वृद्धि देखी जा रही है, विद्यालयों से लेकर श्मशान-भूमि तक तत्त्व के प्रति विपरीतता दिखायी देती है। आत्मा के विषय में बहुत ही भ्रान्ति है। विभिन्न दर्शनों में कुछ नास्तिक-दर्शन तो आत्मा की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते। बहुत बड़ा आश्चर्य है। अरे! जीव कैसे हैं? स्वयं जीवत्व के भाव से युक्त होने पर भी जीवत्व के अभाव की सिद्धि में जीवन नष्ट कर रहे हैं।

अहो! अज्ञानता की सीमा तो देखो! कितना अज्ञान है, स्वयं को जड़ घोषित करने में धर्म स्वीकारते हैं, तथा जड़ता की सिद्धि हेतु अनेक प्रकार के हेतु, शास्त्र भी निर्मित कर लिये हैं, अपनी मान्यता की पुष्टि के निमित्त, तर्क देकर दर्शन-शास्त्र तैयार कर लिये, षड्दर्शनों में भी सभी दर्शन स्व-मत की पुष्टि का ही प्रयास करते हैं, पर सत्यता का ज्ञान तो मनीषियो! तटस्थ होकर ही सम्भव दिखता है। सत्य की खोज करना है, तो मध्यस्थ होकर ज्ञाता-दृष्टा भाव में लीन होना होगा। स्व-प्रज्ञा को शान्त करके चिन्तन करना चाहिए कि भूतार्थ मार्ग क्या है ?... किसी भी दर्शन में बहना नहीं, बहकना नहीं, सर्वप्रथम स्व-प्रज्ञा से तर्क लगाना चाहिए कि सत्यता कहाँ तक है?... लोक कहता है अथवा वृद्ध-वचन हैं, इसलिए बात प्रामाणिक नहीं होती है। वक्ता प्रामाणिक होना चाहिए, वक्ता के वचन युक्ति एवं आगम से सम्मत हैं या नहीं, —इस बात पर विचार करना अनिवार्य है, आप्त-वचन आगम-प्रमाण ही होते हैं, आप्त-वचन ही आगम हैं, —ऐसा आर्ष-वचन है।

आप्त-वचनादि-निबन्धनमर्थ-ज्ञानमागमः ।

—परीक्षामुख, सूत्र 3/95

आप्त के वचनादि के निमित्त से होने वाले अर्थ-ज्ञान को आगम कहते हैं, उक्त आगम-वचन ही प्रामाणिक है, अन्य नहीं। विभिन्न मतों में आत्मा के स्वरूप में बहुत भिन्नता है।

किं वि भणंति जिउ सव्व गउ जिउ जड्ड के विभणंति ।

किं वि भणंति जिउ देह समु सुण्णुविकेवि भणंति ।।

—परमात्मप्रकाश, 50 / 59

कोई नैयायिक, वेदान्ती और मीमांसक दर्शन वाले जीव को सर्व-गत कहते हैं। कोई सांख्य दर्शन वाले जीव को निष्क्रिय कहते हैं। कोई बौद्ध दर्शन वाले जीव को शून्य भी कहते हैं, किंतु जिन-धर्मी जीव को व्यवहार-नय से देह-प्रमाण कहते हैं और निश्चय-नय से लोक-प्रमाण मानते हैं।

यह आत्मा व्यवहार-नय से केवलज्ञान की अपेक्षा लोक-अलोक को जानता है और शरीर में रहने पर भी निश्चय-नय से अपने स्वरूप को जानता है, इस कारण ज्ञान की अपेक्षा तो व्यवहार-नय से सर्व-गत है, प्रदेशों की अपेक्षा सर्व-गत नहीं है, पर जैसे मीमांसक तथा वेदान्ती आत्मा को प्रदेशों की अपेक्षा से व्यापक मानते हैं, वैसा नहीं है। ज्ञानात्मक-दृष्टि से आत्मा सर्व-गत है, इस विषय में भगवन् कुन्दकुन्द देव ने प्रवचनसार में कहा है—

आदा णाण-पमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्धिडं ।

णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ।।

—ज्ञानतत्त्व अधिकार, 24

आत्मा ज्ञान-प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण कहा गया है। ज्ञेय लोकालोक है, इसलिए ज्ञान सर्व-गत व सर्व-व्यापक है। जैसे— दर्पण में दीर्घ वस्तु भी प्रतिबिम्बित होती है, उसीप्रकार ज्ञान में लोकालोक प्रमाण-प्रमेय झलकते हैं। ज्ञान के बाहर कोई भी प्रमेय नहीं है; यों कहें कि प्रमाण से पृथक् कोई प्रमेय नहीं जाते, भिन्न होने पर भी अभिन्न होते हैं। प्रमाता प्रमाण से प्रमेय को जानता है, अतः जितने ज्ञेय हैं, उतना ही ज्ञान का विषय है, यदि ज्ञेय लोकालोक है, तो ज्ञान का विषय भी लोकालोक है। ज्ञान सम्पूर्ण द्रव्यों के विषय जानता है, इसलिए सर्व-गत है और वह ज्ञान आत्मा का गुण है। गुण-गुणी में अभेद है, इस दृष्टि से आत्मा ही ज्ञान है, ज्ञान ही आत्मा है। इस अपेक्षा से आत्मा सर्व-जीव-गत है। विश्व-व्यापी है आत्मा, परन्तु सर्वथा नहीं; जैसे कि ब्रह्माद्वैतवादी आत्मा या ब्रह्म को सर्व-व्यापी मानते हैं। जैन-दर्शन आत्मा को सर्व-व्यापी ज्ञानात्मा ही मानता है, देशात्मक तो मात्र समुद्घात की अवस्था में ही बनता है। आत्मा में संकोच-विस्तार नाम की शक्ति है, जिसके माध्यम से छोटा-बड़ा होता रहता है, नाम कर्म की प्रकृति से आत्मा नाना आकारों को प्राप्त होता है, फिर

भी स्व-देह प्रमाण ही है। जितना बड़ा शरीर, उतनी बड़ी आत्मा है। संसार में शरीर से भिन्न आत्मा नहीं है। छोटा शरीर होगा, आत्मा भी उतनी ही होगी, बड़ा शरीर होगा, तब आत्मा भी बड़ी होगी, अन्यथा-रूप नहीं होगी; कहा भी है—

जह पउम-राय-रयणं खित्तं खीरेपभासयदि खीरं।

तह देही देहत्थो सदेह-मित्तं पभासयदि॥

—पंचास्तिकाय, गा. 33

अर्थात् जिसप्रकार पद्म-राग-रत्न दूध में डाला जाने पर दूध को प्रकाशित करता है, उसीप्रकार देही देह में रहता हुआ स्व-देह-प्रमाण प्रकाशित होता है। पद्म-राग-रत्न दूध में डाला जाने पर अपने से अभिन्न प्रभा-समूह द्वारा उस दूध में व्याप्त होता है, उसीप्रकार जीव अनादिकाल से कषाय द्वारा मलिनता के कारण प्राप्त शरीर में रहता हुआ स्व-प्रदेशों द्वारा उस शरीर में व्याप्त होता है और जिसप्रकार अग्नि के संयोग से उस दूध में उफान आने पर उस पद्म-राग-रत्न के प्रभा-समूह भी बैठ जाते हैं, उसीप्रकार विशिष्ट आहारादिक के वश उस शरीर में वृद्धि होने पर उस जीव के प्रदेश विस्तृत होते हैं, और-फिर शरीर सूख जाने पर प्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं। पुनश्च जिसप्रकार वह पद्म-राग-रत्न दूसरे अधिक दूध में डाला जाने पर स्व-प्रभा-समूह के विस्तार द्वारा उस अधिक दूध में व्याप्त हो जाता है, उसीप्रकार जीव दूसरे बड़े शरीर में स्थित होने पर स्व-प्रदेशों के विस्तार द्वारा उस बड़े शरीर में व्याप्त होता है, और जिसप्रकार वह पद्म-राग-रत्न दूसरे कम दूध में डालने पर स्व-प्रभा-समूह के संकोच द्वारा उस थोड़े दूध में व्याप्त होता है, उसीप्रकार जीव अन्य छोटे शरीर में स्थिति को प्राप्त होने पर स्व-प्रदेशों के संकोच द्वारा उस छोटे शरीर में व्याप्त होता है, अतः आत्मा परमाणु-प्रमाण भी है, दीर्घ भी है। लोक-व्यापी भी ज्ञान-मात्र है, नय-सापेक्ष है, एकान्त से नहीं। यहाँ पर जैनागम में प्रसिद्ध निश्चय एवं व्यवहार उभय-नय लगाने की आवश्यकता है, आचार्यप्रवर नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने आत्मा के स्व-देह-परिमाण के बारे में उभय-नय के माध्यम से बहुत ही सुन्दर कथन किया है—

अणुगुरुदेहप्रमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।

असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा॥

—द्रव्यसंग्रह, गा. 10

अर्थात् व्यवहार-नय से समुद्घात अवस्था के बिना यह जीव संकोच तथा विस्तार से छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण वाला रहता है, और निश्चय-नय से जीव असंख्यात प्रदेशों वाला है।

यद्यपि आत्मा सकल, विमल, अशरीरी ज्ञान-स्वरूप है। देह से देही का निश्चय से कोई सम्बन्ध नहीं है, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक-भाव ही जीव का ध्रुव स्वभाव है, परन्तु अनादि कर्म-बन्ध-भाव के कारण आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि —इन चार संज्ञाओं के वश हो रागादि भावों को प्राप्त हुआ जीव शरीर नाम कर्म का उपार्जन कर उसके उदय आने पर सूक्ष्म (छोटा) तथा गुरु (बड़ा) जो शरीर है, उसे प्राप्त करता है। क्यों करता है?... उसका कारण उपसंहार तथा प्रसर्पण स्वभाव है, संकोच तथा विस्तार स्वभाव है, जिससे जीव दीर्घ-लघु-शरीर-प्रमाण हो जाता है। जैसा-कि पूर्व में पद्म-राग-मणि का दृष्टान्त दिया था, उसीप्रकार यहाँ द्वितीय दृष्टान्त देते हैं; जैसे— दीपक किसी बड़े पात्र में रख दिया जाता है, तो वह उस पात्र के आभ्यन्तर में जो पदार्थ हैं, उनको प्रकाशित करता है, पुनः प्रश्न हो सकता है कि जीव देह-प्रमाण किस निमित्त से है? समाधान है— “असमुद्घात” समुद्घात के न होने से अर्थात् वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस्, आहारक और केवली नामक जो सात समुद्घात हैं, इनके होने पर जीव स्व-देह प्रमाण नहीं होता, असमुद्घात-अवस्था में जीव देह-प्रमाण रहता है।

जिज्ञासा— समुद्घात क्या है ?

मूलशरीरमच्छंडिय उत्तरदेहस्सजीवपिंडस्स।

णिग्गमणं देहादो, होदि समुग्घादतु णामं।।

— गो., जीव., गा. 667

अर्थात् अपने मूल शरीर को न छोड़कर जो आत्मा के प्रदेश देह से निकलकर उत्तर देह के प्रति गमन करते हैं, उसको समुद्घात कहते हैं। सातों समुद्घातों को क्रम से इसप्रकार परिभाषित किया गया है—

1. वेदना-समुद्घात— तीव्र वेदना (पीड़ा) के अनुभव से मूल शरीर का त्याग न करके आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर जाना वेदना-समुद्घात है।
2. कषाय-समुद्घात— तीव्र क्रोधादिक कषायों के उदय से मूल अर्थात् धारण किये हुए शरीर को न छोड़कर जो आत्मा के प्रदेश दूसरे को मारने के लिए शरीर के बाहर जाते हैं, उसको कषाय-समुद्घात कहते हैं।

3. **विक्रिया-समुदघात**— किसी प्रकार की विक्रिया (कामादि-जनित विकार) उत्पन्न करने व कराने के अर्थ मूल शरीर को न त्यागकर जो आत्मा के प्रदेशों का बाहर जाना है, उसको विकुर्वणा अथवा विक्रिया-समुदघात कहते हैं।
4. **मारणान्तिक-समुदघात**— मरणान्त समय में मूलशरीर को न त्याग करके जहाँ कहीं इस आत्मा में आयु बाँधी है, उसके स्पर्शने को जो प्रदेशों का शरीर बाह्य गमन करता है, सो मारणान्तिक-समुदघात है।
5. **तैजस्-समुदघात**— अपने मन को अनिष्ट उत्पन्न करने वाले किसी कारण को देखकर क्रोध उत्पन्न हुआ है जिसके, ऐसा जो संयम का निधान महामुनि उनके वाम कंधे से सिंदूर के ढेर की-सी कान्ति वाला : बारह योजन लम्बा सूच्यांगुल के संख्येय भाग प्रमाण मूल विस्तार और नव योजन के अग्र विस्तार को धारण करने वाला काहल (बिलाव) के आकार का धारक पुतला निकल करके वाम प्रदक्षिणा देकर मुनि के हृदय में स्थित जो विरुद्ध-पदार्थ है, उसको भस्म करके और उसी मुनि के साथ आप भी भस्म हो जाये; जैसे— द्वीपायन मुनि के शरीर से पुतला निकला, उसने द्वारिका को भस्म करके द्वीपायन मुनि को भस्म किया और वह पुतला स्वयं भी भस्म हो गया। इसे अशुभ तैजस्-समुदघात कहते हैं। जगत् को रोग अथवा दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित देखकर उत्पन्न हुई है कृपा जिसके, ऐसे जो परम संयम-निधान महाऋषि उनके मूल शरीर को नहीं त्यागकर पूर्वोक्त देह के प्रमाण को धारण करने वाला अच्छी सौम्य आकृति का धारक प्रमत्त मुनि के दक्षिण स्कंध से निकलकर प्रदक्षिणा कर रोग व दुर्भिक्ष आदि को दूर कर फिर अपने स्थान में प्रवेश कर जाय, यह शुभ रूप तैजस्-समुदघात है।
6. **आहारक-समुदघात**— पद और पदार्थ के बारे में जिसके भ्रान्ति उत्पन्न हुई है, -ऐसा जो परम ऋद्धि का धारक महर्षि, उसके मस्तक में मूल शरीर को न छोड़कर निर्मल स्फटिक की आकृति को धारण करने वाला एक हाथ पुरुषाकार निकालकर अन्तर्मुहूर्त के बीच में जहाँ कहीं भी केवली को देखता है, और उन केवली के दर्शन से अपने आश्रय जो मुनि उसके पद और पदार्थ का निश्चय उत्पन्न कर फिर अपने स्व-स्थान में प्रवेश कर जाये, सो यह आहारक-समुदघात

है। यह आहारक-शरीर असंयम का परिहार करने के लिए तथा संदेह को दूर करने के लिए आहारक-ऋद्धि के धारक छठे गुणस्थान-वर्ती मुनि के आहारक-शरीर नामकर्म के उदय से होता है। वह शरीर उनके निमित्तों से निकलता है। अपने क्षेत्र में केवली तथा श्रुतकेवली का अभाव होने पर, किन्तु दूसरे क्षेत्र में जहाँ पर कि औदारिक शरीर से उस समय पहुँचा नहीं जा सकता, केवली या श्रुतकेवली के विद्यमान रहने पर अथवा तीर्थकरों के दीक्षा-कल्याणक आदि तीन कल्याणकों में से किसी के होने पर तथा जिन, जिन-गृह, चैत्य-चैत्यालयों की वन्दना के लिए भी आहारक-ऋद्धि वाले छठे गुणस्थान-वर्ती प्रमत्तमुनि के आहारक-शरीर-नाम-कर्म के उदय से यह शरीर उत्पन्न होता है, ऐसा **गोम्मटसार जीवकाण्ड** ग्रंथ में कहा गया है।

आयु से भिन्न तीन अघातिया कर्मों की अधिक स्थिति को आयु कर्म के बराबर करने के लिए जो आत्मा के प्रदेश मूल शरीर से बाहर दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण रूप में फैलते हैं, और पुनः लोकपूरण, प्रतर, कपाट और दण्ड रूप से वे आत्म-प्रदेश उसी शरीर में फिर से वापस लौटते हैं, यह केवली समुदघात है।

—गोम्मटसार, गाथा-235-240 तक

7. **केवली समुदघात**— केवली समुदघात के समय आत्मा के प्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैल जाते हैं, लोकपूरण समुदघात की अपेक्षा भी जीव सर्वव्यापी है। “न सर्वथा” “सर्वथा नहीं है” नय-विवक्षा से आत्मा के अनन्त-धर्मपना सिद्ध होता है।

जड़-भाव, शून्य-भाव, सर्वगतभाव, देह-प्रमाण-भाव, —ये सभी अवस्थाएँ स्याद्वाद् से जीव में कही जा सकती हैं, परन्तु एकान्त से विपरीतता से एक भी घटित नहीं होती हैं, जो कि अन्य एकान्त दर्शनों में स्वीकार की गई हैं। ज्ञान-दृष्टि से जीव सर्व-गत सर्व-व्यापी भी हैं। इन्द्रिय-ज्ञान से रहित होने से शुद्धात्मा जड़ भी है। जड़ता से प्रयोजन चैत्य-शून्यता नहीं है। सर्वज्ञदेव केवलज्ञान में लीन रहते हैं, शुद्ध चैतन्य-गुण-मण्डित हैं, अतः अजड़त्व-स्वभावी हैं, भगवान् शुद्धात्मा शून्य-स्वभावी भी हैं, परन्तु अष्ट-गुण-शून्य नहीं हैं, अष्टकर्म व अद्वारह दोषों के अभाव होने से इनसे शून्य हैं, गुण-स्वभावी हैं, इसलिए आत्मा अशून्य-स्वरूप है तथा दोषों से रहित है, इसलिए शून्य-स्वभावी है, परन्तु जैसा बौद्धमत वाले सर्वथा शून्य मानते हैं, वैसी अनंत

गुणों से शून्य आत्मा कभी नहीं होती। गुणों से आत्मा को सर्वथा शून्य कर देंगे, तब तो आत्मा का ही अभाव हो जाएगा। गुण-रिक्त गुणी नहीं होता, अवस्तुता का प्रसंग आ जाएगा। अतः विभाव से शून्य, स्वभाव से परिपूर्ण, ध्रुव, आत्म-तत्त्व ही परम-उपादेय है, —ऐसा समझना चाहिए। आत्मा को अणु-प्रमाण अथवा वट-दाना-प्रमाण कहा है, वह सर्वथा मृषा-भाषण समझना, तत्त्व की झप्ति के अभाव में ही ऐसा कहा जा सकता है, तत्त्व-ज्ञानी द्वारा नहीं।

मनीषियो! आत्मा स्वदेह-प्रमाण है, इसलिए वट-दाना-प्रमाण कथन की हानि हो जाती है। स्याद्वाद् सिद्धान्त में जब आत्मा निगोद-अवस्था में सर्व-जघन्य अवगाहना को प्राप्त होती है, जन्म के तृतीय समय में इस अपेक्षा से अणु-रूप है अथवा वट-दाने-प्रमाण है। ॥५॥

विशुद्ध-वचन

* जब

जल जाते

सारे कर्म...

तो सामने

आ जाता

शिवत्व.....।

* परीक्षा होती

कसौटी पर कसने से

सोने की.....,

साथ बसने से

मनुष्य की....।

* वस्त्र धवल

तन सुन्दर

चरण सुन्दर

पर आचरण

असुन्दर

कुटिल

अनिर्मल

इसलिए

वह

भक्त नहीं

बल्कि

बगुला-भगत.....।

श्लोक-6

उत्थानिका— पुनः शिष्य जिज्ञासा प्रकट करता है— भगवन्! एक ही आत्मा एक व अनेक किस प्रकार है?

समाधान— आचार्य-देव कहते हैं—

नानाज्ञानस्वभावत्वादेकोऽनेकोऽपि नैव सः ।'

चेतनैकस्वभावत्वादेकानेकात्मको भवेत् ।।

अन्वयार्थ— (सः) वह आत्मा, (नाना-ज्ञान-स्वभावत्वात्) अनेक प्रकार के ज्ञान-स्वरूप स्वभाव होने से, (अनेकः अपि) अनेक होते हुए भी, (चेतनैकस्वभावत्वात्) चेतना मात्र स्वभाव होने से, (एकः) एक होता हुआ भी सर्वथा एक भी, (नैव) नहीं है, किन्तु, (एकानेकात्मकः) एक तथा अनेकात्मक, (भवेत्) ही मानने योग्य है/माना जाना चाहिए ।। 6 ।।

परिशीलन— आचार्य-देव स्याद्वाद सिद्धान्त के सूत्रों को अनेक विद्याओं से मुमुक्षुओं के मध्य रख रहे हैं। प्रत्येक द्रव्य निज द्रव्यत्व-शक्ति से एक-रूप है और वे ही द्रव्य पर्याय-दृष्टि से अनेक रूप हैं। इसीप्रकार से जीव-द्रव्य एकानेक रूप हैं, जैसे कि एक पुरुष स्वयं में एक है, परन्तु विभिन्न संबंधों से देखें, तो अनेक-रूप है। राम एक जीव-द्रव्य है, निज चैतन्य-धर्म से देखें, तो अकेले हैं, परन्तु राम में अनेक धर्म हैं—सीता की दृष्टि से पति-धर्म भी राम में है, लव-कुश की अपेक्षा पितृ-धर्म भी राम में है, दशरथ की दृष्टि से पुत्र-धर्म भी राम में है, मातुल की अपेक्षा भाग्नेय धर्म भी है, तो एक राम अनेक-रूप-मयी हैं, जितने प्रकार के संबंध स्थापित होते जाते हैं, उतने ही प्रकार से वस्तु देखी जाती है। अहो ! एक ही द्रव्य में इष्ट धर्म, एक ही द्रव्य में अनिष्ट धर्म भी देखा जाता है। कुचला नामक औषधि विष है, सीधे सेवन की जाये तो, मृत्यु का कारण है और उसे संस्कारित कर सेवन किया जावे, तो वह रोग-निवारण का साधन बन जाती है। अतः यह अच्छी तरह से समझना है कि द्रव्य एक-धर्मात्मक

1. इस श्लोक की पहली पंक्ति का निम्न पाठ और मिलता है तथा निम्न पाठ ही ग्राह्य क्यों हो?... इसके आधार वहाँ उल्लिखित नहीं हैं, परन्तु अर्थ की दृष्टि से व बहु-प्रति-अनुपलब्धता के कारण वह ग्राह्य नहीं है; अतः हम उक्त पाठ ही स्वीकारते हैं—

नानाज्ञानस्वभावत्वादेकानेकोऽपि नैव सः ।

नहीं है, अपितु प्रत्येक द्रव्य अनेक-धर्मात्मक है, उन धर्मों को समझना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है। जो ज्ञाता द्रव्य के अनन्त-धर्मों को नहीं समझता, वह अज्ञानता में अनन्त-दुःखों का भाजन होता है। लौकिक दृष्टि से देखा जाए, तो एक गेहूँ के दाने में कितने गुण हैं, कितने स्वाद हैं? सीधा गेहूँ-सेवी गेहूँ से बनने वाले व्यंजनों के स्वाद को नहीं जान पाता और प्रज्ञावान् पुरुषों द्वारा अनेक पकवानों को सेवन करते देखकर दुःखी होता है। मुझे यह पकवान खाने को प्राप्त क्यों नहीं होते हैं?... अरे ज्ञानी! तूने स्व-प्रज्ञा का प्रयोग किया ही नहीं। जो गेहूँ तेरे घर में हैं, वे ही गेहूँ प्रज्ञावान् के पास थे, उसने अपनी प्रज्ञा के बल से नाना व्यंजन तैयार किये और तब उनके स्वाद चख रहा है, पर तूने तो प्रज्ञा की न्यूनता में भाड़ में सेककर चबा लिये हैं, तो तुझे वे स्वाद चखने को कैसे मिलेंगे?.....

अहो! द्रव्य तो अनन्तधर्मात्मक ही है, उन अनन्त धर्मों को समझना मुमुक्षु का कर्तव्य है। सादृश्य-अस्तित्व से एक-रूपता है, स्वरूप-अस्तित्व से अनेक-रूपता है। न सर्वथा एक ही है, न सर्वथा अनेक ही है। मिथ्यादृष्टि अज्ञ भोले जीव वस्तु को सर्वथा एक-रूप ही अथवा अनेक-रूप ही स्वीकारते हैं, क्या करें? उन बेचारों का क्या दोष? कुबुद्धि-रूप पिशाचिनी ने उनकी प्रज्ञा का हरण कर लिया है, जिसके कारण उन्हें द्रव्य एक-रूप ही अथवा अनेक-रूप ही दिखायी पड़ता है, परन्तु जिनकी प्रज्ञा को वाग्वादिनी का प्रसाद है, वह पुरुष तत्त्व का सम्यक् चिन्तन कर वस्तु-स्वरूप का निर्णय कर अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण की रक्षा करता है।

जो वस्तु को एक-रूप ही स्वीकारता है, वह स्व-समय से बाह्य है, क्योंकि जैन सिद्धान्त से विपरीत है। ब्रह्म-द्वैतवादी एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को ही स्वीकारता है, किसी और दूसरे की सत्ता को कहना ही नहीं चाहता। एक स्वभाव-एकान्त उनके यहाँ है। इस एक स्वभाव-एकान्त से वस्तु में अर्थ-क्रिया-कारक का अभाव होता है। अर्थ-क्रिया-कारक के अभाव से वस्तुत्व का ही अभाव हो जाता है। ध्यान दीजिए—लोक में ऐसा कोई द्रव्य नहीं है, जो मात्र एक-स्वभावी ही हो अथवा अनेक-स्वभावी ही हो, प्रत्येक द्रव्य उभय-स्वभावी है। एक-रूपता में कूट-स्थता का प्रसंग आता है। नाना गुण-रूप परिणमन द्रव्य का स्वभाव है, उसका अभाव हो जाएगा। यहाँ पर यह बात पूर्ण ध्यान देने योग्य है, पूर्व प्रसंग में कही थी, पुनः कहता हूँ। यद्यपि स्व-मत की सिद्धि मात्र यहाँ की जा सकती है, परन्तु पर-मत की असिद्धि किये बिना स्व-मत की सिद्धि पूर्ण नहीं होती, श्रेष्ठ वक्ता के लिए स्व-मत का पोषण कर पर का खण्डन

कर देना परम-आवश्यक है, जिससे स्व-मत की पुष्टि दृढ़ता को प्राप्त होती है, जैनन्याय के उद्भट विद्वान् ने भी 'श्लोकवार्तिक' जैसे महान् तार्किक ग्रन्थ में उक्त बात की पुष्टि की है—

वादिनोभयं कर्तव्यं स्व-पर-पक्ष-साधन-दूषणमिति न्यायानुसरणात् ।

- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक/पृ.207/खण्ड 4/श्लोक 166/ टीका

विधि-निषेध से सम्यक्त्व का प्ररूपण करना चाहिए, वादी को स्व-पक्ष-साधन और पर-पक्ष-निदूषण —ये दोनों कार्य करने चाहिए। किसी के द्वारा चाहे एकान्त से एक-स्वभावी कहा जाए, चाहे अनेक-स्वभावी, परन्तु द्रव्य अपने एकानेक-स्वभाव को बदल नहीं देगा, वह तो त्रैकालिक एकानेक-स्वभावी ही रहेगा।

मुमुक्षुओ! नेत्र-रोगी को दो चन्द्र-दर्शन एक-साथ आकाश में होने लगें, तो क्या वास्तव में दो चंद्र युगपद् आकाश में हैं?... यह तो रोग है अथवा रिष्ट है, जिसे सहज ही दो चन्द्र दिखें, ज्ञानियो! वह पुरुष अल्प-समय में ही मरण को प्राप्त होगा। यह मृत्यु की सूचना तो हो सकती है, परन्तु एक-साथ दो चन्द्रों का उदय नहीं होता, उसी प्रकार जिसकी सम्यक् ज्योति बुझने वाली है अथवा बुझ चुकी है, उसे ही तत्त्व पर विपर्यास होता है। किसी के द्वारा रस्सी में सर्प की कल्पना करने से रस्सी सर्प नहीं हो जाती, —ऐसा जानना चाहिए। किसी भी अज्ञ पुरुष द्वारा वस्तु की संज्ञा, लक्षण व प्रयोजन के बदल देने से वस्तु का स्वभाव नहीं बदल सकता, वह कारण-कार्य-विपर्यास ही कर सकता है, परन्तु सत्स्वभाव को किञ्चित् भी परिवर्तित नहीं कर सकता। जैसे— लोक में पत्थर को भी देव कहा जाता है, देवत्व की स्थापना ही है, परन्तु पाषाण में देवगति-जैसी क्रिया नहीं देखी जाती, अथवा यों कहें कि नाटक में अनेक पात्र विभिन्न नायकों की भूमिकाएँ निभाते हैं, हाव-भाव प्रकट करते हैं, परन्तु ज्ञानियो ! नाटक-रूप हैं, तत्पात्र-जन्य-अनुभूति उन्हें नहीं हो पाती। इसीप्रकार द्रव्य का जैसा धर्म है, वैसा ही रहता है, अन्य किसी के द्वारा विपरीत जान लेने से पदार्थ विपरीत नहीं होता। ठूँठ में पुरुष का ज्ञान करने वाले का विभ्रम ही है। ठूँठ पुरुष नहीं होता; बस, इतना ही स्पष्ट समझना कि तत्त्व से विपरीत कथन करने के कारण तत्त्व तो विपरीत नहीं हो सकता है, पर विपरीत कथन करने वाले तथा आस्था करने वाले का सम्यक्त्व अवश्य विपरीतता को प्राप्त होता है, यानी-कि तत्त्व को उल्टा समझने वाला तथा कहने वाला मिथ्यात्व को अवश्य प्राप्त होता है।

प्रत्येक तत्त्व-ज्ञानी को सर्वप्रथम अपने सम्यक्त्व की रक्षा करनी चाहिए। अन्य कार्य गौणता में रखने चाहिए, शेष धर्मों को गौण-वृत्ति में लाना चाहिए, परन्तु अभाव नहीं करना चाहिए। सम्यक्त्व-आराधना, ज्ञान-साधना, चारित्र का पालन —यही मुमुक्षु का धर्म है। एक-स्वभावी आत्मा अनेक-स्वभावी भी है, —यह परम सत्य है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने उक्त उभय-धर्मों के लिए दो सूत्रों का निबन्धन किया है—

स्वभावानामेकाधारत्वादेकस्वभावः ।।

—आलापपद्धतिः, सूत्र 110

अर्थात् सम्पूर्ण स्वभावों का एक आधार होने से एक-स्वभाव है।

एकस्याप्यनेक-स्वभावोपलम्भादनेक-स्वभावः ।।

—आलापपद्धतिः, सूत्र 111

अर्थात् एक ही द्रव्य नाना गुण-पर्यायों और स्वभावों का आधार है, यद्यपि आधार एक है, किन्तु आधेय अनेक हैं, अतः आधेय की अपेक्षा से अथवा विशेषों की अपेक्षा से द्रव्य अनेक-स्वभावी है।

इस कारिका में आचार्य भट्ट श्री अकलंक स्वामी आत्मा की प्रधानता से कथन कर रहे हैं कि आत्मा किसी अपेक्षा से एक-स्वभावी है, तो किसी अन्य अपेक्षा से अनेक-स्वभावी है, एक ही आत्म-द्रव्य में दो विरुद्ध धर्मों की सत्ता त्रैकालिक है। आधार अनन्त-गुणों का एक होने से एक-स्वभाव-धर्म है। एक आधार पर अनेक आधेय विराजते हैं, इस कारण अनेक-स्वभावी भी है। जैसे-कि शरीर की अखण्डता को जब हम देखते हैं, तब नाना अवयवों का समूह ही शरीर-रूप है, अन्य कोई भिन्न अवस्था तो शरीर है नहीं। ऐसा तो नहीं है कि शरीर में अंग भिन्न स्थान पर हों, उपांग भिन्न स्थान पर हों; जहाँ शरीर है, वहाँ ही अंग-उपांग एवं इन्द्रियाँ आदि हैं। शरीर मात्र की उच्चारणा एक-स्वभाव की द्योतक है, क्योंकि वह अखण्ड को लिये हुए है। वहीं पर जब हम यह देखते हैं कि यह मेरा कान है, यह मेरी आँख है, रसना है, घ्राण है, स्पर्शन है, इत्यादि एक-एक अंग को लेकर जब देखते हैं, तब वह शरीर-रूप एक द्रव्य अंग-अंग की दृष्टि से अनेक रूप भी है, तत्त्व-ज्ञानी को सर्वत्र स्याद्वाद/अनेकान्त सिद्धान्त का प्रयोग करना चाहिए।

ज्ञानियो ! आत्मा नाना प्रकार से नाना रूप है, आत्मा अनन्त गुणों से युक्त अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख व अनन्तवीर्य से युक्त है। अनन्त स्वभाव-धर्म भी आत्मा में होते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, कामादि विकार-विभाव धर्म भी आत्मा में होते हैं। अन्तर इतना है कि शुद्धात्मा में स्वभाव-धर्म होते हैं, अशुद्धात्मा में विभाव-धर्म होते हैं। उभय धर्मों की अपेक्षा से भी आत्मा में नानात्वपन है। जब एक ज्ञान-गुण को देखते हैं, तब ज्ञान-गुण से भी आत्मा में नाना-पन है। देखो— ज्ञान गुण की सामान्य से आठ पर्यायें हैं, पाँच सम्यग्-रूप, तीन मिथ्या-रूप। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, —ये पाँच तो सम्यग्ज्ञान की पर्याये हैं; कु-मति, कु-श्रुत, कु-अवधि —ये तीन मिथ्याज्ञान की पर्यायें हैं। इनमें श्रुतज्ञान एक ऐसा ज्ञान है। जो स्वार्थ-परार्थ-रूप है, शेष ज्ञान स्वार्थ-मात्र हैं। ज्ञानियो! अधिक नहीं श्रुतज्ञान को ही ले लीजिए— कितने विकल्पों में चलता है, सर्वाधिक प्रयोजनभूत ज्ञान श्रुत है। बन्ध-मोक्ष में अपना पूर्ण अधिकार रखता है, उत्थान-पतन दोनों में अपनी सहकारिता देता है। सम्यक् के साथ श्रुत-प्रयोग किया जाता है, शुभोपयोग व शुद्धोपयोग में तब यह श्रुत-ज्ञान मोक्ष का साधन होता है, कल्याण-मार्ग को प्रशस्त करता है। जब मिथ्यात्व असंयम-प्रमाद व कषाय-योग के साथ वर्तन करता है, तब वही श्रुत अशुभ उपयोग रूप होता हुआ अप्रशस्तता को प्राप्त होकर संसार-वृद्धि को प्राप्त होता है। नरकादि-दुर्गति में जीव को ले जाता है; अहो! क्या दशा जीव के परिणामों की है। यह ज्ञायक भाव निर्मल रहे —ऐसा पुरुषार्थ प्रज्ञ-पुरुषों को करना चाहिए। स्व-ज्ञान को स्व-ज्ञान से सँभाल लिया जाये, इससे बड़े कल्याण का कोई अन्य मार्ग नहीं होता। जो जीव स्व-ज्ञान को स्व-चरित में लगाता है, वह परम निर्वाण का भाजन होता है, तथा जो जीव स्व-ज्ञान को पर-चरित में लगाता है, वह संसार-भ्रमण को तैयार रहता है। हे प्रज्ञात्मन्! दोनों कार्य तेरे हाथ में ही हैं। ज्ञान का धर्म तो नानात्व भाव है, वह तो विकल्प-रूप होता है, निज उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप है। ज्ञान-गुण का परिणमन निज परिणामीपन में त्रैकालिक चल रहा है। आत्मा जो वेदन कर रहा है, वह इस गुण के माध्यम से ही करता है। ज्ञान-दर्शन दो ही गुण तो चेतन-धर्मी हैं, शेष गुण तो आत्मा में जड़-धर्मी हैं। ज्ञान का परिणमन जब हम ज्ञेयों की अपेक्षा से देखते हैं, तब तो ज्ञानी तू स्वयं थक जाएगा। विचारते-विचारते, पर फिर-भी ज्ञान कभी थका नहीं, अपने कार्य से। लोक में अनन्त ज्ञेय हैं, ज्ञान ने सम्पूर्ण ज्ञेयों को अपना विषय बनाया है। कैवल्य में जगत् का कोई भी ज्ञेय अवशेष बचा नहीं है, जिसे केवलज्ञान ने अपना विषय न बनाया हो।

अहो मुमुक्षुओ! ज्ञेय के अनुसार ज्ञान में भी परिणमन होता है, अन्तर इतना है कि स्वात्म-द्रव्य को ज्ञान तन्मय होकर जानता है, परन्तु पर-ज्ञेयों को तन्मय होकर नहीं जानता, मात्र ज्ञाता-भाव से जानता है। कथंचित् ज्ञान ज्ञेय-रूप होता है, परन्तु सर्वथा नहीं। ज्ञान ज्ञान है, ज्ञेय ज्ञेय है। ज्ञान चैतन्यधर्मी है, ज्ञेय चैतन्य एवं अचैतन्य उभय रूप है। यदि ज्ञान तन्मयभूत ज्ञेय-रूप परिणत हो जाएगा, तब तो ज्ञान में उचितपना आ जाएगा। अतः ज्ञान पर-ज्ञेयों में साक्षीभूत है, परन्तु तन्मय-रूप नहीं है, फिर-भी ज्ञान ज्ञेयों में जाता है, तब वह ज्ञान उस ज्ञेय में अपने उपयोग के लिए था, इसलिए ज्ञेय रूप था। विषय-कषाय में जब उपयोग जाता है, उस समय ज्ञान का परिणमन अशुभ-रूप होता है। यहाँ पर एक बात पर ध्यान रखना— यदि विषय-कषाय परिणति-रूप हैं, तो अशुभ-उपयोग है, विषय-कषाय ज्ञप्ति-रूप मात्र हैं, तो अशुभ-उपयोग नहीं है, यानी विषय को जान रहा जीव और-हेय समझता है। सेवन नहीं कर रहा, यह विषय है, यह कषाय है—ऐसा निज ज्ञान में ज्ञेय बना रहा है, दृष्टि हेय-भूत है, तो वह जीव न तत्-कारण-बन्धक है, न अशुभोपयोगी ही है। ज्ञाता-दृष्टापने में बन्ध नहीं है, विषय-कषाय की कृति को प्राप्त होने में बन्धक-भाव है, यहाँ पर ऐसा समझना चाहिए कि जब दोष-गुण दोनों को ही जानेंगे, तभी दोषों से अपेक्षा-भाव आएगा और गुणों से अपेक्षा-भाव उत्पन्न होगा। सम्यक्दृष्टि हेय-उपादेय और उपेक्षा आदि तीनों भावों से अपने जीवन को चलाता है, हेय को त्यागता है, उपादेय को ग्रहण करता है; जो न हेय हैं, न उपादेय हैं, वे उपेक्षणीय हैं। अहो प्रज्ञात्माओ! ज्ञान के नानात्व भाव से आत्मा में नाना-रूपता है, —इसमें संशय नहीं करना, परम-आस्था के साथ स्वीकारना।

ज्ञान की नाना-रूपता आत्मा के ज्ञान गुण का ही परिणमन है, वह कोई अन्य वस्तु से, अन्य वस्तु में नहीं है, निज द्रव्य का ही धर्म है, सम्पूर्ण गुण-पर्यायों का स्थान द्रव्य होता है। आत्मा द्रव्य है, ज्ञान-गुण है, वह गुणी से द्रव्य से पृथक् नहीं रहता, इसलिए आधार-दृष्टि से आत्मा एक-स्वभावी है, परन्तु ब्रह्माद्वैतवादियों की भ्रांति नहीं, सर्वथा एकान्त-रूप अद्वैत-भाव में लीन मिथ्यात्व के पोषक निज आत्मा के वंचक जीव अनेकान्त-विद्या के ज्ञान से शून्य होकर एक-मात्र ब्रह्म-भाव को ही सर्वविश्व घोषित करते हैं, अन्य लोक में कुछ नहीं है, सभी कुछ ईश्वर-भाव है। मनीषियो! यह अद्वैत-वादियों का मिथ्या अपलाप मात्र है, पदार्थों का निर्णय स्याद्वाद्-नय से करना चाहिए, वही सम्यक् है। जैसा कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने प्ररूपित किया है—

एकानेकविकल्पादाव्रत्तरताऽपि योजयेत् ।

प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैर्नयविशारदः ।।

—आप्तमीमांसा, श्लो. 23

प्रमाण के द्वारा जाने गये पदार्थ के एक-देश को जानना नय है, उसमें जो कुशल हैं, वे नय-विशारद हैं। नयों से अपने कारणों से विशेषणत्वादि के कारण अनेक भंगों वाली इस प्रक्रिया को इससे आगे भी लगाएँ।

कहाँ एक-अनेक आदि विकल्पों में कैसे ? कथञ्चित् एक है, ...कथञ्चित् अनेक है। कथञ्चित् एक भी है, अनेक भी है। कथञ्चित् अवक्तव्य है, कथञ्चित् एक और अवक्तव्य है, कथञ्चित् नेक और अवक्तव्य है, कथञ्चित् एक, अनेक और अवक्तव्य है, इसीप्रकार द्वैत-अद्वैत आदि भी प्रयोग करना चाहिए। सर्वथा एक-रूपता यानी अद्वैतपन में ज्ञानियो! अनेक दोष खड़े हो जाते हैं। यह अद्वैत एकान्त, असदग्रह, दुराग्रह है। इसे स्वीकारने पर प्रत्यक्ष-प्रमाण से ज्ञात अनेक भेद तथा लोक में प्रसिद्ध भेदों का अभाव हो जाएगा। प्रत्येक वादी से प्रश्न खड़ा है, जो वक्ता बोलता है, वह नय-प्रमाण का आश्रय लेता है, व्याकरण-प्रसिद्ध कारकों का आश्रय लेता है, स्वयं विचार कीजिये— क्या एकान्त रूप से, एक-रूप अद्वैत-भाव से कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण, —ये कारक किस प्रकार घटित होंगे? , ...सिकुड़ना, पकना, आदि क्रियाएँ भी नहीं बनेंगी तथा प्रमाण से प्रमेय को जानने वाली क्रियाएँ भी नहीं बनेंगी, लोक-व्यवस्था भी भंग हो जाएगी, न शासक होगा, न शासन की आज्ञा का पालक होगा। अहो! अद्वैत-पक्ष से एक जटिल प्रश्न है कि आप और आपका पक्ष ये भी दो हैं, आपका सिद्धान्त स्व-मुख से ही बाधित हो जाता है। ऐसा लगता है, जैसे-कि कोई युवा अपने मित्र से कहता हो कि मेरे मित्र! मेरे पिता-श्री तो बाल-ब्रह्मचारी हैं और भैया! थोड़ा विचार तो करो— जब बेटा स्वयं खड़ा है और कहता है कि मेरे पिता-श्री बाल-ब्रह्मचारी हैं? तो क्या बेटे का कथन सम्यक् है?.... अद्वैत की सिद्धि हेतु से होती है कि वचन मात्र से? यदि हेतु से कहते हो, तो यह हेतु है, यह साध्य है, इसप्रकार द्वैत हो जाएगा। यदि साधन के बिना अद्वैत की सिद्धि कहते हो, तो इसप्रकार वचन-मात्र से द्वैत की सिद्धि क्यों नहीं होगी ? दोनों में समान स्थिति है।

ज्ञानियो ! आत्मा को नित्य-रूप मानना अद्वैत-पक्ष की पुष्टि समझना चाहिए, जो कि घोर मिथ्यात्व है, उसकी सम्पूर्ण धार्मिक, व्यावहारिक क्रियाओं का लोप होता है, यदि उन्हें करता है, तो वह व्यर्थ सिद्ध होंगी। कहा भी है—

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् ।

विद्याऽविद्या-द्वयं न स्यात् बन्ध-मोक्ष-द्वयं तथा ॥

—आप्तमीमांसा, श्लो. 25

अर्थात् अद्वैत मानने पर शुभ कर्म और अशुभ कर्म, दो कर्म नहीं होते। यह पुण्य, यह पाप है; इह-लोक, पर-लोक, ज्ञान, अज्ञान, बन्ध-मोक्ष, जीव-प्रदेश और कर्म-प्रदेशों का परस्पर मिलना बन्ध तथा मोक्ष (आठ प्रकार के कर्मों का छूटना) यह-सब कुछ भी नहीं होगा।

यदि पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष को अद्वैतवादी स्वीकारते हैं, तो ध्यान रखो— द्वैत की ही सिद्धि होती है, अतः स्याद्वाद् नय का आलम्बन लेकर ही कथन करना चाहिए, वस्तु स्वभाव की एकता-अखण्डता की अपेक्षा द्रव्य एक है, नाना धर्मों की अपेक्षा अनेक है। अतः ज्ञानियो! वह आत्मा एक-रूप ही नहीं है, किस कारण से? घट-पट आदि विषयों को जानने वाले अनेक ज्ञान-स्वभावी होने के कारण से, तो क्या वह अनेक-रूप है?...वह अनेक भी नहीं है, किस कारण से? चैतन्य ही उसका एकमात्र स्वरूप होने के कारण; तो आत्मा कैसी होगी? वह एकानेक स्वभाव वाली होती है, इसप्रकार आत्मा के सत्यार्थ-स्वरूप का बोधकर निश्चयीभूत ध्रुव, टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक-स्वभावी परम पारिणामिक स्यन्दीभूत-दशा की प्राप्ति का पुरुषार्थ करना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है ॥६॥

विशुद्ध-वचन

* पड़ जाते
सत्य के संस्कार
जिसके जीवन में...,
नहीं हिला पाती
असत्य की आँधी
उसे
फिर....।

* नहीं जानता जो शिव को,
रोता वही
शव के लिए
सब के लिए,
जो जानता शिव को
करता संस्कार
वह
शव के.....।

श्लोक-7

उत्थानिका— यहाँ पुनः शिष्य जिज्ञासा प्रकट करता है— भगवन्! आत्मा एकानेक-स्वभाव वाली है, यह तो समझ में आ गया, अब यह जानना चाहता हूँ कि आत्मा सर्वथा अवक्तव्य है अथवा सर्वथा वक्तव्य है? स्वामी! समझाने का अनुग्रह करें.....

समाधान— इसप्रकार अन्तेवासिन् के प्रश्न पर आचार्य-देव वक्तव्य-वादियों एवं सर्वथा अवक्तव्य-वादियों को पूर्व-पक्ष बनाकर श्लोक कहते हैं—

नावक्तव्यः¹ स्वरूपाद्यैः, निर्वाच्यः परभावतः ।

तस्मान्नैकान्ततो वाच्यो, नापि वाचामगोचरः ॥

अन्वयार्थ— वह आत्मा, (स्वरूपाद्यैः) स्वरूप आदि की अपेक्षा से, (अवक्तव्यः न) अवक्तव्य नहीं है, परन्तु; (परभावतः) अन्य अविवक्षित धर्मों की अपेक्षा से, (निर्वाच्यः) आत्मा अवक्तव्य है, (तस्मात्) इसकारण आत्मा, (एकान्ततः) एकान्त से यानी सर्वथा, (न वाच्यो) न तो वक्तव्य है और, (नापि) न सर्वथा, (वाचामगोचरः) अवक्तव्य है ॥7॥

परिशीलन— आचार्य-देव इस कारिका में आत्मा की वाच्यता, अवाच्यता पर प्रकाश डाल रहे हैं। अहो! वीतराग-शासन कितना महान् है! जहाँ प्रत्येक द्रव्य की व्याख्या स्याद्वादपद्धति से होती है, एकान्त-मत का यहाँ पर कोई स्थान नहीं है। अनेकान्त-रूप ही प्रत्येक द्रव्य है, उन द्रव्यों में मुख्य द्रव्य यदि कोई है, तो वह मात्र जीव द्रव्य है, जो-कि ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप है, अन्य द्रव्य जड़-रूप हैं। जड़-धर्मी द्रव्य स्व-पर विवेकता से शून्य ही होते हैं, एकमात्र वस्तु-स्वरूप के विवेक-ज्ञान से सम्पन्न जीव द्रव्य है। जो-कुछ भी लोक का ज्ञातापन-वक्तापन है, वह-सब जीवद्रव्य के अंदर है, हेय-उपादेय-तत्त्व का बोध भी जीव-द्रव्य में ही है, ज्ञेय-भाव तो प्रत्येक पदार्थ में होता है, परन्तु ज्ञाता-भाव मात्र जीव-द्रव्य में है। अन्य द्रव्य प्रमेय तो हैं, पर प्रमाता नहीं हैं। ज्ञानियों! जीव स्वयं में प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति रूप है। अभेदकारक सम्पूर्ण रूप घटित होते हैं। चैतन्य-गुण-मण्डित भगवान् आत्मा सर्व-जगत् का

1. अन्यत्र 'नावक्तव्यः' की जगह 'स वक्तव्यः' पाठ भी मिलता है, पर वह अर्थ की संगति एवं बहु-पाठ-उपलब्धता के आधार पर ग्राह्य नहीं है।

व्याख्याता है, पर सम्पूर्ण जगत् से अव्याख्यात है। आत्मा लोकालोक का कथन करता है परन्तु, आत्मा का कथन अन्य द्रव्य नहीं करता, शेष द्रव्य आत्मा के कथन में मौन हैं, एक-मात्र आत्म-द्रव्य ऐसा है, जो-कि स्व-पर का कथन करता है। आत्मा वाच्य है या अवाच्य है? यह ज्वलंत प्रश्न है। ज्ञानियो! व्यवहार-नयाश्रित कथन है कि आत्मा वाच्य है, अवाच्य है। आत्माश्रित जो निश्चय है, उसकी दृष्टि से आत्मा जो है, वही है; न वाच्य है, न अवाच्य। जब-तक पराश्रित है, कर्माधीन-भाषा-वर्गणा का सम्बन्ध है, तभी-तक जीव बोलता है, जब जीव स्वाधीन अतीन्द्रिय कर्मातीत अवस्था को प्राप्त होता है, तब यह आत्मा अवाच्य-रूप ही होती है। वचनातीत-दशा मुक्त-आत्मा की ध्रुव दशा है। अशब्द-स्वभावी जीव-द्रव्य है। ज्ञानियो! एक सहज समाधान है, —यह आत्मा जीवत्वभूत है, शब्द जड़त्वभूत है, जड़ का जीवत्वपन, जीवत्व का जड़त्वपना कैसे घटित हो सकता है? दोनों में अत्यन्ताभाव है, दोनों एक नहीं है, न होंगे, न हुए थे, —यह बात त्रैकालिक है। जो आत्मा को वचन-गोचर कहा जाता है। वह नय-विवक्षा से समझना। सोपाधिक अवस्था से आत्मा वाच्य है, निरुपाधिक अवस्था में अवाच्य है, —ऐसा नय-योग से समझना चाहिए, सर्वथा नहीं। परम-ज्ञायक-स्वभावी पर-भावों से भिन्न निज-स्वभाव से अभिन्न भगवती आत्मा है, जो स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से वाच्य है, पर द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव की अपेक्षा से अवाच्य है। स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से आत्मा सद-रूप है, पर-चतुष्टय की अपेक्षा आत्मा असद-रूप है। जहाँ सद-रूपता है, वहीं वाच्य-वाचक-भाव हो सकता है, जहाँ सद-रूपता ही नहीं, वहाँ वाच्य-वाचक-भाव कैसे? ज्ञानियो! पर-चतुष्टय में अन्य द्रव्य का पूर्ण अभाव रहता है, स्व-चतुष्टय में पूर्ण रूप से सद्भाव रहता है। जब पर-चतुष्टय में द्रव्य है ही नहीं, तो फिर वाच्यता कैसे हो सकती है? आत्मा धर्मादि धर्मों में नास्ति रूप है, उनमें आत्म-तत्त्व का अभाव है, जहाँ अभाव है, वहाँ उसका कथन भी नहीं बनता, अतः आत्मा को पर की अपेक्षा अवाच्य ही समझें, परन्तु स्व-चतुष्टय में सद-रूप है, जिसकी सत्ता विद्यमान है, वह वचन का विषय बनता है, जैसे कि दग्ध-ईंट पृथ्वी-काय है, उसमें जीव नहीं है, पुद्गल पिण्ड है, उसकी सत्ता का कथन जीव-द्रव्य करता है, परन्तु, ईंट में जीवत्व न तो देखा जाता है, न कहा जाता है, —इस दृष्टान्त से आत्मा को दृष्टान्त-रूप जानना चाहिए। आत्मा में स्व-चतुष्टय है, वह सत् भी है, वाच्य भी है, पर में न सत् है, न वाच्य है, परन्तु ध्यान रखना— जहाँ पर में स्व-सत्ता का नास्ति-धर्म है, वहाँ अस्ति-धर्म का ज्ञान भी हो जाता है, जैसे-कि खरगोश के सींग नहीं होते हैं। यह सत्य है कि खरगोश के सींग

नहीं होते, परन्तु यहाँ पर सींग का अभाव कहाँ है?... खरगोश के सींग का अभाव बोला है, न-कि सींग का अभाव है। सींग तो है, सींग की सत्ता को स्वीकार नहीं करोगे, तो-फिर खरगोश में उनका अभाव कैसे करोगे?.... खरगोश के सींग नास्ति-धर्म ही सींग के अस्तित्व को बतला रहे हैं कि सींग तो हैं, तभी-तो खरगोश में अभाव-जन्य हेतु घटित होगा। संशयात्मक ज्ञान भी अवस्तु में नहीं होता, फिर सम्यग्ज्ञान अवस्तु में कैसे हो सकता है?.....

अहो ज्ञानियो! खरगोश के विषाण नास्ति हैं, क्या बैल के सींग भी नास्ति हैं? नहीं, बैल के तो सींग अस्ति-रूप हैं। बैल में सींग के अभाव का अभाव है, खरगोश में सींग के सद्भाव का अभाव है, अतः सींग हैं भी, नहीं भी हैं। “नय-योगान्न न सर्वथा” नय के योग से ऐसा समझना, सर्वथा नहीं नहीं। अतः आत्मा भी इसीप्रकार वाणी की अपेक्षा से वाच्य है, पर-स्वानुभव की अपेक्षा से अवाच्य है। वचनों से आत्मा के धर्मों का कथन तो श्रुत के द्वारा किया जा सकता है, परन्तु शब्दों में वह शक्ति नहीं है, जिससे आत्मा के द्वारा आत्मा के होने वाले स्वानुभव को चैतन्य रूप से वचनों का विषय बनाया जा सके।

मनीषियो! अनुभूति मूक व्यक्ति की मिठाई का स्वाद है, वह सेवन तो कर रहा है, स्वाद भी ले रहा है, परन्तु वचनों से नहीं कह पाता, अनुभव-मात्र ले रहा है, उसी प्रकार आत्मानुभव शब्द से अगोचर है, निर्विकल्प है, स्थिरता-रूप है, स्व में स्व की संवित्ति है। स्वानुभव स्व में प्रत्यक्ष-रूप है, व्याख्यान में परोक्षता है, व्याख्यान शब्दाश्रित होता है, शब्द पुद्गल की पर्यायें हैं, वे परिणमनशील हैं। अनुभूति आत्माश्रित है, वह ज्ञान-गुणाश्रित ज्ञान आत्मा का ही गुण है, वह गुणी से अभिन्न है, अतः आत्मा एक अधिकरण है। ज्ञान आधेय है, आधेय बिना आधार के नहीं रहता, यह सर्व-जगत्-प्रसिद्ध है। आत्मा ज्ञान-गुण-युक्त है, ज्ञान का कार्य वेदन करना, जानना, अनुभव करना है। आत्मा जब रागादिक से युक्त होता है, तब विषय-कषाय का वेदन पराश्रित होकर करता है; किन्तु रागादिक-शून्य होता है, तब स्वाश्रित होकर स्वयं में स्वयं का वेदन करता है, तब वह अनुभूति अवाच्य है, वचन-व्यापार से शून्य है, ऐसी अवस्था में योगीजन “स्वरूपोऽहम्” का ध्यान करते हुए वचनातीत परम-धर्म प्रत्यक्ष आत्मानुभूति में लीन हैं। आगम की भाषा में परोक्ष “आद्ये परोक्षम्” सूत्रकार के अनुसार, अ-वाक् परन्तु अध्यात्म की भाषा में, वह परोक्ष भी प्रत्यक्ष है, परोक्ष-ज्ञान भी आत्मा का ही गुण है, वे आत्मा से रहित तो नहीं हैं, इसलिए आत्मानुभूति प्रत्यक्ष ही

है, —ऐसा समझना चाहिए। जब भेदाभेद-रत्नत्रय से युक्त योगी शुद्धात्मानुभूति में लीन रहता है, तब आत्मा अवाच्य ही होती है, उस समय न स्वयं कुछ कहता है, न अन्य कुछ उससे कहते हैं, अतः यह निर्णय करना कि आत्मानुभूति की लीनता अवाच्य है, आत्मानुभव को आगम एवं अनुभूति से प्रकट करना वाच्य है, जब जीव अनुभव लेता है, तब अवाच्य-दशा होती है, अनुभव के उपरान्त जब बाहर होता है, तब वचन प्रारंभ होता है, आत्मा का ध्रुव शुद्ध-स्वभाव तो अवाच्य ही है, जैसा-कि आ. कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा—

अरसमरुवमगन्धं अव्यक्तं चेदणागुणमसदं।

जाण अगिग्गहणं जीवमणिदिट्ठ संठाणं।।

—समयसार, गा. 49

अर्थात् हे भव्य! तू जीव को ऐसा जान कि वह रस-रहित है, रूप-रहित है, गन्ध-रहित है, इन्द्रियों के गोचर नहीं है, जो चेतना-गुण-सहित व शब्द-रहित है, किसी चिह्न को ग्रहण नहीं करता, जिसका आकार कुछ कहने में नहीं आता, वह ध्रुव आत्मा है, —ऐसा परमार्थ-दृष्टि से जानना चाहिए। व्यवहार से आत्मा वाच्य-भूत भी है, सर्वथा अवाच्य भी नहीं कहा जा सकता, यदि आत्मा को सर्वथा-अवाच्य कहते हैं, तो आत्मा का परिचय शब्द से नहीं होता। व्यवहार धर्म व निश्चय धर्म दोनों का लोप हो जाएगा, क्योंकि बिना वचन-प्रणाली के किसी भी वस्तु-धर्म को नहीं समझा जा सकता, वस्तु-स्वरूप को समझने के लिए वचनों का प्रयोग अनिवार्य है, अन्यथा सर्वज्ञ-देशना का अभाव हो जाएगा, आत्मा के सम्बोधन में सम्पूर्ण आत्मा प्रवाद-पूर्व है, तथा चारों ही अनुयोग आत्म-तत्त्व की प्रधानता से ही कथन करते हैं। ज्ञानी! ध्यान दो— आत्मा की एकाकी अवाच्यता से महान् दोष खड़ा हो जाएगा— सम्पूर्ण शास्त्रों का प्रतिपादन व्यर्थ सिद्ध होगा, सर्वज्ञ तीर्थेश, गणधर से लेकर अन्य-अन्य आचार्यों की वाणी अनावश्यक हो जाएगी, फिर न आगम होंगे, न आगम-वक्ता ही होंगे, कारण समझना कि जो-भी कथन किया जाता है, वह आत्मा की प्रधानता से ही है। बिना आत्म-वाच्य के किसी भी धर्म का व्याख्यान नहीं हो सकता है, अतः आत्मा की ही शक्ति के लिए भाषा-वर्गणा हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी, कन्नड़, तमिल आदि भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता तथा जैन-सिद्धान्त-सागर में जो प्रमाण-नय-निक्षेप के मोती हैं, उन्हें आत्मा से ही जाना जाता है, आत्मा ही जानती है। आत्मा पर का भी ज्ञाता है, स्वयं का भी ज्ञाता है। पर को भी जब जानता है, तब

भी अवाच्य होता है, जब कहता है, तब वाच्य होता है, परन्तु पर को निज रूप से नहीं कहता, इसलिए अवाच्य है, निज को भी पर रूप से नहीं कहता, इसलिए भी अवाच्य है। पर को पर रूप ही कहता है, निज को निज रूप ही कहता है, इसलिए वाच्य भी है, अतः आचार्य भगवन् का कहना है— “तस्मान्नैकान्ते वाच्येनापि वाचामगोचरः” इसलिए एकान्त से, सर्वप्रकार से सर्वथा आत्म-वचन का विषय नहीं है, तथा वचनों का अविषय भी नहीं है। सप्तभंगी नय से जानना चाहिए कि कथञ्चित् वाच्य है, कथञ्चित् अवाच्य है, “न वाच्य” एकान्त पर विसंवाद अपेक्षणीय है, न ही अवाच्य एकान्त पर विसंवाद अपेक्षणीय है, वस्तु के उभय-धर्मों को समझते हुए, स्वात्म-तत्त्व की उपादेयता पर लक्ष्यपात करना ही तत्त्व-ज्ञानी श्रमण एवं श्रावक का कर्तव्य है, विसंवादों में निरूपराग वीतराग-धर्म की सिद्धि नहीं है, धर्म तो विसंवादी ही होता है। ॥७॥

विशुद्ध-वचन

* आँखें बन्द हो जाएँ

तो

कोई बात नहीं.....,

पर मत होने देना

बन्द.....

विवेक के नेत्र.... ।

* जिस दिन

सत्य समझ आ जाएगा.....

उस दिन

तत्त्व समझ आ जाएगा.... ।

* प्राणी की पहचान

होती नहीं

वर्ण से....

बल्कि होती है

वाणी से,

इसलिए मत बनने देना

वाणी को

बाण

बल्कि बनाना उसे

वीणा..... ।

श्लोक-8

उत्थानिका— शिष्य प्रश्न करता है— हे स्वामिन्! यह आत्मा विधि-रूप है या निषेधरूप है, मूर्तिक है या अमूर्तिक है?.....

समाधान— आचार्य-देव सर्वथा भाव-वादी व अभाव-वादियों को लक्ष्यकर कहते हैं—

स स्याद्विधिनिषेधात्मा, स्वधर्म-परधर्मयोः ।

समूर्तिर्बोधमूर्तित्वादमूर्तिश्च विपर्ययात् ॥

अन्वयार्थ— (सः) वह आत्मा, (स्वधर्म-परधर्मयोः) स्व-धर्म और पर-धर्म में, (क्रमशः विधिनिषेधात्मा) क्रमशः विधि और निषेध-रूप, (स्यात्) होता है, (सः) वह, (बोधमूर्तित्वात्) ज्ञान मूर्ति होने से, (मूर्तिः) मूर्तिरूप/साकार है, (च) और, (विपर्ययात्) विपरीत रूप वाला होने से, (अमूर्तिः) अमूर्तिक है ॥४॥

परिशीलन— भट्ट अकलंक स्वामी यहाँ पर-पदार्थ की उभय-रूपता का कथन कर रहे हैं। प्रत्येक द्रव्य में उभय-रूपता है, जो द्रव्य सद-रूप है, वही द्रव्य असद-रूप भी है, स्व-चतुष्टय से पदार्थ सद-रूप है, पर-चतुष्टय से असद-रूप भी है। कथन तो क्रमशः किया जाता है, जब सत् का कथन होगा, तब असत्-कथन गौण होगा, जब असत्-कथन होगा, तब सत्-कथन गौण होगा, परन्तु प्रति-समय सद-भाव दोनों का ही रहेगा। तत्त्व-बोध के लिए शीतल हृदय चाहिए, परिणामों में निर्मलता है, तो सम्पूर्ण तत्त्वों का निर्णय समीचीन हो जाता है, जिसके हृदय में वक्रता है, वह तत्त्व-बोध को प्राप्त नहीं करता। ज्ञानियो! जिज्ञासु के लिए तत्त्व शीघ्र समझ में आ जाता है, हठधर्मी के लिए कभी भी सम्यक् तत्त्व-बोध नहीं होगा। कारण समझना-जिसके अंतःकरण में वक्रता रहती है, वह स्व-मत की सिद्धि चाहता है, स्व-मत की सिद्धि के लिए छलादि का प्रयोग करता है, और कषाय-भाव को प्राप्त होता है, जहाँ क्षयोपशम का प्रयोग तत्त्व-बोध में होना चाहिए था, वहाँ न होकर अपनी शक्ति का प्रयोग अतत्त्व की पुष्टि में एवं अहंकार की सिद्धि में लगा देता है। अहो! बड़े-बड़े साधु-पुरुष भी इस अहं के मद में उन्मत्त हो जाते हैं, और यथार्थ में स्व-भूल को जानते हुए भी जन-सामान्य के मध्य स्वीकार नहीं कर पाते। ज्ञानियो! ध्यान दो—आगम-वाणी पर, त्याग-तपस्या में किञ्चित् न्यूनता भी रहे, तब भी मोक्ष-तत्त्व की

सिद्धि होगी, परन्तु तत्त्व पर विपर्यास करने वाला घोर त्यागी, तपस्वी, ब्रह्मचारी का कर्म-मोक्ष तो दूर की बात है, वह तो मिथ्यात्व से भी न छूट पाएगा।

सर्वप्रथम आत्मा की मिथ्यात्व से मुक्ति हो, —ऐसा पुरुषार्थ होना चाहिए, लोक में जीव-द्रव्य का प्रबल शत्रु मिथ्यात्व है, जो कि अनन्तानुबंधी कषाय का सहचर है, तत्त्वार्थ-श्रद्धान-रूपी शिखर से पतित करने वाला मिथ्यात्व है, तथा सम्यग्दर्शन-रूपी परम रत्न के तस्कर तो सोलह भेदों में पहले चार कषाय ही हैं; कहा भी है—

तत्त्वार्थश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।

सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः॥

—पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लो. 24

अर्थात् पहले ही तत्त्व के अर्थ के अश्रद्धान में जिसे संयुक्त किया है, ऐसे सम्यग्दर्शन के चोर, चार प्रथम कषाय अर्थात् अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि हैं। ज्ञानियो! सर्वथा मिथ्यात्व को अकिञ्चित्-कर तो नहीं कहा जा सकता। बन्ध के प्रत्ययों में यह मिथ्यात्व पहला ही प्रत्यय है। यह दर्शन-मोहनीय द्विमुखी सर्प है, जो उभय-मुख से काटता है, सम्यक्त्व का भी घात करता है तथा चारित्र-गुण का भी घात करता है; इसलिए मुमुक्षुओ! सर्वप्रथम मिथ्यात्व से आत्म-रक्षा करना, प्रथम सम्यक्त्व के कवच से शत्रु पकड़ जाए, फिर अव्रती को प्रमाद, कषाय, योग इन शत्रुओं को नष्ट करने का सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए। साथ में यह भी ध्यान रखना— मिथ्यात्व स्वयं के भाव-कषाय हैं, सर्वप्रथम अपना पुरुषार्थ इसके क्षीण करने में लगाकर सम्यक्त्व का वरण करो, सम्यक्त्व में संतुष्ट नहीं हो जाना, चारित्र का तीव्र पुरुषार्थ करना अति-अनिवार्य है, बिना चारित्र के मात्र सम्यग्दर्शन-रूप ज्ञान-शब्द-मात्र ही तीन काल में भी निर्वाण नहीं दिला पाएगा। यह बात सम्यक् है कि चतुर्थ गुणस्थान में देश-जिन-संज्ञा है, सम्यक्त्वाचरण चारित्र है, परन्तु वह चारित्र साक्षात् साधकतम नहीं है, उपचार से मोक्षमार्गी-अवश्य है, परन्तु ज्ञानी-सत्यार्थ-सिद्धान्त में भाषा में देखा जाय, तो जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों की अभिन्नता-रूप युगपद्-अवस्था होगी, वहीं से निश्चय-व्यवहार मोक्ष-मार्ग प्रतिफलित होता है।

ज्ञानियो! व्यर्थ के क्लेश को प्राप्त नहीं होना चाहिए, गुणस्थान क्रम से आगम-वचनों के अनुसार प्रवृत्ति करो, जिस गुणस्थान की जैसी-भूमिका है, वैसा ही कथन करना चाहिए तथा अपना पुरुषार्थ तदनुसार करो। शब्द-जाल से पेट नहीं भरता, मोक्ष-मार्ग कहाँ बनेगा ?

सर्वप्रथम मेरा सभी वक्ताओं को संकेत है कि स्व-पर हित का इच्छुक होना चाहिए, किसी भी संस्था विशेष से बँधकर नहीं बल्कि सीधे आगम-ग्रंथों के मूल-पाठ से जुड़कर स्वाध्याय में जुटना चाहिए, जिससे स्वावलम्बीपना आएगा एवं निडरता भी रहेगी, अपनी सत्यार्थ बात को कहने में किसी का दबाव भी नहीं रहेगा कि संस्था से निकाल दिया जाऊँगा। ज्ञानी! पुद्गल के टुकड़ों के पीछे भगवद्-वाणी के विपरीत कहने में तेरा मन कैसे जाता है?.... थोड़ा शान्त-भाव से चिन्तवन करके तो देख..... रोटि क्या इतनी प्रिय है, जिसके पीछे जिनवाणी को भी सदरूप में कहने में लाचार है। ऐसी रोटि से तो णमोकार जपते-जपते समाधि-लेना श्रेष्ठ है। मृत्यु एक बार हो जाएगी, पर मिथ्यात्व का पोषण तो नहीं होगा। मिथ्यात्व की पुष्टि से पेट भर भी गया, तो क्या नरकादि गतियों का पेट खाली रहेगा? इस बात का ध्यान रखा जाए। मैं तो करुणा-बुद्धि से मात्र समझा रहा हूँ; शेष तो वही होता है, जैसी जिनकी भवितव्यता होती है। जिसकी होनहार अशुभ ही होगी, वे इस उपदेश को स्वीकार नहीं कर पाएँगे; पर जिनकी होनहार शुभ है, वे शीघ्र तन्मार्ग में गमन करना प्रारंभ कर देंगे, अतः तत्त्व-ज्ञानियो! सत् को सत्, असत् को असत् कहना सीखो। वीतराग नमोऽस्तु-शासन को जयवन्त करो और अपनी आत्मा का कल्याण करो। वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादन जैसे का तैसा करना सम्यग्दृष्टि-जीव का व्यसन होता है। विधि-मुख एकान्त से या निषेध-मुख एकान्त से द्रव्य का प्रतिपादन कभी एक रूप से ही पूरी तरह नहीं हो सकता। न सर्वथा सदरूप ही है, न सर्वथा असदरूप ही, यानी न सर्वथा विधि-रूप, न सर्वथा निषेध-रूप; आत्मादि-द्रव्य तो विधि-निषेधात्मक हैं।

ज्ञानियो! यहाँ पर आत्मा को विषय बनाएँ, विचार करें कि आत्मा सत् ही है, यदि ऐसा मानते हैं, तो वह सर्वात्मक एवं मर्यादा-विहीन हो जाएगा। सभी द्रव्यों के सत्पने के प्रसंग में आत्म-द्रव्य सभी में घटित होने लगेगा, संकर नाम का दोष खड़ा हो जाएगा, साथ ही छः द्रव्यों की सत्ता समाप्त हो जावेगी। लोक में मात्र एक द्रव्य का प्रसंग रह जाएगा, जड़-धर्मी चैतन्य हो जाएगा, अत्यन्ताभाव का अभाव हो जाएगा, तथा अनवस्था-दोष का प्रसंग आएगा। व्यवहार में जब कोई जीव गर्म दुग्ध पियेगा, तब वह जल रहा होगा, क्योंकि अग्नि भी उस समय उस जीव में विद्यमान महसूस होगी। ज्ञानियो! भिन्न-भिन्न अनुभूति का अभाव हो जाएगा। दुग्ध दृष्टान्त का तात्पर्य समझना, जब पर-भाव-निरपेक्ष आत्मा सद-रूप ही है, तब सम्पूर्ण पदार्थ

एक-रूपता को प्राप्त होते हैं। जब सभी एक-भूत हो जाते हैं, उस समय चाहे दुग्ध हो, चाहे अग्नि, चाहे पानी, सभी धर्म आत्मा में ही तो घटित होंगे न। अद्वैत भाव भी खड़ा हो जाएगा, —ऐसी स्थिति में स्वयं निर्णय कीजिए कि आत्मा का सत्-पना सापेक्ष है या निरपेक्ष?

सुधी-पाठक-जन ध्यान रखें। यह सम्बोधन-ग्रन्थ अध्यात्म-न्याय से परिपूर्ण है। मैं समझता हूँ कि सामान्य-जनों के लिए भाषा कठिन होती जा रही है। “समाधि-तंत्र-अनुशीलन” में शुद्ध अध्यात्म है, “स्वरूप-संबोधन-परिशीलन” तर्क-शास्त्र समन्वित अध्यात्म-ग्रन्थ है, आप अभ्यास-रत रहें, समझ में आएगा, —ऐसा मेरा अंतःकरण कहता है। यदि मैं इस विषय को स्पष्ट नहीं कर पाया हूँ, तो समझिए कि सुधी पाठकों को मैंने अधूरा परोसा है। एक बार महान् ग्रंथ पर विश्लेषण हो जाये, —यही प्रयोजन है। ग्रंथ के कलेवर को बढ़ाना उद्देश्य नहीं है, अतः पुनः अपने विषय पर आया जाता है कि अर्हददर्शन से बाह्य-मत वाले एकान्तवादी जो पदार्थों के सद्भाव को ही एकान्त से मानते हैं, अभाव को नहीं मानते, उनके मन में प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव आदि चारों प्रकार के अभावों को नहीं मानने से सभी पदार्थ सर्वात्मक, अनादि, अनन्त और अस्वरूपी हो जाएँगे, यानी किसी भी द्रव्य का कोई निश्चित स्वरूप ही नहीं होगा, स्वरूप-अस्तित्व का लोप हो जाएगा, ज्ञानियो! इसलिए ध्यान दो— आत्मा सत्-स्वरूप है, वह मात्र सत्-चित् की अपेक्षा से है, न-कि जड़ की अपेक्षा। चैतन्य-धर्म की दृष्टि से ही आत्मा सद्-रूप है, न-कि अचेतन की अपेक्षा। अचेतन की अपेक्षा से वह असद्-रूप ही है, अतः स्व-चतुष्टय से द्रव्य सद्-रूप है, पर-चतुष्टय की अपेक्षा असद्-रूप है।

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।

असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥

—आप्तमीमांसा, श्लो. 15

अर्थात् स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सब पदार्थों को सत् कौन नहीं मानेगा और पर-रूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सब पदार्थों को असत् कौन नहीं मानेगा, यदि ऐसा कोई नहीं मानता, तो वस्तु की सही व्यवस्था नहीं बनेगी। प्रत्येक द्रव्य सद्-असद्-रूप

है, —इसप्रकार समझना चाहिए। आत्मा विधि-निषेध रूप है, आचार्य-प्रवर ने बहुत ही सुंदर ढंग से प्रतिपादन किया है, ज्ञान-दर्शन व सुख-वीर्य-स्वभावी होने से विधि-रूप है। साथ ही स्पर्श, रस, गंध, वर्ण-धर्मों नहीं होने से निषेध-रूप है।

मूर्तिक भी है आत्मा, अमूर्तिक भी है आत्मा। स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण निश्चय नय से आत्मा में नहीं पाये जाते, इसलिए आत्मा अमूर्तिक-स्वभावी है, परन्तु बन्ध की अपेक्षा से व्यवहार नय से आत्मा मूर्तिक भी है, अनेकान्त है। दूसरी बात यहाँ पर यह भी समझना कि ज्ञान साकार होता है, ज्ञान-मूर्तिक होने से आत्मा मूर्तिक है, तथा पुद्गल-भूत मूर्त-धर्म-रहित होने से अमूर्तिक है। यहाँ पर जीव को जो अमूर्तिक कहा गया, वह जीव-स्वभाव का कथन तो है, साथ ही इस कथन से चार्वाकों के आत्मा-विषयक स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि-रूप मूर्तिकत्व का निराकरण होता है। ॥८॥

विशुद्ध-वचन

* निहारते हैं

प्राणी

आँखों से

और

योगी

आगम से.....।

* सबके साथ रहना

पर

मत छोड़ देना

स्वयं का साथ.....।

* स्वर्ण-पाषाण को

भट्टी में तपाने पर

निकलता है सोना;

वैसे ही शरीर को

साधना की भट्टी में

झोंकने पर

मिलता है

शिव

और

मोक्ष.....।

श्लोक-9

उत्थानिका— शिष्य अपनी जिज्ञासा प्रकट करता है— हे भगवन्! यदि आत्मा अनेक-धर्मात्मक है, तो उसमें वे अनेक-धर्म कैसे बनते हैं ?.....

समाधान— आचार्य-देव समझाते हैं—

इत्याद्यनेकधर्मत्वं, बन्धमोक्षौ तयोः फलम् ।

आत्मा स्वीकुरुते, तत्तत्कारणैः स्वयमेव तु ।।

अन्वयार्थ— (इत्याद्यनेकधर्मत्वं) चेतन-अचेतन व मूर्तिक-अमूर्तिक आदि अनेक-धर्मत्व को, (बन्धमोक्षौ) कर्म बन्ध और मोक्ष को, (तु) और, (तयोः) उन बन्ध और मोक्ष के, (फलम्) फल को, (तत्तत्कारणैः) उन-उन कारणों से, (आत्मा) आत्मा, (स्वयमेव) स्वयं ही, (स्वीकुरुते) स्वीकारता है ।।9।।

परिशीलन— आचार्य-देव आत्मा की स्वाधीनता का प्रतिपादन इस कारिका में कर रहे हैं। पूर्व के आठ पद्यों में अनेक धर्म-युगलों की आत्मा में अपेक्षा-सहित निर्विरोध स्थिति बताते हुए ग्रन्थकर्ता की उक्त अनन्त-धर्मात्मक अनेकान्त-रूपता आत्मा में कैसे सकारण एवं सार्थक है, —इसे बताते हैं। अन्य के द्वारा आत्मा में न दुःख उत्पन्न कराया जाता है, न सुख तथा बन्ध-मोक्ष भी पर के अधीन नहीं है, यदि बन्ध-मोक्ष पराश्रित हो गया, फिर-तो सम्पूर्ण लोक-व्यवस्था ही नष्ट हो जाएगी। अन्य-कृत कार्य होने से पुरुष तो पुरुषार्थ-शून्य हो जाएगा, हाथ पर हाथ रख लेगा, मुझे तो कुछ करना ही नहीं है, करने वाला कोई अन्य हो जाएगा। ईश्वरवादी में और जैन में कोई भेद ही नहीं रहेगा। ईश्वरवादी का यही तो कहना है कि जो-कुछ भी लोक में परिणमन होते दिख रहा है, वह-सब प्रभु की/ईश्वर की सहज इच्छा से हो रहा है, पुरुष-कृत कुछ भी नहीं है, सब प्रभु-कृत है। यह अन्ध-विश्वास, अज्ञान, अविद्या की बलहारियाँ हैं, जो-कि स्व-शक्ति एवं स्व-सत्ता को खोकर प्रभु पर बैठकर घोर भवावली में भ्रमण कर रहे जीव, जिन्हें स्वयं की स्वतंत्रता का किञ्चित् भी ज्ञान नहीं है, अनादि से अज्ञ-प्राणी परतंत्रता में इतने लिप्त हो चुके हैं कि अब उन्हें कोई विज्ञ सम्बोधन भी प्रदान करे, तो भी चेतते नहीं, अरे मित्र! तेरा स्व-भाव पर-भाव से भिन्न है, तू अपने चतुष्टय में स्वाधीन ही है, ईश्वर तेरे कर्ता-भोक्ता नहीं हैं, तू तो पूर्व से ही स्वतंत्र था, आज भी है, भविष्य में भी स्वतंत्रता से युक्त ही रहेगा, किसी भी दशा में एक द्रव्य अन्य-द्रव्य-रूप नहीं होगा, —यह ध्रुव सिद्धान्त है।

यह सिद्धान्त कभी भी अपनी अचलता का परित्याग नहीं करेगा। अहो! मिथ्यात्व की महिमा कितनी विचित्र है कि अपनी स्वतंत्रता को व्यक्ति किस प्रकार नष्ट कर रहा है! किसी ने देवों के हाथ में स्वयं को दे दिया, किसी ने जादू-टोना को तंत्र-मंत्र को, किसी ने नगर-देव को, तो किसी ने कुल-देवी को, तो किसी ने अदेवों, तिर्यचों एवं वृक्षों, खोटे गुरुओं के हाथों में सौंप दिया। इतना ही नहीं, आज धन-पिपासा की वृद्धि को देखते हुए लोक में साधु-सन्तों ने भी भोले लोगों की वंचना प्रारंभ कर दी है। धर्म के नाम पर भयभीत कर धन लूट रहे हैं, कोई श्री-फल को फूँक रहे हैं, तो कोई जीव अपने लाभ को कलशों में निहार रहे हैं, सोने-चाँदी के कलश घरों में रखकर/रखाकर उनका उनमें मन लगवाकर उनकी अपनी स्वतंत्रता का हनन करने में लीन हैं। नग, अँगूठी, मोती, माला इत्यादि में लगाकर सत्यार्थ-मार्ग से वंचित कर रहे हैं। अहो प्रज्ञा! हमारी बातें आपको लोक से भिन्न दिखाई दे रही होंगी, क्योंकि लोक आत्म-लोक का अवलोकन नहीं है, वहाँ तो लोभ-कषाय, परिग्रह-संज्ञा की पुष्टि अधिक है। सामान्य लोगों से लेकर विशिष्ट जन तक उक्त रोग से पीड़ित हैं। ज्ञानी एक बात पर ध्यान दो— उदाहरण दृष्टि से, किसी दुःखित को बोला गया कि कलश की स्थापना घर में कर लो, संकट दूर हो जाएगा। भूतार्थ दृष्टि से बोलना। वह दुःखित क्या करेगा? शीघ्र ही कलश की स्थापना कर देगा, अब उसका लक्ष्य कहाँ रहेगा?.....और हमने कलश स्थापना की है, हमारा कलश सम्पत्ति प्रदान करेगा, प्रत्येक विशिष्ट पर्व पर हमारे संकट दूर करेगा; बस, कलश की विशिष्ट-आराधना प्रारंभ हो गई। अहो प्रज्ञा! सत्य बोलना, 'कलश की आराधना क्यों चल रही है? परिग्रह की कामना के उद्देश्य से या आत्माराधना के लिए? अन्तरंग-भाव चल रहे हैं कि मेरी कलश-आराधना शीघ्र फलित होवे और घर में परिग्रह की वृद्धि होवे, ज्ञानी! परिग्रह बढ़े, न बढ़े; वह लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से मिलने वाली वस्तु है, पर माँगने की भावना ने निःकांक्षित अंग का भी अभाव करा दिया; पर मैं अपना कर्त्ता-पन स्थापित करा दिया, जड़-द्रव्य में चेतन का कर्त्ता-पन कैसा?..... उस कलश के लिए मेरे प्रति सुख-दुःख का भाव आता है क्या ?....नहीं, ज्ञानी! अचेतन के लिए चेतन को सुख-दुःख का कर्त्ता-भाव आता ही नहीं। एक जीव-द्रव्य ही ऐसा है, जो-कि व्यवहार-दृष्टि से विरुद्ध धर्म, अविरुद्ध-धर्म में जाकर स्व-पर भाव के कर्त्ता-पन को प्राप्त होता है। निश्चय से एकत्व-विभक्त-स्वभाव ही जीव का सुन्दर भाव है, उस पर लक्ष्य ही नहीं जा रहा है। पूर्व अनादि से वासना के संस्कार-वश हुआ जीव जिन-लिंग प्राप्त करके भी एकत्व-विभक्त चिद्रूप भगवान्

आत्मा को नहीं पहचान पा रहा है। गृहस्थ-जन आरंभ में लीन होते देखे जाते हैं। ज्ञानी विषय को परमार्थ-दृष्टि से समझना, जैसे— कोई शासन का बड़ा अधिकारी सामान्य अनुचरों को आज्ञा देकर कार्य ही तो कराता है, वह स्वयं के हाथों उन कार्यों को नहीं करता, फिर भी सम्पूर्ण कर्त्तापन का भाव उसका ही होता है, उस कार्य के अच्छे-बुरे होने का हर्ष-विषाद-भाव का वेदक भी वही अधिकारी होता है, उसी प्रकार उन साधकों की अवस्था समझना। व्यवहार-तीर्थ की वृद्धि तो समझ में आती है, परन्तु स्वच्छ, निर्ग्रन्थ, जिन-लिंग-भूत जो परमार्थ-तीर्थ है, उसकी वृद्धि पर विकल्प है, कारण परमार्थ-तीर्थ पर-भावों से भिन्न है, व्यवहार-तीर्थ के साथ परमार्थ-तीर्थ पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। ज्ञानियो! भगवान् महावीर स्वामी का स्वरूप धर्मशालादि बनवाना नहीं था। भगवान् महावीर स्वामी का स्वरूप तो परम वीतराग-दशा, निस्पृह-वृत्ति-रूप था, जिन्हें स्वयं के पिता के गणराज्य पर भी मोह नहीं आया, उन्हें क्षेत्रों, भक्तों, नगरों के राग से भला कैसे विमोह होता! तीर्थकरों की परम्परा मठाधीशों की परम्परा नहीं है, तीर्थकरों की विशद परम्परा गगन के सदृश त्याग-भाव से भरी, निर्लेप एवं निर्दोष रही है। कुन्दकुन्द-जैसे महायोगियों ने जिसका नेतृत्व किया है। उन्होंने अपने समय को स्व-समय, निश्चय-व्यवहार में पूर्ण किया है, आत्म के कोष को भरा था, न कि लोक में साधुवाद-पन्थवाद की वृद्धि को, उन्हें मालूम था कि तीर्थकर-जैसे पुण्यवानों के नाम भी कुछ समय उपरान्त समाप्त हो जाते हैं, मेरा क्या नाम रहेगा, इसलिए अपने निज-उपयोग की वृद्धि-हेतु तथा भव्यों के कल्याण के उद्देश्य से श्रुत-सागर में निमग्न होकर आगम-अध्यात्म की मणियों को अपने ग्रन्थों में गुंफित किया है। उन्होंने भवनों में आत्म-भवन का नाश नहीं किया, यह तो गृहस्थों का धर्म है, साधु-पुरुषों का कार्य तो तप-साधना एवं श्रुत की आराधना मात्र है। मेरे मन में ये भाव इसलिए आये हैं कि कहीं सम्पूर्ण-साधु-संस्था इसी कर्त्तापन में लीन हो गई, तो-फिर वर्धमान का वनवास-मार्ग, आत्म-वास- मार्ग मात्र ग्रन्थों में ही निबद्ध होकर रह जाएगा, निर्ग्रन्थ मठों में निवास करने लगेंगे, पर मेरा विश्वास है कि तीर्थकरों का मार्ग सर्वत्र न सही पर तारों की भाँति चमकता तो रहेगा ही, पूर्ण अभाव नहीं हो सकता, ऐसे भी श्रमण रहेंगे, जो आत्माश्रम में निवास करेंगे, भवनों के निर्माण से अलग रहते हुए स्वात्म की रक्षा करते हुए निर्वाण-मार्ग की साधना में लीन रहेंगे, किसी क्षेत्र-प्रान्त में न बँधकर निर्दोष-चारित्र में ही बँधेंगे। ज्ञानियो! ध्रुव सत्यार्थ-मार्ग पर थोड़ा तो विचार करो, निज-धर्म की पहचान कर्त्तापन में नहीं है। श्रमण-संस्कृति का सत्यार्थ-मार्ग आश्रम-मार्ग नहीं है, आश्रम-विधि में षड्काय के जीवों की हिंसा

होती है, श्रमण का मार्ग तो षड्काय की हिंसा से परे है। एक-क्षण अहो योगियो ! चिन्तन करें कि अपना मार्ग कितना श्रेष्ठ है, जहाँ परिपूर्ण रूप से स्वाधीनता है, न भोजन का विकल्प, न भवन का, सर्पवत् मिलता है, फिर हम क्यों दीमक बनें, जो-कि स्वयं बना-बनाकर वामी को तैयार करती है, पर रहते उन वामियों में सर्प हैं। उसीप्रकार श्रमणो! आप उपदेश-आदेश करके बनवा जाओगे, पर उन धर्मशालाओं में रागी-भोगी जीव ही तो निवास करेंगे। तनिक से नाम के राग के वश होकर त्रिलोक्य-पूज्य जिन-मुद्रा को क्यों टुकड़ों में नष्ट कर रहे हो। परम योगी का ज्ञानानन्द व परमानन्द-रस-पान का मार्ग है, अन्य सभी आनन्द अनेक पर्यायों में प्राप्त किये हैं, पर वीतरागता का एवं निस्पृहता का आनन्द तो मात्र एक दिगम्बर तपोधन की भूमिका में ही प्राप्त होता है। धन्य हैं वे धरती के देवता, जो युवा-अवस्था में भोगों की तपन से स्वात्मा की रक्षा करके परम ब्रह्म-धर्म की साधना में लीन हो गए हैं, उनसे ही श्रमण-संस्कृति शोभायमान है, ब्रह्म-लीन योगी-जनों के चरणों की बलिहारी है, जिन्होंने शील के हार को धारण किया है, कुशील के भार को उतार दिया है, वे साधु जयवन्त हों, यह धरा-धाम इन श्रमणों से हर्षित होता है।

मनीषियो! यह तो व्यावहारिक चर्चा है, पुनः भूतार्थ-दृष्टि पर दृष्टि डालें, वही आत्म-हित में सहकारी है, अन्य नहीं, अन्यथा नहीं। आत्मा ही ज्ञान व अज्ञान-भाव को प्राप्त होता है, अन्य जो भी आयतन हैं, वे-सब अपने-आप में स्वतंत्र हैं। छः ही द्रव्य एकत्व-विभक्त्य रूप हैं, एक भी द्रव्य पर-भाव-रूप नहीं है, प्रत्येक द्रव्य निज-स्वभाव में द्रवण-शील है, परस्पर एक-दूसरे के साथ एक ही आकाश में स्थित होने पर भी वे अपने स्वाधीन धर्म का कभी परित्याग नहीं करते; पर अनादि-अविद्या-वश मोह-पिशाच के द्वारा बैल की भाँति पंच-परावर्तन-संसार में अनवरत भ्रमित कराया गया। जिस भ्रमण में कर्म-चक्र का प्रबल हाथ है, जो-कि जीव के निज भावों, भावों व कर्मों द्वारा ही सम्पादित होते हैं, अन्य किसी के द्वारा उन्हें निमंत्रण नहीं दिया जाता, आत्मा जैसा-भाव करता है, वैसा ही होता है। जब ज्ञान-मय भाव करता है, तब जीव ज्ञान-मय होता है, और जब अज्ञान-मय-भाव करता है, तब अज्ञान-मय होता है, इन भावों का कर्त्ता स्वयं ही होता है, अन्य नहीं। स्वर्ण-धातु से स्वर्ण-मय आभूषण ही निर्मित होते हैं, लोहा-धातु से निर्मित आभूषण लौह-मय ही होगा, स्वर्ण-मय कैसे? .

....इसीप्रकार जैसा— पुरुष का पुरुषार्थ होता है, वैसा ही पुरुष का परिणमन होता है, कुशल पुरुषार्थ है, तो गति भी कुशल होती है, अकुशल पुरुषार्थ है, तो गति भी अकुशल ही होगी, —इसे कोई टाल नहीं सकता। कुशल यानी पुण्य, अकुशल यानी पाप समझना।

अहो ज्ञानियो! बन्ध, मोक्ष और उनके फल को आत्मा स्वयं ही स्वीकारता है, बन्ध का कर्त्ता भी जीव है और मोक्ष का कर्त्ता भी जीव है, ईश्वरादि जीव का कर्त्ता नहीं है, न पद के फल का अन्य कोई भोक्ता है, जीव स्वयं विकारी-भावों का कर्त्ता है, जिसके माध्यम से संसार भ्रमण चल रहा है, स्वयं जब जीव विकारी-भावों का अभाव करता है, तब वह मोक्ष को प्राप्त करता है।।६।।

विशुद्ध-वचन

* बिना छैनी के
पाषाण से
प्रतिमा नहीं;
बिना तप के
आत्मा से
परमात्मा भी नहीं....।

* बड़ा अन्तर है
त्यागी बनकर
त्याग करने में
और
त्याग करके
त्यागी बनने में....।

* जैसे—
दिखता नहीं घी
दूध में
पर झलकता है वह,
वैसे ही
दिखता नहीं
परमात्मा
प्राणियों में
पर साफ झलकता है
मुनियों
और
साधकों को.....।

श्लोक-10

उत्थानिका— शिष्य की प्रार्थना— भगवन्! कर्म के कर्त्तापन एवं भोक्तापन के स्वरूप को समझाने की कृपा करें.....

समाधान— आचार्य-भगवन् कहते हैं—

कर्त्ता यः कर्मणां भोक्ता, तत्फलानां स एव तु।

बहिरन्तरूपायाभ्यां, तेषां मुक्तत्वमेव हि।।

अन्वयार्थ— (यः) जो आत्मा, (कर्मणां) अपने राग-द्वेष, मोह आदि भावों का तथा उन भावों के द्वारा ज्ञानावरण आदि कर्मों का बन्ध, (कर्त्ता) करने वाला है, (स एव) वही आत्मा, (तत्फलानां) उन कर्मों के शुभ-अशुभ फलों का, (भोक्ता) भोगने वाला है, (तु) और, (हि) निश्चय करके, (बहिरन्तरूपायाभ्यां) बहिरंग और अन्तरंग उपायों द्वारा, (तेषाम्) उन कर्मों का, (मुक्तत्वम् एव) छूट जाना भी उसी आत्मा को होता है।।10।।

परिशीलन— आचार्य-देव परम-वात्सल्य-भाव से भव्यों के कल्याणार्थ कर्मों के कर्तृत्वभाव, भोक्तृत्वभाव एवं मुक्तत्व पर विशद रूप से प्रकाश डाल रहे हैं; ज्ञानियो! उक्त तीनों सूत्रों को समझना सामयिक है। लोक में जो जीव कषाय को प्राप्त हो रहे हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि जीवों को कर्म-सिद्धान्त का ज्ञान एवं उस पर श्रद्धान नहीं है, जहाँ कर्म-सिद्धान्त के भूतार्थ का ज्ञान हो जाता है, वहाँ व्यक्ति उपशम-भाव को प्राप्त होता है, क्षण-मात्र में उसकी कषायग्नि शान्त हो जाती है। ज्ञान का चिन्तन ज्ञान के साथ जब होता है, तब कर्म-सिद्धान्त पर ध्यान जाता है, जब ज्ञान-अज्ञान-मोह से ग्रसित होता है, तब ज्ञान कषाय-मल में मलिन होकर पर के अहित में परिणत होता है। वह समय बहुत ही नाजुक होता है, जिस समय विषय-कषाय के निमित्त परिपूर्ण-रूप से सामने हों, अन्य दोष दृष्टिगोचर हो रहा है। जिस काल में स्व-प्रज्ञा को निर्मल करके रख पाना दुष्कर है। मनीषियो! अभिनव-कर्मों से बचने का एवं जीर्ण-कर्मों से छूटने का यह पावन समय है, यदि प्रज्ञा साथ दे दे तो। प्रज्ञा पर-भावों में व्यभिचरित न हो, यानी बुद्धि अन्य-पुरुष पर न जाकर स्व-कर्मोदय पर चली जाए, तो जो दुःख-सुख फलित दिख रहे हैं, वे सभी स्व-कृत शुभाशुभ कर्मों के विपाक रूप हैं, अन्य तो निमित्त मात्र ही हैं। यदि मेरे द्वारा पूर्व में अशुभ न किया गया होता, तो आज मेरे लिए ये निमित्त-दुःख क्यों बनता ?....

ज्ञानियो! बड़ी सहजता से एक बात ध्यान देने योग्य है, जो आपके लिए दुःख-रूप निमित्त बन रहा है, वह अन्य के लिए तेरे ही देखते हुए सुख-रूप निमित्त बन रहा है, यदि सामने वाला दुःख-रूप ही निमित्त होता, तो अन्य को भी उसके द्वारा दुःख होना चाहिए था, इसका गंभीर तत्त्व खोजिए। यानी-कि मेरे लिए दुःख का साधन जो है, वह-भी मेरे ही कर्मों का उदय है, मैंने पूर्व में उसके लिए दुःख-साधन उपस्थित किये थे, वही सामने फलित हो रहे हैं; जैसे-कि गुरुदत्त भगवान् के लिए कपिल ब्राह्मण उपसर्ग का कारण था, उसने रुई लपेट कर अग्नि लगा दी, वर्तमान में यही दिखता है कि कपिल ब्राह्मण ने योगीराज को कष्ट दिया, पर ज्ञानी! भूत-पर्याय पर एक क्षण को अपनी पवित्र दृष्टि को तो ले जाओ, महायोगी की कथा करने का प्रयोजन है कि पुनर्भव को आप मानते हैं आस्तिक हैं तो, पूर्वकृत कर्मों का विपाक भी स्वीकार करना ही होगा। ध्रुव सत्य है, बिना स्व-कृत कर्मों के अन्य कोई कष्ट का कारण हो ही नहीं सकता, सुख के साधन भी तभी मिलते हैं, जब स्वयं का पूर्वकृत-पुण्य फलीभूत होता है। गुरुदत्त स्वामी ने क्या किया था ऐसा, जो-कि उनके तन में अग्नि की ज्वाला भभकी। अहो क्या कहूँ ? वैभव, युवा-अवस्था, राज्यपद —इन तीनों में से एक-एक ही व्यक्ति को उन्मत्त बना देता है, फिर जिसे सभी मिल जाएँ, तो-फिर क्या कहना? गुरुदत्त स्वामी हस्तिनापुर नरेश थे, उनकी ससुराल चन्द्रनगर में थी, जो-कि वर्तमान द्रोणगिरि पर्वत की तलहटी में खण्डहर के रूप में दिखता है। पर्वत पर जो वर्तमान में गुफा है, उसमें एक सिंह का वास था, नगर के लोग वनराज से डरते थे, पर यह कोई नहीं समझता था कि वनराज में भी जिनराज विराजते हैं, भगवान् महावीर स्वामी भी तो पूर्व-पर्याय में वनराज ही तो थे, वे ही अन्तिम तीर्थेश जिनराज हुए हैं। ज्ञानियो! जब गुरुदत्त अपनी ससुराल आये, उन्होंने नगर-वासियों के भय का कारण जानकर सिंह की गुफा में ईंधन भरकर आग लगा दी थी। आर्तध्यान से मर कर वही सिंह कुपित ब्राह्मण हुआ है, पूर्व-वैर के कारण आज उसने मुनि-अवस्था में गुरुदत्त स्वामी के शरीर में रुई लपेटकर अग्नि लगायी है। तत्-क्षण ध्यान लगाकर क्षपकश्रेणी आरोहण कर मुनिराज कैवल्य को प्राप्त हुए, देवों ने आकर कैवल्य-ज्योति की आराधना की। तभी केवली भगवान् ने कपिल के बारे में पृच्छना की, तब भगवान् ने अपनी दिव्य-देशना में कहा कि यह मेरा ही पूर्वकृत-कर्म था, मैंने इसे सिंह की पर्याय में जलाया था, उस वैर के संस्कार-वश इसने मेरे तन में अग्नि लगायी है,

इसका कोई दोष नहीं है, इतना श्रवण करते ही कपिल ब्राह्मण आत्म-ग्लानि से युक्त होते हुए समुचित श्रद्धानकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुआ।

ज्ञानी! जो शत्रु-रूप दिखता था, वो भक्त हो गया, किसे शत्रु कहूँ, किसे मित्र? शत्रु-मित्र लोक में अन्य नहीं हैं, अन्य तो निमित्त मात्र हैं, सत्यार्थ में अन्तरंग शत्रु-मित्र जीव के स्व-परिणामों की दशा है, जिसे शत्रु-मित्र बोलकर आप राग-द्वेष कर रहे हैं, वे न शत्रु हैं, न मित्र, तो-फिर शत्रु-मित्र कौन हैं? शत्रु-मित्र की कल्पना से जो अन्तरंग में राग-द्वेष-भाव हो रहे हैं, वे ही भूतार्थ शत्रु-मित्र हैं। यदि जगत् में राग-द्वेष भाव न करें, तो प्रत्येक जीव ज्ञायक-स्वभावी शुद्ध-चिद्-रूप परमात्मा है। अन्तरंग में बैठकर विशुद्ध-भावों से तनिक चिन्तन तो करो— मेरे सुख-दुःख का कर्त्ता कौन है? कर्म हैं कि तेरे भाव-कर्म हैं, भाव-कर्म करना बंद कर दे, तो जड़-द्रव्य कर्म क्या करेंगे?.....द्रव्य-कर्मों के निमित्त भाव-कर्म होते हैं, भाव-कर्मों के निमित्त से द्रव्य-कर्म आते हैं, पुरुष का पुरुषार्थ भाव-कर्मों पर चले, तो द्रव्य-कर्म स्वयमेव क्षण-मात्र में निर्जरा को प्राप्त हो जाएँ। जीव के परिणाम कर्म-वर्गणाओं को निमंत्रण देते हैं, निज-भावों को पर-भावों में न ले जाकर परिणाम-विशुद्धि रखें, स्व के प्रति स्व-परिणामों को स्थापित कर लें तथा जगत् से अपने-आपको संकुचित कर लें, लोकाचार से भिन्न होकर लोकोत्तराचार में प्रवेश कर जाएँ, अशुभ-कर्म का त्याग कर दें, तो ज्ञानी! जड़-कर्मों की शक्ति स्वयं मंद पड़ जाएगी।

पुद्गल-वर्गणाएँ जीव के विकारी-भाव हुए बिना कभी भी कर्म-रूप नहीं होतीं। वे तो बहुत ही साधु हैं, बलात् किसी के प्रति असाधुता का व्यवहार नहीं करतीं, पर ध्यान रखना- किञ्चित् भी अशुभ मन-वचन-काय किया, तो उनसे शीघ्र ही जीव बन्ध को प्राप्त होता है। कारण यह कि वे श्रेष्ठ न्यायाधीश हैं। वहाँ पर न किसी की मनौती चलती है, न किसी की प्रार्थना लगती है। कोई कितना ही बड़ा श्रेष्ठ व्यक्तित्व आपका पक्ष लिये क्यों न खड़ा रहे, परन्तु कर्म-सिद्धान्त के न्यायालय में किसी भी पुरुष के सदोष-पक्ष की सुनवायी नहीं है, वहाँ तो दण्ड स्वीकार करना ही पड़ता है। मैंने देखा है— इस न्यायालय में तीर्थकर-भगवान्-जैसे श्रेष्ठ उत्तम शासक के प्रति भी वही हुआ, जो सामान्य प्रजा के साथ होता है, यानी जो कर्म किया था, वह उन्हें स्वीकारना ही पड़ा। कर्म का विपाक तीर्थकर-पद से भूषित आत्मा को भी स्वीकार करना पड़ा। ज्ञानी! भगवान् आदिनाथ स्वामी से पृच्छना कर लेना— भगवान् आपको छः माह तक निराहार क्यों रहना पड़ा?... वे भी बतला देंगे कि ऐसा आचार्य भगवन् गुणभद्र स्वामी ने बहुत ही सुंदर शैली में प्ररूपित किया है—

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव,
 स्वयं सृष्टा सृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः ।
 क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती ।
 महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलङ्घ्यं हतविधेः ॥

—आत्मानुशासन, श्लो. 119

तात्पर्य समझना कि जिनके गर्भ के पूर्व से देवों के स्वामी इन्द्र हाथ जोड़कर किंकर-वत् खड़े हों, स्वयं सृष्टि के सृष्टा हों, यानी प्रजा को असि-मसि-कृषि-विद्या-वाणिज्य-शिल्प इत्यादि षट्कर्तव्यों की शिक्षा दी थी, इसलिए स्वयं प्रजापति सृष्टि के सृष्टा थे, जिनका स्वयं का बेटा भरत इस युग का प्रथम भरतेश्वर था, यानी चक्रवर्ती था, फिर-भी प्रभु छः माह तक पृथ्वी पर भिक्षा के लिए भ्रमण करते रहे। आश्चर्य है व अलंघनीय है विधि का विधान अर्थात् कर्म की तीव्रता को कोई भी नहीं टाल सकता। ज्ञानियो! यहाँ पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जगत् में न कोई किसी को सुखी करता है, न दुःखी करता है, स्व-कृत कर्म ही जीव के शुभाशुभ रूप में फलित होता है। इस कारिका में तीन विषयों का कथन किया गया है— कर्म-कर्त्ता, कर्म-फल का भोक्ता एवं कर्म-बन्धन से पूर्णतया मुक्त होना। विधि का विधान विचित्र है, विधि यानी कर्म, ज्ञानियो! लोक में दुःख व सुख आने पर जड़-बुद्धि-जन ईश्वर व ब्राह्मणादि के माथे पर रख देते हैं, मुझ पर भगवान् खुश हैं, सभी प्रकार की सम्पन्नता है, तो कोई कहता है, —क्या करूँ... ईश्वर की आँख मुझ पर उठ गई है, परमात्मा भी मुझसे रुष्ट हैं। मनीषियो! यही तो पर-कर्तृत्व का मताविष्टपना है, अपने सुख का कर्त्ता ईश्वर, ब्रह्मा व परमात्मा को बनाना घोर अज्ञान व मिथ्यात्व हैं। किञ्चित् भी तत्त्व-ज्ञान जीव के अंदर विराजता, तो इन शब्दों का प्रयोग कर निज-अज्ञता की सूचना जगत् को न देते। भोली आत्माओ! जिस पर आप ब्रह्मा, विधि, ईश्वर आदि शब्दों का प्रयोग कर कर्त्तापन थोप रहे हैं, यथार्थ में तो समझो कि वह कौन है?... ज्ञानी! वे-सब कर्म के ही पर्यायवाची नाम हैं। शब्द-शास्त्र का भी ज्ञान होना आवश्यक है, शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं। परम दिगम्बर-देव श्री उग्रादित्याचार्यस्वामी ने महान् आयुर्वेद-शास्त्र कल्याण-कारक में कर्म के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग इसप्रकार किया है—

स्वभाव-काल-गृह-कर्म-दैव, विधातृ-पुण्येश्वर-भाग्य-पापम् ।

विधिः कृतांतो नियतिर्यमश्च, पुराकृतस्यैव विशेषसंज्ञा ॥

स्वभाव, काल, ग्रह, कर्म, दैव, विधाता (ब्रह्मा), पुण्य, ईश्वर, भाग्य, विधि, कृतांत, नियति, यम, —ये-सब पूर्व-जन्म-कृत कर्म के ही अपर-नाम हैं।

जो अज्ञ प्राणी निज के सुख-दुःख के कारण को ईश्वर व ब्रह्मा घोषित करते हैं, वहाँ अन्य कोई ईश्वर व ब्रह्मा नहीं होता, वे सब काल्पनिक हैं, सत्यार्थ में स्व-कृत कर्म ही ईश्वर व ब्रह्मा नाम से लोक में कहा जाता है। यदि ब्रह्मा, ईश्वर हमारे सुख-दुःख के कर्त्ता होते, तो-फिर मेरा किया कर्म व्यर्थ हो जाएगा और मैं पराधीन हो जाऊँगा; फिर-तो जो-कुछ भी होगा, वह-सब ईश्वर के अनुसार या इच्छा से होगा। चाहे शुभ-कर्म हो, चाहे अशुभ-कर्म हो, मैं तो स्वतंत्र हो जाऊँगा, या-फिर यों कहें कि पूर्ण स्वच्छंद हो जाऊँगा। फिर स्व-माँ व भगिनी के साथ काम-क्रीड़ा-जैसी लोक-निन्द्य प्रवृत्ति भी ईश्वर-कृत हो जाएगी, उसे करने वाले का कोई दोष ही नहीं रहेगा। अरे प्रज्ञा! स्व-प्रज्ञा को विवेक-पूर्वक प्रयोग तो कर। इधर तू कहता है कि परमात्मा पूर्ण सर्वज्ञ, वीतरागी होता है, फिर तू ही तो मुझे समझा दे कि जो वीतरागी होगा, वह इतने सारे प्रपंचों में कैसे उलझ सकता है?.....दूसरी बात यह है कि ईश्वर तो भगवान् है, वह तो सबका भला करने वाला होना चाहिए, आपकी ही भाषा में कहता हूँ, जब उसके हाथ में सम्पूर्ण व्यवस्था है ही, तो-फिर इतना कठोर क्यों ?.... किसी को सुखी, तो किसी को दुःखी, किसी को सज्जन तो किसी को दुर्जन क्यों बनाया, फिर उन्हीं के संहार व रक्षण के लिए पुनः अवतार लेकर संसार में जन्म लेते हैं, यह तो बच्चों-जैसी क्रीड़ा लगती है। यदि मैं ईश्वर होता, तो सभी जगत् के जीवों को सुखी ही बनाता, किसी को भी सुख से शून्य नहीं करता, यानी किसी भी जीव को दुःखी नहीं करता, फिर उनके दुःख मेटने के लिए संसार में मुझे अवतरित नहीं होना पड़ता। ज्ञानी! यदि तू ऐसा कहे कि सुख-दुःख ईश्वर वैसा ही देता है, जैसा पुरुष का कर्म होता है, तो-फिर आपकी प्रतिज्ञा की हानि होती है एवं स्व-पक्ष ही दूषित होता है, पर-पक्ष यानी मेरा पक्ष भी भूषित होता है। आपकी प्रतिज्ञा है कि ईश्वर सुख-दुःख का कर्त्ता है, परन्तु यहाँ आप ही कह रहे हैं कि जीव जैसा-कर्म करता है, वैसा ही फल ईश्वर देता है, अहो! क्यों पराधीनता में स्व-वंचना कर रहे हो, जब कर्म के अनुसार ही फल प्राप्त होता है, तो व्यर्थ में ही ईश्वर को क्यों बीच में ला रहे हो? सीधे बोलो, स्व-कृत कर्म ही मेरे सुख-दुःख के कर्त्ता हैं, अन्य कोई कर्त्ता नहीं है।

प्रत्येक जीव अपने स्व-कर्मों का कर्त्ता स्वतंत्र ही है, किञ्चित् भी पराधीनता नहीं है। भगवान् आदिनाथ स्वामी ने यही कहा था कि मैंने जो राजा की अवस्था में बैलों के मुख में मुषीका (बैलों के मुख पर लगाया जाने वाला बंधन विशेष) लगाया था, उसका परिणाम मुझे ही स्वीकारना पड़ा।

इस कारिका में तीन विषयों का कथन किया गया है— कर्म का कर्त्ता, कर्म-फल का भोक्ता एवं कर्म-बन्धन से पूर्णतया मुक्त होना।

इससे ईश्वर सांख्य, बौद्ध, मीमांसकों की आत्म-विषयक मान्यताओं का निरसन हो जाता है, —उक्त कथन उनके अभिप्राय की सिद्धि में बाधक है। सांख्य का प्रारूप कूटस्थ नित्य होने के कारण कर्मों का कर्त्ता हो सकता, अतः कर्मों का कर्त्ता आत्मा है, ईश्वर नहीं, —इससे सांख्य-मत को शांत किया गया है। बौद्धों के यहाँ सभी पदार्थ क्षणिक हैं, अहो क्षणिकवादियो! स्वयं विचार करो— प्रथम क्षण में उत्पन्न वस्तु द्वितीय क्षण में नष्ट की गई, तो उनका भोक्ता कौन होगा?.....क्षणिक सिद्धान्त में न जन्य-जनक-भाव घटित होता है, न गुरु-शिष्यता; कारण कि— द्वितीय क्षण में सभी विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। वहाँ जब आत्मा क्षणिक, कर्म क्षणिक, फिर किसका भोक्ता कौन होगा?.....ज्ञानियो! ध्यान रखो— आत्मा द्रव्य-दृष्टि से त्रैकालिक ध्रुव व नित्य है, पर्याय-दृष्टि से क्षणिक है। उभय-दृष्टि का जहाँ अभाव है, उसके लिए स्याद्वाद् वाणी का ज्ञान करना चाहिए, जिससे मिथ्या-धारणा का अभाव हो जाए। आत्मा सनातन, अविनाशी, पर-भावों से अपरिणमनशील है, निज-स्वभाव से परिणमनशील है। निश्चय से न पर का कर्त्ता है और न पर आत्मा का कर्त्ता है, वह तो मात्र निज-स्वभाव का कर्त्ता है, और टंकोत्कीर्ण परम-ज्ञायक-स्वभावी है। व्यवहार से बन्ध की अपेक्षा से जीव के अनेक प्रकार के कार्य करने के भव आते हैं, वे ही भव नाना प्रकार के कर्म-बन्ध के कारण हैं, कर्म-बन्ध स्व-हेतुक है, पर-हेतुक नहीं है। निज-भव से ही कर्म-बन्ध होता है। पर-भव से कर्म-बन्ध नहीं होता। ज्ञानी! ध्यान दो— जब बन्ध स्व-हेतुक है, तब मोक्ष भी स्व-हेतुक ही है, वह भी पर-हेतुक नहीं है। अन्तरंग-बहिरंग उपाय जीव स्वयं करेगा, तभी मोक्ष-तत्त्व की सिद्धि होगी। अन्तरंग उपाय भाव-विशुद्धि एवं अन्तरंग छः तप तपना है। बहिरंग कारण अनशनादि बाह्य तपों को तपना है। दिगम्बर, निर्ग्रन्थ, वीतरागी मुनि-मुद्रा को बुद्धि-पूर्वक स्वीकार करना। ज्ञानियो! अन्तरंग कारण के लिए बहिरंग कारण का होना अनिवार्य है। बहिरंग तप दुष्कर-रूप से तपा जाता है, वह अन्तरंग-तप के लिए ही तपा जाता है,

जो बहिरंग को हेय मानता है, उस भोले जीव को अभी जिनागम से द्वेष है, मोक्ष-मार्ग के सत्यार्थ-परिचय से वह रिक्त है, तत्त्व-ज्ञानी जीव अन्तरंग-बहिरंग उभय-तप से स्वात्म-सिद्धि को स्वीकारता है, जैसे— बिना बर्तन तपे, बर्तन में रखा दुग्ध नहीं तपता, उसीप्रकार बिना बहिरंग-तप किये, अन्तरंग-तप नहीं होता, बिना तप किये अन्तरंग-बहिरंग शुद्धि नहीं होती, बिना उभय-शुद्धि के शुद्धात्म-तत्त्व की उपलब्धि नहीं है, ज्ञानियो! ध्यान रखना— तप से आस्रव, बन्ध नहीं होता, अपितु संवर और निर्जरा होती है। तप से बन्ध ही होता, तो यह तो बताओ कि निर्जरा किससे होती है?..... संवर किससे होता है? आगम-सूत्र कभी उत्सूत्र नहीं होते। आगम वचन है, —यह ध्रुव सत्य है।

तपसा निर्जरा च ॥

—तत्त्वार्थसूत्र, 9/3

अर्थात् तप से निर्जरा होती है और 'च' शब्द से संवर भी ग्रहण कर लेना चाहिए। सहज भाव से जिज्ञासा स्वयं प्रकट करना चाहिए, बन्ध प्रत्यय तो आगम में पाँच कहे हैं— मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग —इन प्रत्ययों में से एक भी प्रत्यय 'तप' नहीं है, इसलिए ध्यान रखना तप की पूर्णता से मोक्ष मिलता है। ये अवश्य है कि तप की असमग्रता से योग के स्पन्दन एवं शुभ-उपयोग के माध्यम से अशुभ की निर्जरा एक शुभ का बन्ध होता है, परन्तु सम्यक्त्व-सहित उक्त बन्ध भी परम्परा से मोक्ष का साधन है, अतः तप किसी भी स्थिति में हेय नहीं। बिना तप के किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र, किसी भी द्रव्य से, किसी भी भव से निर्वाण की प्राप्ति नहीं होगी। अन्तिम तप ध्यान है, जो-कि शुक्ल-ध्यान के रूप में सयोगकेवली एवं अयोगकेवली गुणस्थान तक होता है।

ज्ञानियो! अन्तरंग नेत्र खोलकर अंतःकरण को पवित्र कर आगम के परिवेश के अनुसार चिन्तवन की धारा बनानी चाहिए, अपने चिन्तवन के अनुसार आगम की चर्चा नहीं करना चाहिए। कर्मों से मुक्ति आपके चिन्तन से नहीं मिलगी, कर्मों से मुक्ति तो तपस्या के द्वारा ही मिलेगी। किसी के चिन्तवन से वस्तु-व्यवस्था भंग नहीं हो सकती है, उसका सम्यक्त्व अवश्य समाप्त हो सकता है, परन्तु वस्तु की स्वतंत्रता पर आँच आने-वाली नहीं है। कर्मों से मुक्ति स्वयं के अन्तरंग-बहिरंग हेतुओं से

मिलेगी, अन्तरंग हेतु में उपादान शक्ति व निश्चय तप एवं बहिरंग हेतु में जैनेश्वरी दीक्षा व व्यवहार तप तथा निमित्त-शक्ति पिच्छी-कमण्डलु एवं जिन-दीक्षा, इसी प्रकार से आगम की व्यवस्था जानना चाहिए, अन्य किसी प्रकार के विकल्प की आवश्यकता नहीं है।

उभय-निमित्त से कार्य की सिद्धि होती है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। इसप्रकार से मैं पर का कर्त्ता हूँ, पर मेरा कर्त्ता है, उक्त कथन से स्व-पर के पर-निज-कर्त्ता-पन के अज्ञान का विनाश करने वाला यह विषय द्रव्य के शुद्ध द्रव्यत्व गुण पर दृष्टि ले जाने वाला प्रत्येक द्रव्य स्व-द्रव्य-गुण-पर्याय में निज-स्वभाव से परिणमन कर रहा है, अन्य किसी को भी पर के परिणमन में अपने परिणाम ले जाने की आवश्यकता नहीं है। द्रव्य तो जैसा है, वैसा ही रहेगा, अन्य-रूप, अन्यथा-रूप नहीं है, प्रत्येक क्षण प्रत्येक द्रव्य जैसा है, वैसा ही है, जीव व्यर्थ में क्लेश करता है। न आत्मा को पर-कर्त्ता स्वीकारो, न पर को आत्मा का कर्त्ता स्वीकारो, वस्तु की स्वतंत्रता की पहचान करो। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र ही है, ईश्वर आदि से भी परतंत्र नहीं है, शुद्ध द्रव्य-दृष्टि से आत्मा कर्मों से भी स्वतंत्र है। १०॥

विशुद्ध-वचन

* शान्ति

जोड़ने में नहीं

छोड़ने में;

जो जितना

जोड़ता है

वह उतना

स्व से छूटता है....।

* असाता में

भीख भी मिलती नहीं

माँगने पर भी;

पर साता में

बरसते मोती

बिन माँगे....।

* पुण्य कमाने के लिए

किया गया दान

दान नहीं.....

है वह तो

व्यापार

पैसे के बदले गेहूँ

दान के बदले पुण्य....

पर वांछा के बिना

दान किया नहीं

कि....

पुण्य मिला नहीं.....।

श्लोक-11

उत्थानिका— आचार्य-श्री से अन्तेवासिन् पूर्वकारिका के श्लोक में जिज्ञासा करता है कि स्वामिन्! शुद्धात्मोपलब्धि के उपाय क्या हैं?.....

समाधान— आचार्य-भगवन् शिष्य-बोधनार्थ आभ्यन्तर-उपाय बतलाते हैं—

सद्दृष्टिज्ञानचारित्रमुपायः¹ स्वात्मलब्धये ।

तत्त्वे याथात्म्यसंस्थित्य²मात्मनो दर्शनं मतम् ॥

अन्वयार्थ— (स्वात्मलब्धये) अपना शुद्ध-आत्म-स्वरूप प्राप्त करने के लिए, (उपायः) अन्तरंग उपाय, (सद्दृष्टि-ज्ञान-चारित्रम्) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है, (तत्त्वे) आत्म-तत्त्व में, (याथात्म्यसंस्थित्यम्) यथार्थ श्रद्धान, (आत्मनः) आत्मा का, (दर्शनं) सम्यग्दर्शन, (मतम्) माना गया है ॥११॥

परिशीलन— लोक में अनेक पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं, जो-कि रागियों के नयनों में निवास कर रहे हैं अथवा यों कहें कि उनके नयन पदार्थों में वास कर रहे हैं, दोनों ही बातें सम्यक् हैं। अहो! राग की महिमा तो देखो— परम समरस से भारी निज-आत्मा उसे जीव नहीं देख पा रहा है, पर-पदार्थों में इतना निमग्न है कि वहाँ किञ्चित् भी अपना ध्रुव लक्ष्य ही नहीं ले जा पा रहा है। नेत्रों को अच्छा लगे, तो उनके संचय में सम्यक्-आस्था का व्यय कर रहा है, इस अल्पधी को यह ज्ञात ही नहीं है कि मेरा ध्रुव ज्ञातव्य क्या है? चर्म-चक्षु का विषय ध्रुव-दर्शन का विषय नहीं है, ध्रुव-दर्शन तो आत्म-दर्शन है। सम्यग्दर्शन-शून्य-व्यक्ति नेत्र-सहित-अन्ध-तुल्य ही हैं, नेत्र तो हैं, पर ज्योति नहीं है। ज्योति-विहीन नेत्र पदार्थों को नहीं जान पाते, उसीप्रकार श्रद्धा-विहीन वस्तु-तत्त्व को नहीं समझ पाता। मिथ्यादृष्टि जीव नेत्रों से युक्त होकर भी दीर्घ संसारी है, सम्यग्दृष्टि चर्म-चक्षुओं से रिक्त होने पर भी मोक्ष-मार्गी ही है।

1. अन्यत्र उपायः के स्थान पर मुपाया पाठ भी मिलता है पर वह व्याकरणिक दृष्टि से समुचित-सा नहीं लगता है। सम्भव है कि लिप्यंकन-कर्ता के प्रमाद से उपाय की जगह मुपाया अंकित हो गया हो।
2. इसी तरह संस्थिति के स्थान पर सौस्थिति पाठ भी अंकित मिलता है पर संस्थिति-मूलक ही पाठ व्याकरणिक दृष्टि से समुचित है।

मनीषियो! आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने बहुत ही सुन्दर बात कही है कि सम्यक्त्व के अभाव में सम्पूर्ण क्रियाएँ निर्गन्ध-पुष्पवत् समझनी चाहिए, बीज के अभाव में तरु-तुल्य हैं—

विद्याव्रत्तस्य संभूति-स्थितिवृद्धिफलोदयाः ।

न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ।।

—रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लो. 32

अर्थात् जिसतरह बीज के नहीं होने पर वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की सम्प्राप्ति नहीं बनती, उसीप्रकार सम्यक्त्व के न होने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और फल की सम्प्राप्ति नहीं बनती ।

ज्ञानियो! सम्यक्त्व अंक है, शेष गुण शून्य हैं, जैसे— अंक के अभाव में शून्य का क्या अर्थ है? उसीप्रकार सम्यक्त्व के अभाव में शेष गुणों की कोई कीमत नहीं है ।

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।

श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ।।

—रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लो. 34

अर्थात् तीन कालों में तीनों लोकों में जीवों का सम्यक्त्व के समान कोई दूसरा उपकारक नहीं है और मिथ्यात्व के समान कोई दूसरा अनुपकारक नहीं है ।

ज्ञानियो! इस भगवती आत्मा का जितना अहित मिथ्यात्व ने किया है, उतना क्रूर सिंह, अजगर, अग्नि आदि तीव्र कषायी जीवों ने भी नहीं किया है । कारण समझना— पूर्वोक्त निमित्त तो शरीर के घातक मात्र हैं, आत्म-धर्म के घातक नहीं हैं, परन्तु मिथ्यात्व तो आत्मा के मुख्य गुण, जिसके ऊपर सम्पूर्ण मोक्ष-मार्ग का प्रासाद खड़ा है, ऐसे सम्यक्त्व का घात कर रहा है । पंचपरावर्तनों में अनादि से जिसके कारण भ्रमण चल रहा है, निज-लोक से अनादि से जिसने अपरिचित रखा है, वह तीव्र बैरी मिथ्यात्व ही है, जो-कि अनन्तानुबन्धी कषाय को अपना सहचर व मित्र बनाये हुए है । उसके बिना एक कदम भी नहीं रखता, स्वयं राज्य करता है, कषाय से कार्य कराता है, किस पर कब अपनी कालुष्य-सेना भेज दे, कोई समय ज्ञात नहीं है । कारण क्या है?... इस मिथ्यात्व का जो सहचर मित्र है, वह भी तीव्र क्रूर परिणाम है, इसके पास ऐसी कठोर बन्धन-सामग्री है, जो-कि जीव को अनन्त संसार में बाँध कर रखती है । भव्यो! मिथ्यात्व के मित्र पर कभी विश्वास तो किया नहीं जा सकता, कारण एक-मुखी नाग से तो पीछे से बचकर जाया जा सकता है, पर जिसके दोनों ओर मुख

हों, ऐसे सर्प से अपनी कोई कैसे रक्षा करे?... अर्थात् बहुत ही दुष्कर कार्य है। मिथ्यात्व का मित्र अनन्तानुबन्धी कषाय, क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों अनन्त चतुष्टय के घाती प्रबल कूटनीतिज्ञ हैं, ये दो-मुखी कैसे?... तो समझो— एक ओर तो आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात करते हैं, दूसरी ओर चारित्रगुण का भी घात करते हैं और भगवान् आत्मा को दीर्घ-काल तक संसार में फँसाकर रखते हैं, करुणा नाम की वस्तु इसके पास लेशमात्र भी नहीं है, एक क्षण भी नहीं चाहता कि जगत् के जीव मेरे बन्धन से मुक्त हो सकें, परन्तु जैसे— भाड़ में सिकते हुए चनों में से कोई एक ही उचट कर निकलता है, उसीप्रकार नाना जीवों में से मिथ्यात्व के बन्धन से कोई-कोई जीव ही सम्यक्त्व की भूमि को प्राप्त होता है, जिन जीवों की संसार-संतति अल्प है, वे ही भव्य-जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते हैं, तो वे भव्य अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन-काल के अंदर मुक्ति-श्री को प्राप्त हो जाते हैं। यही कारण है कि जिनशासन में सम्यक्त्व को धर्म का मूल कहा गया है—

“दंसणमूलो धम्मो”

मूल के अभाव में वृक्ष नहीं होता, उसी प्रकार दर्शन के अभाव में अन्य कोई धर्म नहीं रहता, —ऐसा समझना चाहिए। जो जीव सम्यक्त्व-विहीन होता है, उसका जगत् में कल्याण संभव नहीं दिखता। चारित्र में हीनता होने पर भी यदि सम्यक्त्व निर्मल है, तो वह चारित्र के दोष के माध्यम से शुद्ध कर लिया जाता है, परन्तु सम्यक्त्व-हीन का कल्याण नहीं होता। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने स्पष्ट कहा है—

दसंणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।

सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति।।

—दंसणपाहुण, गा. 3

अर्थात् जो जीव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, वह भ्रष्ट ही है, सम्यक्त्व-विहीन निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। चारित्र-विहीन पुनः स्थित होकर सिद्धि को प्राप्त कर लेगा, परन्तु दर्शन से भ्रष्ट सिद्धि को प्राप्त नहीं होता, —ऐसा निश्चय से जानना चाहिए। ज्ञानियो! परिपूर्ण निशंक भाव से समझना— सम्यक्त्व-विहीन की सिद्धि किसी प्रकार भी संभव नहीं, तत्त्व-ज्ञान जहाँ जाग्रत होता है, वहाँ तत्त्व-श्रद्धान होना अनिवार्य है। यदि कदाचित् चारित्र में दूषण लग भी जाए, तो प्रतिक्रमण व प्रायश्चित्त आदि करने से शुद्ध हो जाएगा, पुनः स्व-चारित्र में स्थापित होकर परम-निर्वाण को प्राप्त हो जाता है, परन्तु तत्त्व के प्रति किञ्चित् भी शंका की गई, तो मनीषियो! आत्म-सिद्धि संभव

नहीं है, आत्म-सिद्धि का मार्ग निःशंकता है। सम्यग्दृष्टि जीव निःशंकादि सम्यक्त्व-गुणों से सहित एवं सप्तभय से रहित होता है, तत्त्व में यथार्थ-आस्था से युक्त होता है। कैसे श्रद्धान करता है, किस पर करता है? ...ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य महाराज कहते हैं—

जीवादयो नवाप्यर्था ये यथा जिनभाषिताः।

ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शनं स्मृतम्॥

—तत्त्वानुशासन, श्लो. 25

अर्थात् जीव आदि जो नौ पदार्थ जिनेन्द्र भगवान् ने जैसे-कहे हैं, वे वैसे ही हैं, इस प्रकार का जो श्रद्धान है, वह सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्ददेव ने समयसार ग्रन्थ में सम्यक्त्व को परिभाषित करते हुए कहा है—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।

आसव-संवर-णिज्जर-बंधो-मोक्खो य सम्मत्तं॥

—समयपाहुड, गा. 13

अर्थात् भूतार्थ से जाने हुए जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, —ये नौ तत्त्व सम्यक्त्व हैं। जो जीवादि नौ तत्त्व हैं, वे भूतार्थ-नय से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं, —यह नियम कहा है, क्योंकि जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष-लक्षण वाले व्यवहार-धर्म की प्रवृत्ति के अर्थ ये जीवादि नव तत्त्व अभूतार्थ (व्यवहार) नय से कहे हुए हैं, उनमें एकत्व प्रकट करने वाले भूतार्थ नय से एकत्व प्राप्त कर शुद्ध नय से स्थापन किये गए आत्मा की ख्याति लक्षण वाली अनुभूति की प्राप्ति होती है, क्योंकि शुद्ध नय से नव-तत्त्वों को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है, उनमें से विकारी होने योग्य और विकार करने वाला —ये दोनों पुण्य भी हैं और पाप भी हैं तथा आस्रव्य (आस्रवरूप होने योग्य) व आस्रावक (आस्रव करने वाले) ये दोनों आस्रव हैं, संवार्य (संवर रूप होने योग्य) व संवारक (संवर करने वाले) —ये दोनों संवर हैं। निर्जरने योग्य व निर्जरा करने वाले —ये दोनों निर्जरा हैं। बँधने योग्य व बन्धन करने वाले —ये दोनों बन्ध हैं और मोक्ष होने योग्य व मोक्ष करने वाले —ये दोनों मोक्ष हैं, क्योंकि एक के ही अपने-आप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं बनती तथा वे

जीव और अजीव दोनों मिलकर सब नौ तत्त्व पदार्थ हैं। इनको बाह्य दृष्टि से देखा जाय, तब जीव पुद्गल की अनादि-बन्ध पर्याय को प्राप्त करके उनका एकत्व से अनुभव करने पर तो ये नौ भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं तथा एक जीव-द्रव्य के ही स्वभाव को लेकर अनुभव किये गये अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। जीव के एकाकार स्वरूप में ये नहीं हैं, इसलिए इन तत्त्वों में भूतार्थ नय से जीव एक-रूप ही प्रकाशमान है। उसी तरह अन्तर्दृष्टि से देखा जाय, तब ज्ञायक-भाव जीव है और जीव के विकार का कारण अजीव है— पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष जिसका लक्षण है, ऐसा केवल जीव का विकार नहीं है, पुण्य आदि ये नव-तत्त्व हैं, वे जीव के स्वभाव को छोड़कर स्व-पर-निमित्तक एक द्रव्य पर्याय रूप से अनुभव किये गए, तो भूतार्थ हैं तथा वे सब-काल में चलायमान नहीं होते। एक जीव द्रव्य के स्वभाव को अनुभव करने पर ये अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं, इसलिए इन नौ तत्त्वों में भूतार्थ नय से देखा जाय, तब जीव तो एक-रूप ही प्रकाशमान है। ऐसे यह जीव-तत्त्व एकत्व-रूप से प्रकट प्रकाशमान हुआ शुद्ध-नय से अनुभव किया गया है।

यह अनुभव ही आत्म-ख्याति है, —आत्मा का ही प्रकाश है, जो आत्म-ख्याति है, वही सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार यह-सब कथन निर्दोष है, बाधा-रहित है। ज्ञानियो! तत्त्व-प्ररूपण की भाषाएँ अनेक हो सकती हैं, परन्तु तत्त्व के स्वरूप का विपर्यास नहीं होना चाहिए, आगम की रक्षा करते हुए चाहे जिस भाषा में तत्त्व की प्ररूपणा करो, भाषा-शैली के परिवर्तन से सिद्धान्त में परिवर्तन नहीं होता, परन्तु भावों के विपर्यास से जो कथन करता है, उससे सिद्धान्त में परिवर्तन हो जाता है, यानि विपरीत कथन हो जाता है, परन्तु फिर-भी ध्यान रखना— तत्त्व के तत्त्व-भाव में परिवर्तन तो नहीं होता, वह तो त्रैकालिक है..... फिर विपरीत कथन से भयभीत क्यों होते हो, —ऐसा प्रश्न मन में आना सहज है, उसका समाधान यहाँ पर यह समझना कि तत्त्व तो अपने तत्त्व-भाव में ध्रुव है ही, उसमें कोई प्रश्न नहीं है, भय इस बात का है कि विपरीत प्ररूपणाएँ ग्रन्थों में तथा विद्वानों में आ गई, तो उन अर्वाचीन प्ररूपणाओं को सुनने वाले तत्त्व पर विपरीत रूप से श्रद्धान कर लेंगे, जिससे उनके सम्यक्त्व गुण की हानि होगी। ध्रुव सत्य तो यह है कि भगवत्-देशना पर की आस्था के अभाव में अपनी सत्यता का अभाव तो नहीं कर पाएगी, पर-तत्त्व के प्रति विपरीत-आस्था जीव-भव-भ्रमण का कारण अवश्य बन जाती है। बिना विशिष्ट तपस्या किये आपको कर्म-निर्जरा, संवर एवं पुण्य-आस्रव का साधन मिल रहा है। ज्ञानी! ध्यान रखना— शुभ फल-रूप

फलित तब होता है, जब आपका वक्तव्य आगम को आगम-रूप से प्ररूपित करे। उसीप्रकार से जब अनागम का आप कथन करेंगे, आगम का अपलाप करेंगे, तब ज्ञानी! तीव्र अशुभ कर्म का आस्रव होगा। अनुवीचि-भाषण का प्रयोग करने वाला ही समाधि की साधना को प्राप्त करता है। जो आगम के विरुद्ध भाषण करते हैं, वे वर्तमान में भले ही पूर्व पुण्य के नियोग से यश को प्राप्त हो रहे हों, परन्तु अन्तिम समय कष्ट से व्यतीत होता है, साथ ही भविष्य की गति भी नियम से बिगड़ती है।

अहो प्रज्ञ! पुद्गल के टुकड़ों के पीछे आगम को तो नहीं तोड़ना, विश्वास रखो, यदि आप जैन हैं और जैन सिद्धान्तों पर आस्था है, तो आगम के विपर्यास करने से एवं यश-पूजा की आकांक्षा से ये-कुछ-भी प्राप्त नहीं होते, ये-जो तुझे बुद्धि, यश, पूजा प्राप्त हो रही है, धन भी मिल रहा है, विद्वानो! वह आपके पूर्व के लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हो रहा है, जिनवाणी के विरुद्ध आलाप का फल तो दुर्गति ही होगी। फिर-भी आपको जो स्वीकार हो, तो वैसा आप करें। मेरा तो इतना ही कहना है कि इस पर्याय को व्यर्थ में न जाने दें, फिर भविष्य में प्राप्त हुई न हुई। एकान्त-पक्ष चाहे श्रमण का हो, चाहे श्रावक का, दोनों से भिन्न प्रवृत्ति करो, जो स्याद्वाद्-वाणी कहती है, वैसा ही प्रतिपादित करें। सत्यार्थ-आगम-प्ररूपक की दुर्गति नहीं हो सकती तथा विपरीत-कथन करने वाले की दुर्गति ही होती है। अब निर्णय स्वयं कीजिए कि क्या करना है?... **मूलाचार** जी में गुरु के प्रतिकूल चलने वाले की असमाधि लिखी है, फिर जो जिनदेव के ही प्रतिकूल चलें, उसकी समाधि कैसी? समाधि के अभाव में सुगति कैसी? —इन प्रश्नों का समाधान स्वयं कीजिए?... मेरे तो प्रश्न हैं। देखो, आगम के स्पष्ट वचनों को समझो। लोभ और लोक दोनों से मोह हटाना पड़ेगा, तभी आप सत्यार्थ करने की सामर्थ्य ला पाएँगे, दोनों में से एक भी आपके हृदय में विराजमान रहा, तो आप सम्यग्ज्ञान की व्याख्या नहीं कर पाएँगे। निज को परिपूर्णरूपेण स्वतंत्र स्वीकार करके जो कथन करता है, यथार्थ मानें कि वह निर्भय होकर जिनेश्वर की वाणी बोलता है। आचार्य भगवन् **वट्टकेरस्वामी** जो कह रहे हैं, उसे भी देखो—

जे पुण गुरुपडिणीया बहुमोहा ससबला कुसीला य ।

असमाहिणा मरंते, ते होंति अणंत-संसार ।।

—मूलाचार, गा. 71

अर्थात् जो पुनः गुरु के प्रतिकूल हैं, मोह की बाहुलता से सहित हैं, सबल-अतिचार-सहित चारित्र पालते हैं, कुत्सित आचरण वाले हैं, वे असमाधि से मरण करते हैं और अनन्त-संसारी हो जाते हैं।

ज्ञानी ! संसारी कौन कहता है? —ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—

जिणवयणे अणुरत्ता, गुरुवयणं जे करंति भावेण ।

असबल असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा ।।

—मूलाचार, गा. 72

जो जिनेन्द्र-देव के वचनों में अनुरागी हैं, भाव से गुरु की आज्ञा का पालन करते हैं, सबल-परिणाम-रहित हैं तथा संक्लेश-रहित हैं, वे संसार का अन्त करने वाले होते हैं ।

ज्ञानियो! गाथा “जिणवयणे अणुरत्ता” शब्द पर ध्यान दीजिए। यहाँ आचार्य-देव जिन-वचन में अनुरक्त शब्द का प्रयोग कर समझा रहे हैं कि मनीषियो! ध्यान रखो—समाधि-सहित मरण चाहते हैं, जिन्हें संसार की संतति को समाप्त करने की इच्छा है, तो अरहन्त-वचनों के अनुरागी बनो, यानी जिनवाणी के अनुसार अपनी आस्था बनाओ एवं तदनुसार व्याख्यान करो, तदनुसार चिन्तन करो। जितना प्रशस्त अध्यवसाय-भाव होगा, उतना ही प्रशस्त-मार्ग स्वयं का ही होगा। ज्ञानी! सत्यार्थ-मार्ग तो तभी बनता है, जब रत्नत्रय की योग्यता स्वयं अंदर जाग्रत हो जावे एवं प्रकट भी हो जाए। मात्र ज्ञान-दर्शन मोक्ष-मार्ग नहीं है, जब सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र एक-साथ होंगे तभी भूतार्थ मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है। कारण वहाँ पर आगम-कथित सामायिक, छेदोस्थापना, सूक्ष्म-सांपराय, परिहार-विशुद्धि, यथाख्यात आदि इन संयमों में से एक भी नहीं है, जब-तक उक्त पाँच संयम नहीं आते, जीव की तब-तक सकल-संयमी संज्ञा नहीं होती है। ज्ञानी! सत्यार्थ मोक्ष-मार्गी सकल-संयमी ही होता है। संतुष्टि के लिए चतुर्थ-पंचम गुणस्थान की बात कर लें, परन्तु साधकतम कारण मोक्षमार्ग का छठवें गुणस्थान से बनता है। इसके पूर्व सभी कथन उपचार से हैं, असंयम, देश-संयम में सम्यक्त्व व एक-देश-चारित्र है, परन्तु महाव्रत नहीं है। जिनशासन में महाव्रती को ही भूतार्थ मोक्ष-मार्गी कहा है, इसमें शंका नहीं करना। चतुर्थ गुणस्थान-वर्ती मोक्षमार्गी नहीं है, सर्वथा ऐसा भी नहीं समझना, सम्यक्त्व जहाँ प्रकट हुआ है, वहाँ से तत्त्व-दृष्टि प्रारंभ हो चुकी है, मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान तो प्रकट हो ही चुका है, परन्तु वहाँ पर जैसा मोक्षमार्ग का साक्षात्-स्वरूप आगम में वर्णित है, वैसा नहीं है, इसलिए उपचार-कथन है। मुक्ति का साक्षात् कारण तो रत्नत्रय की एक-साथ होने वाली अवस्था ही है।

स्यात्सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यत्रितयात्मकः ।

मुक्तिहेतुर्जिनोपज्ञं निर्जरा-संवर-क्रियः ।।

—तत्त्वानुशासन, श्लो. 24

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र्य इन तीनों की एकता मोक्ष का कारण है। निर्जरा एवं संवर की क्रियाएँ भी जिनेन्द्र भगवान् द्वारा मोक्ष-हेतु कही गई हैं।

आचार्य उमास्वामी महाराज ने प्रथम सूत्र ही कहा है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः ।।

— तत्त्वार्थसूत्र 1/1

ज्ञानियो! ध्यान दो— सम्यग्दर्शन, ज्ञान ये दोनों तो युगपद् होते हैं, परन्तु चारित्र्य भजनीय है अर्थात् हो सकता है और नहीं भी, परन्तु भूतार्थ मोक्ष-मार्ग तो तीनों के होने पर ही आचार्यों ने स्वीकारा है, बिना रत्नत्रय के मोक्षमार्ग नहीं। देशव्रती श्रावक तो एक-देश मोक्षमार्गी है, क्योंकि उसके देश-संयम है, परन्तु अविरत सम्यग्दृष्टि उपचार से ही मोक्षमार्गी है, —ऐसा समझना चाहिए। यथा-शक्ति शब्द का प्रयोग आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने किया है, —इस दृष्टि से जितना बन सके, उतना संयमित चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को भी रहना चाहिए। सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान तो उनके पास होता ही है, चारित्र्य का अभाव है, व न वहाँ देश-चारित्र्य है, न सकल-चारित्र्य, इसलिए असंयम-मार्गणा में ही गणना होती है। परन्तु भगवान् कुन्दकुन्द ने षट् अनायतन, तीन मूढ़तादि पच्चीस-दोष-रहित सम्यग्दर्शन का जैन पालन करता है, आठ अंग-सहित अभक्ष्यादि का त्याग करता है, उसे सम्यक्त्वाचरण चारित्र्य कहा है। उक्त चारित्र्य को संयमाचरण में ग्रहण नहीं किया, फिर-भी चारित्र्य संज्ञा कुन्दकुन्द स्वामी ने दी है, इसलिए अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को अपनी शक्ति अनुसार स्व-गुणस्थान-संबंधी चारित्र्य का पालन करना चाहिए, परंतु फिर-भी ज्ञानी! ध्यान रखना— भूतार्थ मोक्षमार्ग तो तीनों की एकता ही है, —ऐसा नियम समझो एवं सम्यग्दर्शन-बोध-चारित्र्य-त्रयात्मको नित्यम्।

तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्तिः ।।

—तत्त्वार्थसार

इसप्रकार उस गृहस्थ के द्वारा भी अपनी शक्ति के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रूप त्रयात्मक मुक्ति का मार्ग ही सर्वदा सेवन-योग्य है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र्य ही स्वात्मोपलब्धि का साधन है, अन्य कोई उपाय नहीं है,

जिससे कि स्वात्म-सिद्धि हो सके। जो पूर्व में सिद्ध हुए हैं, वर्तमान में विदेह क्षेत्र से जो सिद्ध हो रहे हैं, भविष्य में भरत क्षेत्र से पुनः सिद्ध होंगे। त्रैकालिक सिद्ध-दशा की प्राप्ति रत्नत्रय से ही होती है। ज्ञानियो! जब-तक बोधि की प्राप्ति नहीं होगी, तब-तक समाधि नहीं होगी, समाधि से भूतार्थ सिद्धि है, —ऐसा समझना चाहिए। तत्त्व जैसा है, वैसा ही स्वीकारना, यानी उसके प्रति वैसा श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। यहाँ तत्त्व शब्द से वस्तु-स्वभाव ग्रहण करना, वस्तु-स्वभाव ही वस्तुत्व-भाव है। द्रव्य कहते हैं, तो पर्याय भी ध्वनित होता है, फिर गुण का कथन भी पृथक् रूप से करना पड़ता है, “तत्त्व” शब्द शुद्ध-स्वभाव की ओर इंगित करता है, जैसे— पुद्गल द्रव्य की स्वभाव-दशा पुद्गल परमाणु है, जीव द्रव्य की स्वभाव-दशा शुद्ध चैतन्य-अवस्था है, जो-कि त्रैकालिक ध्रुव दशा मनुष्यादि अशुद्ध पर्याय एवं ८६ शुद्ध पर्याय —ये दोनों भी त्रैकालिक नहीं, चैतन्य-मात्र सहज स्वरूप जो है, वह त्रैकालिक है, वह कभी न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है। द्रव्य ध्रौव्य-रूप ही है, वही तो तत्त्व है—

तस्य भावत्वं तत्त्वम् ।।

जो वस्तु का स्वभाव है, वह तत्त्व है, वह निज में ध्रुव व अपरिणामी है।

यहाँ पर कोई शंका कर सकता है कि स्वभाव अपरिणामी कैसे है ?

उसका समाधान समझना कि स्वभाव में भी षड्गुण हानि-वृद्धि रूप परिणमन चल रहा है। यदि उसका अभाव कर देंगे, तो द्रव्य कूटस्थ हो जाएगा, पर वह परिणमन स्वभाव-रूप में ही चल रहा है, पर-रूप नहीं चल रहा, इसलिए ध्रुव अपरिणामी है। देखो— ज्ञानी! द्रव्य किसी भी अवस्था में हो, चाहे तिर्यच, मनुष्य, देव या नारकी की पर्याय में, परन्तु तत्त्व का परिवर्तन नहीं होता, जो जीवत्व-भाव है, वह अपरिणामी रहता है, पर्याय परिणामी है। मुमुक्षु जीव इसलिए पर्याय को तो तद्रूप स्वीकारता ही है, परन्तु त्रैकालिक लक्ष्य तत्त्व पर रखता है। आचार्य उमास्वामी महाराज ने भी सात तत्त्वों के श्रद्धान को ही सम्यक्त्व कहा है। इसलिए तत्त्व को गहराई से समझो। ग्रन्थकर्त्ता आचार्य-प्रवर यथातथ्य भूतार्थ-तत्त्व के श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कह रहे हैं। यहाँ पर कुछ विचारणीय तत्त्व पर पुनः विचार करते हैं। भगवन् अकलंक स्वामी ने तत्त्व पर श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहा है, —ऐसा ही सूत्रकर्त्ता ने भी कहा है, तो आत्म-तत्त्व पर श्रद्धान ही सम्यक्त्व है। पर ज्ञानियो! ध्यान रखो— तत्त्व-श्रद्धान से प्रयोजन मात्र आत्म-तत्त्व ही से नहीं, सातों तत्त्वों पर आस्था करना सम्यक्त्व है, आत्म-श्रद्धान एकान्त-रूपता से नहीं है। जहाँ आत्म-श्रद्धान

को सम्यक्त्व कहा गया है, वहाँ शेष तत्त्वों के श्रद्धान के अभाव का कथन कहाँ किया गया है?..... प्रत्येक तत्त्व को अनेकान्त दृष्टि से समझने की आवश्यकता है। बिना अनेकान्त के वस्तु-स्वरूप का यथार्थ-बोध संभव नहीं है, इसलिए सत्यार्थ को जानने के लिए अनेकान्त की शरण में जाना चाहिए। जहाँ आत्मा पर श्रद्धा सम्यक्त्व है, वहीं सातों तत्त्वों पर श्रद्धा आ जाती है, अजीव को जाने बिना जीव का बोध होता नहीं। मुख्य तत्त्व दो ही हैं जीव और अजीव, शेष इन्हीं दो के संयोग-वियोग भाव हैं। जो पदार्थ जैसा है, उस पर वैसा ही विश्वास करना सम्यक्त्व है। जीव को मानें, तो अजीव को न मानें, वह मिथ्यात्व से युक्त ही है, आत्म तत्त्व से सातों तत्त्वों पर श्रद्धान स्वीकारना चाहिए। सात तत्त्वों पर सिद्धान्त ही सम्यक्त्व एकान्त रूप नहीं, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की तीन मूढ़ता, छः अनायतन, आठ मद, शंकादि आठ दोष-रहित, आठ अंग-सहित श्रद्धान करना व्यवहार-सम्यक्त्व है। उभय-सम्यक्त्व का आराधक भव्य मुमुक्षु जीव ही परम निर्वाण दशा को प्राप्त होता है, बिना सम्यक्त्व की आराधना किये त्रिलोक का कोई भी जीव मोक्ष-तत्त्व की सिद्धि नहीं कर सकता, —ऐसा जानना चाहिए तथा मानना भी चाहिए और तदनुसार आचरण भी करना चाहिए।।११।।

विशुद्ध-वचन

* नहीं भटकाती
श्री
और न
श्रीमती,
भटकाती तो केवल
अज्ञानी मति,
जो स्वयं को भूल
पीछे हो लेती
श्री के.....
और
श्रीमतियों के भी....।

* यदि होती सुख-शान्ति
विषय भोगों/कामनाओं में
तो....
क्यों लेते योगी
योग की शरण....?

* जो उतर गया
निज में
वो तर गया
भव से....।

श्लोक-12

उत्थानिका— शिष्य गुरु-चरणों में जिज्ञासा निवेदित करता है— भगवन्! सम्यग्ज्ञान का स्वरूप क्या है?... स्वामिन्! जानना चाहता हूँ.....

समाधान— आचार्य-देव सम्यग्दर्शन के उपरान्त सम्यग्ज्ञान के स्वरूप को कहते हैं—

यथावद्वस्तु-निर्णीतिः¹ सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत् ।

तत्स्वार्थव्यवसायात्मा कथञ्चित्प्रमितेः पृथक् ॥

अन्वयार्थ— (यथावद्वस्तुनिर्णीतिः) ज्यों का त्यों वस्तु का निर्णयात्मक ज्ञान, (सम्यग्ज्ञान) सम्यग्ज्ञान कहलाता है, (तत्) वह (सम्यग्ज्ञान), (प्रदीपवत्) दीपक के समान, (स्वार्थ-व्यवसायात्मा) अपने एवं ज्ञेयभूत पदार्थ के निश्चयात्मक-ज्ञान-रूप होता है, (प्रमितेः) प्रमिति से, (कथञ्चित् पृथक्) कथञ्चित् भिन्न भी होता है ॥१२॥

परिशीलन— आचार्य-प्रवर अकलंक स्वामी ने इस श्लोक में तर्क-शैली का अपूर्व प्रयोग किया है। तत्त्व-ज्ञान का तल-स्पर्शी ज्ञान तभी संभव है, जब न्याय, नय व सिद्धान्त का ज्ञान हो। बिना तर्क-ज्ञान अध्यात्म के हृदय का स्पर्श नहीं होता, यही कारण है कि आचार्य-देव न्याय के साथ सम्यग्ज्ञान को परिभाषित कर रहे हैं।

ज्ञानियो! तत्त्व-ज्ञान की भूतार्थता के लिए, सत्यार्थ को समझने के लिए एवं कहने के लिए शक्ति चाहिए। सप्त-भय-मुक्त व्यक्ति ही सत्यार्थ का प्रतिपादक हो सकता है, जिसके अन्तःकरण में भय-संज्ञा स्थित है, वह सत्य-प्ररूपण नहीं कर सकता, भय के साथ लोभ-कषाय से दूषित-चित्त वाला व्यक्ति सत्-आगम को नहीं कह पाता, कहीं न कहीं विरुद्ध-प्ररूपणा कर ही देता है। जिसका चित्त राग-द्वेष से अनुरक्त है, वह भी आगम को आगम की भाषा में कहने की सामर्थ्य नहीं रखता है। क्रोध, लोभ, हास्य, भीरुत्व-भाव को जो स्वात्मा के नजदीक नहीं आने देता, वही सत्यार्थ-कथन कर पाएगा। पूर्वोक्त दोषों से दूषित व्यक्ति के अन्दर वह शक्ति नहीं

1. अन्यत्र क्वचित् 'निर्णीतिः' की जगह 'निर्नीतिः' पाठ भी उल्लिखित है, पर वह व्याकरण-सम्मत पाठ नहीं है, 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' सूत्र के नियम के अनुसार नकार का समान पद में णकार ही होता है, यदि र और ष वर्णों में से कोई भी उसी पद में हो तो। अतः व्याकरणिक दृष्टि से 'निर्णीतिः' पाठ ही समुचित है।

रहती, जो-कि सत्यता को ख्यापित कर दे। विश्वास रखना एवं अनुभव करना— यदि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में किञ्चित् भी सदोषता स्वयं में है, तो वह अपने-आप में ही हीन-भावना से ग्रसित रहता है। आगम के हृदय को वही खोल पाता है, जिसका हृदय विवेक-पूर्ण होता है। गणधर की पीठ (आसन) पर उसे ही बैठना चाहिए, जो तत्त्व-बोध से युक्त हो; यदि समीचीन नहीं है, तो क्या प्ररूपणा की जाएगी? स्वयं प्रश्न करना चाहिए, एक अक्षर भी आगम-विरुद्ध कथन में आ गया, तो ज्ञानी! तत्क्षण सम्यक्त्व की हानि समझनी चाहिए। अल्प-ज्ञानी कहलाना श्रेष्ठ है, बहुत ज्ञानी कहलाने के लोभ में मन, वाणी का प्रयोग स्वप्न में भी नहीं करना, अन्यथा आगम से बाधित हो जाओगे। वे परम उपशम-भावी जीव होते हैं, जो यथा-तत्त्व की विवेचना करते हैं, साथ में उनकी पुण्य-प्रकृति भी कार्य करती है। अशुभोदय में शुभोदय नहीं होता, एक समय में एक ही कर्म प्रबलता से प्रधान होता है। अन्तरंग में अशुभ-कषाय के साथ आगम का विपर्यास होता है। देखो! व्यक्ति जब जानकर पूर्वाचार्यों के विरुद्ध कथन करता है, तब उसे ज्ञात रहना चाहिए कि— जो विद्वान् आगमानुसार कथन करते हैं, वे जिन-मुद्रा धारण कर पंडित-मरण को प्राप्त होते हैं, जो अध्ययन काल में संक्लेश-भाव को प्राप्त होते हैं, उन्हें तीन काल में पंडित-मरण प्राप्त नहीं होता, उनकी समाधि बिगड़ जाती है। चारित्र-श्रुत को तो संयम की आराधना के लिए धारण किया जाता है, जो जब आगम-ज्ञान-प्राप्त करके द्रव्य-श्रुत के साथ-साथ भाव-श्रुत की प्राप्ति का पुरुषार्थ करता है, वह शीघ्र ही कर्मातीत अवस्था को प्राप्त होता है। अन्तिम समय यदि परिणामों की विशुद्धि बनी रही है, तो समझना कि वह भाग्यवान् पुरुष निर्दोष श्रुताराधक रहा है। जिनशासन में वही ज्ञान कल्याणकारी है, जिससे आत्मा परम-बोधि को प्राप्त करे, कहा भी है—

जेण तच्चं विबुज्जेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि ।

जेण अत्ता विसुज्जेज्ज, तं णाणं जिण-सासणे ।।

—मूलाचार, गा. 267

अर्थात् जिससे तत्त्व का बोध होता है, जिससे मन का निरोध होता है, जिससे आत्मा विशुद्ध होती है, जिन-शासन में उसका नाम ज्ञान है।

ज्ञानियो! उक्त गाथा के अनुसार चिन्तवन करना भी अनिवार्य है, शास्त्र-अध्ययन के साथ स्व-पर-तत्त्व का निर्णय होना चाहिए। आत्म-तत्त्व का बोध नहीं हुआ, तो ज्ञानी! ध्यान दो— आत्म-बोध-विहीन ग्यारह अंग व नौ पूर्व का पाठी अभव्य जीव

कभी भी भव्य नहीं हो जाता, न कभी उसका कल्याण ही होगा। विषयों में भ्रमण करते हुए मन के वशीकरण का साधन ज्ञान-वैराग्य ही है, जो आराधक निर्मल-भाव से युक्त होकर श्रुत का पान करता है, उसको अध्ययन करते-करते ही शान्त-चित्त का अनुभव होता है, यही एकान्त का श्रुतावलम्ब निर्मल, निर्विकल्प समाधि का साधन है, यही आत्म-शुद्धि का उपाय है। जैसा-कि आचार्यश्री वड्डकेर स्वामी जी कह रहे हैं—

जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि।।

जेण मित्तीपभावेज्ज, तं णाणं जिण—सासणे।।

—मूलाचार, गा. 268

अर्थात् जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है, जिन-शासन में वह ज्ञान कहा गया है।

ज्ञानियो! गाथा में राग-द्वेष से विरक्त होने का नाम ज्ञान कहा गया है, जो जीव शास्त्र-ज्ञानी होकर एवं चारित्त धारण करके भी विशालता से शून्य है, उसका बाह्य ज्ञान है, भीतर का तत्त्व-बोध नहीं है, जब तत्त्व-बोध से प्राणी आर्द्र-चित्त होता है, तब सम्पूर्ण पापों से विरक्त-भाव रखता है, सर्व-पदार्थों की स्वतंत्र सत्ता का भान हो जाता है, प्रत्येक पदार्थ के रहस्यों को उसकी प्रज्ञा जान लेती है, तत्त्व-ज्ञानी पुरुष को कोई आश्चर्य नहीं रह जाता, सम्यग्ज्ञान होते ही एक खुलापन आ जाता है, सम्पूर्ण संकीर्णता स्वयमेव समाप्त हो जाती है। (यथावद्वस्तुनिर्णीतिः) जैसी वस्तु है, उसे वैसी की वैसी, ज्यों की त्यों जानता है, वह सम्यग्ज्ञान है, जो-कि संशय, विपर्यय और विमोह से रहित आत्मा का निज-स्वरूप है। त्रय-दोष-रहित ज्ञान ही सम्यक्पने को प्राप्त होता है, समारोप-रहित होता है, सम्यग्ज्ञानी पुरुष न्यूनता, अधिकता से रहित ही कथन करता है व जो तत्त्व के विपर्यास से रहित निःसंदेह-रूप कथन करता है, उसी का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। उसे आठ गुणों से सम्पन्न होना चाहिए, एक अंग भी हीन है, तो वह ज्ञान सम्यक्त्वपने को प्राप्त नहीं होता। आचार्य-प्रवर अमृतचन्द्र स्वामी ने आठ अंगों का वर्णन किया है तथा मूलाचार जी में वड्डकेर स्वामी ने भी कहा है—

ग्रन्थार्थोभयपूर्ण काले विनयेन सोपधानं च।

बहुमानेन समन्वितमनिहनवं ज्ञानमाराध्यम्।।

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो. 36

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे ।
वंजण अत्थ तदुभए णाणाचारो दु अट्ठविहो ।।

—मूलाचार, गा. 269

शब्दाचार— शब्द-शास्त्र (व्याकरण) के अनुसार अक्षर, पद, वाक्य का यत्न-पूर्वक शुद्ध पठन-पाठन करने को कहते हैं।

व्यञ्जनाचार— श्रुताचार, ग्रन्थाचार, अक्षराचार आदि सब एकार्थ-वाची हैं।

अर्थाचार— यथार्थ शुद्ध-अर्थ के अवधारण करने को कहते हैं।

उभयाचार— अर्थ और शब्द दोनों से शुद्ध पठन-पाठन करने को कहते हैं।

कालाचार— गोसर्गिक काल (जिसमें गाएँ चरने के लिए निकलती है, ऐसा पूर्वाह्नकाल), के दोनों भाग अर्थात् और दिन का उत्तरार्ध का अंतिम अंश अर्थात् संध्या-काल प्रदोष-काल रात्रि का पूर्वार्द्ध और वैरात्रिक-काल इसप्रकार द्विविध प्रदोष-काल, रात्रि के अंतिम प्रहर की दो घड़ियाँ इन चार उत्तम कालों में पठन-पाठनादि, स्वाध्याय करने को कालाचार कहते हैं।

चारों संध्याओं की अन्तिम दो-दो घड़ियों में, दिग्दाह (लाल बादल) उत्का-पात, वज्र-पात, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्प, संन्यास-मरण, राजादि प्रधान-पुरुषों के मृत्यु के काल में सिद्धान्त-ग्रंथों का पठन-पाठन वर्जित है। हाँ, स्तोत्र, आराधना, धर्म-कथादिक ग्रन्थ पढ़े जा सकते हैं।

विनयाचार— कायिक, वाचिक, मानसिक, शुद्ध परिणामों से सहित शास्त्र का पढ़ना, परिवर्तन करना और व्याख्यान करना, शुद्ध जल से हाथ-पैर धोकर शुद्ध स्थान पर पर्यङ्कासन से बैठकर नमस्कार-पूर्वक शास्त्र-अध्ययन करना विनयाचार है।

उपधानाचार— उपधान में अर्थात् उपधान-अपग्रह-नियम विशेष करके पठन आदि करना उपधानाचार है।

बहुमानाचार— पूजा-सत्कार आदि के द्वारा पठन आदि करना, ज्ञान के उपकरण एवं गुरु का सम्मान करना बहुमानाचार है।

अनिह्नवाचार— जिससे शास्त्र पढ़ा है, उसी गुरु का नाम लेना, कभी निज गुरु का नाम नहीं छिपाना, भले ही स्वयं कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हो जाओ, पर गुरु तो गुरु ही होता है, परंतु एक अक्षर व एक पद प्रदान करने वाला गुरु महान् होता है, उसके उपकार को जो भूल जाता है, वह आगे नहीं बढ़ पाता; आगम का नाम नहीं

छिपाना तथा अपना चिन्तन कहकर व्यर्थ की प्रशंसा की भूख में मत पड़ जाना —ऐसा करना महा-पाप है व ऐसा करने वाला महा-पापी होता है। जिसने बोध एवं बोधि-धर्म-देशना दी हो, उसे भूल जाए, उससे बड़ा पापी संसार में अन्य कौन हो सकता है?... प्रज्ञ पुरुष कभी भी उपकारी के उपकार को नहीं भूलता, साथ ही जिस शास्त्र को पढ़कर ज्ञान प्राप्त किया है, उस शास्त्र का नाम अवश्य लेना चाहिए, —ये आठ अंग निर्दोष ज्ञान के द्योतक हैं।

सम्यग्ज्ञानी जीव प्रत्येक अंग का पालन बुद्धि-पूर्वक करता है, एक भी अंग के प्रति प्रमाद-भाव को प्राप्त नहीं होता है। सम्यग्ज्ञान प्रदीपवत् है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान इत्यादि ये पाँच ज्ञान हैं। आचार्य उमास्वामी महाराज कह रहे हैं कि 'तत्प्रमाणे' अर्थात् वह प्रमाण है, अन्य कोई इन्द्रिय-सन्निकर्षादि प्रमाण नहीं हैं, ये सभी प्रमाणाभास हैं। "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्" सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। विपरीत मिथ्या-ज्ञान भी प्रमाण नहीं है। मिथ्यात्व के साथ सद्-असद् से विवेक-विहीन हुआ पुरुष उन्मत्त-वत् चेष्टा करता है, जैसे— मद्यपायी पुरुष की दशा होती है, उसीप्रकार मिथ्यात्व-सेवी की दशा होती है, मिथ्या-दृष्टि का ज्ञान प्रमाणित नहीं है, सम्यग्दृष्टि का सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, सम्यक् तत्त्व-ज्ञान ही प्रमाण है।

ज्ञानियो! ज्ञानाभासों में उलझकर स्वात्मा की वंचना नहीं कर लेना, सम्यक् शब्द-ज्ञान के साथ अभिन्न है, जो सम्यक् को भिन्न कर ज्ञान को स्वीकारते हैं, मात्र ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, वे अज्ञानी हैं, प्रमाणभूत ज्ञान में सम्यक् शब्द अविनाभावी है, जहाँ-जहाँ प्रमाणित ज्ञान होगा, वहाँ-वहाँ सम्यग्ज्ञान ही होगा, सम्यग्विहीन ज्ञान में प्रामाणिकता की अन्यथानुत्पत्ति है। रथ्यापुरुष के आलाप-तुल्य समझना, यानी व्यर्थ का आलाप-मात्र है।

अहो! गाय के संग से दुग्ध-धारा नहीं निकलती, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में प्रामाणिकपना नहीं होता। प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, प्रमिति चारों भिन्न हैं या अभिन्न, इस पर विचार करना चाहिए, न सर्वथा भिन्न हैं, न सर्वथा अभिन्न ही है, ये भिन्नाभिन्न हैं; अर्थात् कथञ्चित् भिन्न हैं, कथञ्चित् अभिन्न हैं, एकान्त से भिन्न कहना मिथ्या भी है; फिर तत्त्व-पना कैसा है?.....भिन्नाभिन्न ही है, संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा से प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति में भिन्नत्व-भाव है, परंतु आधार-आधेय की अपेक्षा से अभिन्नत्व-भाव है। कारण-कार्य कर्त्ता की अपेक्षा से भी कथन किया जा सकता है, लोक में कर्त्ता-कारण भाव में विपर्यास देखा जा रहा है।

तत्त्व के तल तक पहुँचना तन का कार्य नहीं है, ज्ञानी! तत्त्व के तल का स्पर्श प्रज्ञा से होता है, प्रज्ञा को तीक्ष्ण, पैनी होना अनिवार्य है। बिना प्रज्ञा की अतिशयता के तत्त्व-निर्णय नहीं हो सकता है, तत्त्व-निर्णय हुए बिना सम्यक्त्व प्रकट नहीं होता, सम्यक्त्व के अभाव में सम्यग्ज्ञान नहीं होता, —ऐसा जानना चाहिए।

प्रमाण-सम्यग्ज्ञान, प्रमाता-आत्मा, प्रमिति-जानन-क्रिया, ज्ञान का फल, अज्ञान का नाश। संज्ञा के कारण तीनों में भिन्नत्व-भाव दिख रहा है। ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञप्ति चारों ज्ञाता पुरुष (आत्मा), ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थ-ज्ञान-गुण, ज्ञप्ति, जानना। अभेद-रूप से देखें, तो जो ज्ञाता है, उसी का गुण ज्ञान है, ज्ञान-गुण कार्य एवं ज्ञप्ति क्रिया है, जिसके माध्यम से अज्ञान का नाश होता है। गुण-गुणी में अभेद कारक लगाने पर एक ज्ञाता ही सम्पूर्ण गुण-मण्डित एक ध्रुव ज्ञायक-भावी है।

आत्मा ने आत्मा से जाना, यह अनुपचार अभेद-वृत्ति है, जैसे- अभेद वृत्ति से तन्मय होकर चिन्मयभूत आत्मा को आत्मा जानता है, वैसे ही भेद-वृत्ति यानी भिन्न-पदार्थों को आत्मा तन्मय होकर नहीं जानता। अभेद-वृत्ति प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति एकीभूत हैं, अन्य नहीं, अनन्य-भूत ही हैं। जब प्रमाण निज को प्रमेय बनाता है, तब स्व-मुखी ज्ञान की वृत्ति होती है, जब प्रमाण अन्य को प्रमेय बनाता है, तब पर-मुखी ज्ञान की वृत्ति होती है। फिर ध्यान रखना— ज्ञान ज्ञेय रूप नहीं हो जाता, क्योंकि ज्ञेय तो जड़ भी होते हैं, जड़ प्रमेयों को जानने से प्रमाता कभी जड़ता को प्राप्त नहीं हो जाता, यदि सर्वथा प्रमाता प्रमेय हो जाए, तो संकर-दोष से दूषित होकर प्रमाता भी अचेतन हो जाएगा, कारण कि लोक में प्रमेय-चेतना चेतन-रूप है। कथञ्चित् प्रमाण (ज्ञान), प्रमेय (ज्ञेय) रूप परिणत हो जाता है, जैसे— दर्पण के सामने जैसा पुरुष का चेहरा होता है, वैसे ही दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है। यह दर्पण की विशदता का प्रति-फल है; उसीप्रकार जिसका जितना विशद ज्ञान होता है, उसके ज्ञान में उतने ही प्रमेय प्रमिति (क्रिया) को प्राप्त होते हैं, दर्पण में जो प्रतिबिम्ब झलकता है, वह पर के निमित्त से है, परंतु पर-निमित्त प्रतिबिम्ब-रूप नहीं होता, प्रतिबिम्ब तो स्व-दर्पण की ही योग्यता से स्वयं के परमाणुओं का परिणमन है, उसी प्रकार ज्ञान कभी भी पर-ज्ञेय रूप नहीं परिणमता। अपितु ज्ञान ही निज गुण से परिणमन करता है, ज्ञान की विशदता (निर्मलता) से, स्व-गुण से परिणमन करता है। फिर भी ध्यान दें, बिना पर-ज्ञेय के ज्ञान पर को जानता कैसे ? भिन्न ज्ञेयों के निमित्त से ज्ञान-गुण तद्रूप परिणमन होता है। इस अपेक्षा से जैसा ज्ञेय होता है,

वैसा ज्ञान परिणमन करता है, फिर-भी वह ज्ञान-ज्ञान ही है, ज्ञेय-ज्ञेय ही है, ज्ञान-गुण नित्य अभिन्न आत्मा का गुण है, ज्ञेय भिन्न-अभिन्न है, जब आत्मा स्वयं को ज्ञेय बनाती है, तब अभिन्न ज्ञेय होता है, जब आत्मा पर-पदार्थों को ज्ञेय बनाती है, तब भिन्न ज्ञान-ज्ञेय-भाव प्रकट होता है। सत्यार्थ तो यह है कि ज्ञेय ज्ञानाकार नहीं होता, ज्ञान भी ज्ञेयाकार नहीं होता, व्यवहार से कथन किया जाता है, परमार्थ से तो ज्ञान ज्ञान-रूप रहता है, ज्ञेय-ज्ञेय-रूप रहता है। ज्ञेय को ज्ञान जानता है, न कि पर-रूप होता है, यदि ज्ञान अन्य-रूप हो जाएगा, तब तो स्व-धर्म को खो देगा। ज्ञेय को जानकर ज्ञान ही ज्ञान को जानता है, ज्ञेयों में ज्ञान नहीं, ज्ञान में ज्ञेय नहीं, ज्ञेय तो ज्ञेय ही है, ज्ञान ज्ञान ही है। ज्ञान से ज्ञेयों को जाना जाता है, परंतु ज्ञेयों से ज्ञान नहीं होता। थोड़ा शान्त भाव से चिन्तन करें, लोक में अज्ञ-प्राणी ज्ञेयों के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति स्वीकारते हैं, पर यह भ्रम-मात्र है, सत्यार्थ वस्तु-स्वरूप नहीं है। यदि ज्ञेयों से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है, तो-फिर पृथ्वी पर अनन्त ज्ञेय हैं, जो-कि सभी लोगों के सामने हैं, तो-फिर सभी का ज्ञान सदृश होना चाहिए, फिर लोक में ज्ञान के क्षयोपशम में हीनाधिकता क्यों दिखती है, एक ही कक्षा में एक पुस्तक की एक ही अध्यापक द्वारा विषय की प्ररूपणा करने पर सभी छात्रों को समान ज्ञान क्यों नहीं होता? यह भेद ही संकेत कर रहा है कि ज्ञेयों के समान होने पर भी ज्ञान में समानता नहीं होती, यानी ज्ञेयों से ज्ञान नहीं होता, ज्ञेय तो ज्ञान के विषय बनते हैं, ज्ञान तो आत्मा का धर्म है, वह धर्मी से भिन्न होता नहीं है, अन्य द्वारा अन्य वस्तु का धर्म उत्पन्न नहीं होता। अतः ज्ञान ज्ञेयों से नहीं होता, ज्ञान स्वात्मा का गुण है, गुण कभी भी गुणी से पृथक् नहीं होता, और-सूक्ष्म चिन्तवन कीजिए, ज्ञान ही ज्ञान को जानता है, कारण समझना— ज्ञेय सामने नहीं होने पर भी ज्ञान जानता है, ज्ञान की जानन-क्रिया का कभी भी अभाव नहीं होता, जैसे-कि दीपक प्रकाशित हो रहा है, उसके सामने जो भी द्रव्य होंगे, उन्हें भी वह प्रकाशमान करेगा। अन्य द्रव्य के वहाँ पर न होने पर क्या दीपक के प्रकाशपने का अभाव हो जाएगा? दीपक में जितनी प्रकाशित होने की शक्ति होगी, वह उतना प्रकाश करेगा ही, अन्य द्रव्य सामने हैं, तो उन्हें भी दिखा देगा; लेकिन स्वात्म का परिवर्तन नहीं करेगा, दीपक अँधेरे में प्रकाशमान होता है, साथ में अन्य द्रव्यों का भी प्रकाशन कर रहा है। उसीप्रकार ज्ञान स्व-पर प्रकाशी है, ज्ञेय हो, तो ज्ञान होता है, ज्ञान का अभाव नहीं होता। ज्ञेयों की तो सीमा है, पर ज्ञान असीम है।

ज्ञानियो! पुनः ध्यान दो— पूर्व का पुरुषार्थ, वर्तमान का क्षयोपशम ये आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं, अन्य की नहीं समझना, स्वावरणीय कर्म का क्षयोपशम जैसा होता है, वैसा ही ज्ञान-गुण हानि-वृद्धि को प्राप्त होता है, ज्ञेय बहिरंग साधन तो हो सकते हैं, परंतु अन्तरंग साधन तो स्व-जीव की उपादान की योग्यता ही है, अतः यहाँ पर स्पष्ट समझना— भिन्न ज्ञेयों से यानी पदार्थों से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, निज-ज्ञाता, निज-ज्ञेय ही ज्ञान का जनक है, पर-ज्ञेयों के जानने पर निज-ज्ञान ही वृद्धि को प्राप्त होता है, यानी द्रव्य-श्रुत आलम्बन है, भाव-श्रुत ही ज्ञान है। देखो, शास्त्रों में भी ज्ञान नहीं है, वह द्रव्य-श्रुत है, शास्त्रों में ज्ञान होता, तो-फिर जिन अलमारियों में शास्त्र विराजे हैं, वे भी ज्ञानी हो जाएँगी, ज्ञान तो जीव द्रव्य का ही धर्म है, न कि पुद्गल का। पुद्गल के धर्म तो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण हैं, इन गुणों का जीव में अत्यन्ताभाव है। सम्यग्ज्ञान को आचार्य-देव ने प्रदीपवत् कहा है जैसे— दीपक स्व को उद्योतित करता है, वैसे ही पर को भी उद्योतित करता है; ऐसा नहीं कि वह स्व-स्व को ही प्रकाशित करे, जो पर को प्रकाशित करता है, वह स्व को भी प्रकाशित करता है। वैशेषिक मत ज्ञान को मात्र पर-प्रकाशी मानता है, पर उनका यह कथन सत्यार्थ नहीं है, ज्ञान स्व-पर प्रकाशी ही होता है, जो ज्ञान अन्य को जानता है, वही ज्ञान स्वयं को भी जानता है। **परीक्षामुख** में उल्लेख आता है—

“प्रदीपवत्” ।

—परीक्षामुखसूत्र-2

अर्थात् दीपक की तरह। जिसप्रकार दीपक स्व-पर-प्रकाशक होता है, दीपक में स्व-प्रकाशता के बिना अर्थ-प्रकाशकता नहीं बन सकती है। दीपक स्व-प्रकाशक होकर ही अर्थ-प्रकाशक होता है। इसीप्रकार प्रमाण में भी स्व-प्रत्यक्षता के बिना उसके द्वारा प्रतिभासित अर्थ में प्रत्यक्षता नहीं बन सकती है, तात्पर्य यह है कि प्रमाण और दीपक दोनों स्व-पर प्रकाशक हैं। इसप्रकार प्रत्यक्षादि सब प्रमाणों में रहने वाला तथा सन्निकर्षादि समस्त अप्रमाणों से व्यावृत्त ज्ञान प्रकाश है; यथा—

स्वापूर्वार्थ-व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।

—परीक्षामुखसूत्र-1

अर्थात् अपने और अपूर्व अर्थ के निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। यहाँ प्रमाण लक्ष्य है और “स्वापूर्वार्थ-व्यवसायात्मकं ज्ञानं” उसका लक्षण है। प्रमाण के लक्षण में पाँच विशेषण दिये गये हैं— स्व, अपूर्व, अर्थ, व्यवसायात्मक और ज्ञान। प्रत्येक

विशेषण का एक निश्चित प्रयोजन होता है, अब यहाँ प्रत्येक विशेषण की सार्थकता के प्रयोजन को बतलाते हैं। प्रमाण के लक्षण में ज्ञान-विशेषण के द्वारा उन लोगों के मत का निराकरण किया है, जो अज्ञान-रूप सन्निकर्ष आदि को प्रमाण मानते हैं। व्यवसायात्मक विशेषण के द्वारा बौद्धों का निराकरण किया गया है, जो प्रत्यक्ष प्रमाण को अव्यवसायात्मक मानते हैं। 'अर्थ' विशेषण के द्वारा बाह्य पदार्थों का अपलाप (अभाव) करने वाले विज्ञानाद्वैतवादी, ब्रह्माद्वैतवादी और शून्याद्वैतवादियों का निराकरण किया गया है। अर्थ पद को अपूर्व के साथ मिला देने पर अपूर्वार्थ पद बनता है। इस अपूर्वार्थ विशेषण के द्वारा धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानने वालों का निराकरण किया गया है और 'स्व' विशेषण के द्वारा परोक्ष-ज्ञान-वादी मीमांसकों, ज्ञानान्तर-प्रत्यक्ष-ज्ञान-वादी यौगों और अस्वसंवेदनवादी सांख्यों के मतों का निराकरण किया गया है। अतः यहाँ पर यह समझना चाहिए कि जो प्रमाणभूत ज्ञान है, वह स्व एवं अर्थ दोनों को जानने वाला है, जो परार्थ को ग्रहण करता है, वह स्वार्थग्राही भी होता है, प्रत्येक जीव स्व-संवेदन ज्ञान से युक्त है; अन्तर इतना है कि व्यावहारिक जीवन में जैसा घर का स्व-संवेदन सामान्य जन कर रहे हैं, वैसा स्व-शुद्धात्मा का प्रत्यक्षीभूत स्व-संवेदन सामान्य जन नहीं करते। निज शुद्धात्मा का जो संवेदन है, वह तो भेदाभेद रत्नत्रय-धर्म की आराधना करने वाले परम वीतरागी निर्ग्रन्थ दिगम्बर तपोधन ही करते हैं, प्रमाण का फल प्रमिति प्रमाण से कथञ्चित् भिन्न है, कथञ्चित् अभिन्न है। अज्ञान की निवृत्ति, सदज्ञान की प्राप्ति, प्रमाण का प्रत्यक्ष अभिन्न फल है तथा परम्परा-फल हान, उपादान उपेक्षा यानी त्याग, ग्रहण, माध्यस्थ्य भाव ये भिन्न प्रमिति स्वीकार की गई है अथवा अज्ञान की निवृत्ति साक्षात् अभिन्न फल है, परम्परा से मोक्ष-सुख अभिन्न फल है। यश की प्राप्ति, शिष्यों की उपलब्धि आदि भिन्न ज्ञान का फल है।

महान् तार्किक आचार्य-प्रवर माणिक्यनन्दी स्वामी ने उक्त विषय का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है, यथा—

अज्ञाननिवृत्तिहानोपादानोपेक्षाश्च फलम्॥

—परीक्षामुखसूत्र, 1/5

अज्ञान निवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा, ये प्रमाण के फल हैं। जिस पदार्थ के विषय में प्रमाण प्रवृत्त होता है, उस विषयक अज्ञान की निवृत्ति प्रमाण के द्वारा हो जाती है, जैसे— किसी व्यक्ति ने प्रमाण के द्वारा घट को जाना, तो इसके पहले

घट-विषयक जो अज्ञान था, वह दूर हो गया, तब वैसी स्थिति में घट-विषयक जो यथार्थ-ज्ञान था, वह अपने-आप प्रस्फुटित हो जाता है अर्थात् दिखने लगता है। यही अज्ञान की निवृत्ति है और यह अज्ञान-निवृत्ति प्रमाण का साक्षात् फल है। पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं— हेय, उपादेय और उपेक्षणीय। जब किसी पदार्थ के विषय में किसी ने जाना कि सर्प है, तो वह व्यक्ति सर्प के पास नहीं जाएगा, क्योंकि सर्प हेय है। यहाँ सर्प का हान (त्याग) कर देना प्रमाण का फल है। जब किसी ने प्रमाण के द्वारा जाना कि यह स्वर्ण है, तो वह उसके पास जाकर उसका उपादान (ग्रहण) कर लेगा, यहाँ स्वर्ण का उपादान कर लेना प्रमाण का फल है। जब मार्ग में जाते हुए किसी व्यक्ति के पैर के स्पर्श से ऐसा ज्ञान होता है कि तृण है, तब वह तृण की उपेक्षा कर देता है, क्योंकि तृण न हेय है और न उपादेय है, किन्तु उपेक्षणीय है, यहाँ तृण में उपेक्षा-बुद्धि होना प्रमाण का फल है। इसप्रकार हम को प्रमाण के द्वारा अनिष्ट-पदार्थ में हान-बुद्धि होती है, इष्ट-पदार्थ में उपादान-बुद्धि होती है और उपेक्षणीय-पदार्थ में उपेक्षा-बुद्धि होती है। अतः हान, उपादान और उपेक्षा इत्यादि ये तीनों प्रमाण के परम्परा से फल हैं। प्रमाण के द्वारा पहले पदार्थ का ज्ञान होता है और इसके बाद हान आदि होते हैं, इसलिए अज्ञान-निवृत्ति प्रमाण का साक्षात्-फल है और हान आदि तीन परम्परा-फल हैं।

यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक है कि प्रमाण का फल प्रमाण से अभिन्न होता है या भिन्न? बौद्ध मानते हैं कि प्रमाण का फल प्रमाण से अभिन्न है और यौग (नैयायिक एवं वैशेषिक) मानते हैं कि प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न है। इस शंका का निराकरण आगे के सूत्र में किया गया है—

प्रमाणादभिन्नं।

—परीक्षामुखसूत्र, 5/2

प्रमाण का फल प्रमाण से कथञ्चित् अभिन्न है और कथञ्चित् भिन्न है। प्रमाण से प्रमाण का फल न तो सर्वथा अभिन्न है और न सर्वथा भिन्न है। आचार्य-प्रवर **प्रभाचन्द स्वामी** के अनुसार अज्ञान-निवृत्ति प्रमाण से अभिन्न रहती है, इसलिए वह प्रमाण से अभिन्न-फल है तथा हान, उपादान और उपेक्षा इत्यादि ये तीन प्रमाण से भिन्न-फल हैं। यथार्थ में अज्ञान-निवृत्ति प्रमाण से कथञ्चित् अभिन्न-फल है। प्रमाण और अज्ञान निवृत्ति में सर्वथा अभेद मानने पर वे दोनों एक हो जाएँगे और तब यह प्रमाण है और यह फल है —ऐसा व्यवहार नहीं बन सकेगा। इसीप्रकार हान, उपादान

और उपेक्षा इत्यादि ये तीनों प्रमाण से कथञ्चित् भिन्न फल हैं, सर्वथा भिन्न नहीं। उनमें सर्वथा भेद मानने पर यह इस प्रमाण का फल ऐसा व्यपदेश कैसे होगा और स्पष्ट करते हैं सूत्रकार परीक्षामुखसूत्र में—

यः प्रमिमीते एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्ते उपेक्षते चेति प्रतीतेः॥

—परीक्षामुख, सूत्र 5/3

अर्थात् जो जानता है, वही अज्ञान-रहित होता है एवं हेय को छोड़ता है, उपादेय को ग्रहण करता है, उपेक्षणीय पदार्थ में मध्यस्थ होता है; इसप्रकार सभी को प्रतिभासित होता है।

जो प्रमाता जानता है अर्थात् स्वयं पर-ग्रहण-रूप परिणाम से परिणमता है, उसी का अज्ञान दूर होता है। व्यामोह-संशयादि से रहित होता है, वही प्रमाता पुरुष अपने इच्छित प्रयोजन को सिद्ध नहीं करने वाले पदार्थ को छोड़ देता है और प्रयोजन को सिद्ध करने वाले को ग्रहण करता है, जो न प्रयोजन-भूत है और न असाधक है अर्थात् उपेक्षणीय है, उस पदार्थ की उपेक्षा कर देता है। इसप्रकार से प्रमाता की प्रक्रिया प्रतीति में आती है, इसलिए प्रमाण से प्रमाण का फल कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न होता है।

शंका— इसतरह प्रमाण के विषय में मानेंगे, तो प्रमाता, प्रमाण और फल इनमें कुछ भी भेद नहीं रहेगा, फिर यह जगत्प्रसिद्ध प्रमाता आदि का व्यवहार समाप्त हो जाएगा।

समाधान— यह शंका निर्मूल है, प्रमाता आदि में लक्षण भिन्न-भिन्न होने से कथञ्चित् भेद माना है, पदार्थ के जानने में साधकतम करण-रूप से परिणमित होता हुआ आत्मा का जो स्वरूप है, उसे प्रमाण कहते हैं। जो कि निर्व्यापार-रूप है तथा जो व्यापार है, जानन-क्रिया है, वह फल है। स्वतंत्र रूप से जानना क्रिया में प्रवृत्त हुआ आत्मा प्रमाता है, इस तरह प्रमाण आदि में कथञ्चित् भेद माना गया है। अभिप्राय यह है कि आत्मा प्रमाता कहलाता है, जो कर्त्ता है, आत्मा में ज्ञान है, वह प्रमाण है और जानना फल है। कभी-कभी प्रमाता और प्रमाण इनको भिन्न न करके प्रमाता जानता है, —ऐसा भी कहते हैं, क्योंकि प्रमाता-आत्मा और प्रमाण-ज्ञान —ये दोनों एक ही द्रव्य हैं, केवल संज्ञा लक्षणादि की अपेक्षा भेद है। इसप्रकार कर्त्ता और करण को भेद करके तथा न करके कथन करते हैं। “प्रमाता घटं जानाति” यहाँ पर कर्त्ता, करण दोनों को पृथक् नहीं किया— “प्रमाता प्रमाणे न घटं जानाति” इसतरह

की प्रतीति या कथन करने पर आत्मा के ज्ञान को पृथक् करके आत्मा कर्त्ता और ज्ञान करण बनता है। न पर्याय से विशिष्ट तथा कथञ्चित् अवस्थित, ऐसा जो ज्ञान है, वही परिच्छिन्ति-विशेष अर्थात् फल-रूप से उत्पन्न होता है, अतः प्रमाण और फल में अभेद भी स्वीकार किया है। कर्त्तृ-साधन आदि की अपेक्षा भी प्रमाता आदि में भेद होता है, साधकतम स्वभाव-रूप-करण होता है, इसमें प्रमाण करण बनता है।

“प्रमीयते येन इति प्रमाणम्।”

“कर्त्तृ-साधन यः प्रमीयते सः प्रमाता” इसप्रकार स्वतंत्र स्वरूप वाले कर्त्ता की ही विवक्षा होती है। भाव-साधन में स्व-पर की निश्चयात्मक ज्ञप्ति क्रिया दिखायी जाती है— “प्रमितिः प्रमाणम्” यह फल-स्वरूप है। इसतरह कथञ्चित् भेद स्वीकारने से ही कार्य-कारण-भाव सिद्ध होता है, कोई विरोध नहीं आता। पर-वादी का कहना है कि आत्मा से पृथक् क्रिया को करने वाला प्रमाण होता है, क्योंकि यह कारक है, जैसे— बसूला आदि कारक होने से कर्त्ता पुरुष से पृथक् क्रिया को करते हैं, इस पर हम जैन का कहना है कि यदि आत्मा से प्रमाण को कथञ्चित् भिन्न सिद्ध करना है, तो सिद्ध साध्यता है, क्योंकि हम जैन ने भी अज्ञान-निवृत्ति को प्रमाण का धर्म माना है और हानादिक उसके (धर्म) कार्य माने हैं, अतः प्रमाण से फल के प्रमाता का कथञ्चित् भेद मानना इष्ट है। यदि इन प्रमाणादि में सर्वथा भेद सिद्ध करेंगे, तो साध्य में बसूले का दृष्टान्त साध्य-विकल ठहरेगा, इसी को स्पष्ट करते हैं— बसूला आदि द्वारा काष्ठादि की छेदन-क्रिया होती है; इस क्रिया को देखते हैं, तो वह छेद्य-द्रव्य काष्ठादि में अनुप्रविष्ट हुई ही सिद्ध होती है; बसूला लकड़ी में प्रवेश करके छेदता है, यह जो प्रवेश हुआ है, वह स्वयं बसूले का परिणमन है या धर्म है, अर्थान्तर नहीं, अतः शंकाकार का जो कहना था कि कर्त्ता आदि से करण पृथक् भिन्न ही होना चाहिए, प्रमाता आदि से प्रमाण भिन्न ही होना चाहिए, —यह कहना उसी बसूले के सिद्धान्त से बाधित होता है, इस कथन से यह सिद्ध होता है कि प्रमाण और फल में कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है। उनमें न सर्वथा भेद है और न सर्वथा अभेद है; सर्वथा भेद मानने पर भी यही दोष आता है, अतः प्रमाण और फल में कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद मानना ही श्रेयस्कर है। अनेकान्त सिद्धान्त भी यही कहता है। ११२।।

श्लोक-13 एवं 14

उत्थानिका— यहाँ पर विनयवन्त शिष्य स्वात्म-हित हेतु आचार्य-वर्य से पृच्छना करता है— अहो भगवन्! दसवीं कारिका में मुक्त-आत्मा को कर्मों का कर्त्ता कहा था, पर साथ में यह भी कहा था कि अन्तरंग व बहिरंग उपायों के माध्यम से जीव स्वयं मुक्त होता है। वे उपाय कौन से हैं? जानना चाहता हूँ, भगवन्!.....

समाधान— आचार्य-भगवन् कहते हैं— सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इत्यादि अन्तरंग उपाय हैं, जिनमें ग्यारहवें एवं बारहवें श्लोक में सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के स्वरूप को कह दिया है, अब सम्यक्चारित्र के स्वरूप को कहते हैं—

दर्शनज्ञानपर्याये षूत्तरोत्तरभाविषु ।

स्थिरमालम्बनं यद्वा, माध्यस्थ्यं¹ सुख-दुःखयोः ॥

ज्ञातादृष्टाऽहमेकोऽहं, सुखे दुःखे न चापरः ।

इतीदं भावनादाढ्यं, चारित्रमथवा परम्² ॥

अन्वयार्थ— (उत्तरोत्तरभाविषु) उत्तर-उत्तर यानी आगे-आगे या उन्नत-उन्नत होने वाली, (दर्शनज्ञानपर्यायेषु) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की पर्याय में, (स्थिरम्) स्थिर, अचल रूप से, (आलम्बनम्) करना/ठहरना, (यद्वा) अथवा, (सुखदुःखयोः) कर्म उदय से होने वाले सुख-दुःख में, (माध्यस्थ्यं) माध्यस्थ-भाव होना, (अहं) मैं, (एकः) अकेला हूँ, (च) और, (अपरः) मेरा कोई दूसरा, (न) नहीं है, (सुखे-दुःखे) सुख-दुःख में, (ज्ञाता-दृष्टा) मैं ज्ञाता-दृष्टा यानी जानने-देखने वाला हूँ, (इति इदं) इसप्रकार यह, (भावनादाढ्यं) आत्म-भावना की दृढ़ता, (अथवा) या, (परम्) उत्कृष्ट वीतरागभाव, (चारित्रम्) सम्यक्चारित्र है ॥13-14॥

परिशीलन— आचार्य-प्रवर अकलंक स्वामी दो कारिकाओं में चारित्र का विशद वर्णन कर रहे हैं। दुःख से मुक्त होने का उपाय चारित्र ही है; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

1. अन्यत्र 'माध्यस्थ्यं' के स्थान पर 'माध्यस्थ' पाठ भी कुछ विद्वान् मानते हैं, पर व्याकरणिक संरचना, अर्थ की संगतता एवं बहु-प्रति-उपलब्धता की दृष्टि से 'माध्यस्थ्यं' पाठ ही ग्राह्य है।
2. अन्यत्र 'परं' के स्थान पर 'मतम्' पाठ भी कुछ विद्वान् मानते हैं, पर वह भी अर्थ की संगतता एवं बहु-प्रति-उपलब्धता की दृष्टि से उचित नहीं लगता।

ये दो मोक्षमार्ग के साधन तो हैं, पर साधकतम नहीं हैं, साधकतम कोई है, तो निर्दोष चारित्र है, यही कारण है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के बाद अन्त में सम्यक्चारित्र को रखा गया है, संसार का अन्त कराने वाला चारित्र ही है। ज्ञानियो! पूर्ण विश्वास के साथ तत्त्व-बोध को प्राप्त करो, चतुर्थ गुणस्थान में जो मोक्ष-मार्ग कहा जाता है, वह उपचार है। मुख्य के बिना उपचार नहीं होता, पर उपचार मुख्य भी नहीं होता। मुख्यार्थ को समझने के लिए ही उपचार का कथन किया जाता है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्वाचरण है, परन्तु मनीषियो! वह सम्यक्त्वाचरण साधन का ही साधन है, साध्य-परिमाण-प्राप्ति का साक्षात्-कारण न हुआ, न कभी होगा, वह कारण-समयसार का ही कारण है, कार्य-समयसार तो ज्ञानियो! सकल-निकल परमात्मा ही है। सकल-निकल परमात्मा की उपलब्धि कराने वाला साक्षात्-कारण चारित्र है, गुणस्थानों में स्व-स्थान-संबंधी विशुद्धि अवश्य है, तद्-तद् अनुभूति भी है, जो चारित्र-आगम में वर्णित है— सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात, वे चारित्र चतुर्थ गुणस्थान में हैं क्या? वे तो पंचम गुणस्थान में भी नहीं हैं। बहुत ही मृदुभाव से सत्यार्थ-तत्त्व को समझिए!.....मुझे चतुर्थ गुणस्थान से द्वेष नहीं, उपरितम गुणस्थान में राग नहीं, परम साम्यज्ञान अवश्य है, यानी 'यथा-तत्त्व'। तत्त्व की प्ररूपणा जैसी की वैसी करना चाहिए, उसी के प्रति मेरा अनुराग है और भव्य मुमुक्षु सम्यक् तत्त्व का अवलोकन करें, श्रद्धान करें, आचरण करें, —ऐसी मंगल-भावना है। तत्त्व का अन्यथा निरूपण करने से तत्त्व तो विपरीत होगा नहीं, कहने-सुनने वाले के श्रद्धान में ही विपर्यास होगा, जिसका परिणाम अनन्त-भव-भ्रमण होगा, —ऐसा समझना चाहिए।

ज्ञानी! एक सहज बात समझना— जो-कि आपके अनुभव में है, आपके ग्रह-कक्ष में एक विद्युत का प्रवाह आ रहा था, पर मन्द था, विद्युत थी, लेकिन इतनी मंद थी कि मात्र एक ही बल्ब जल पा रहा था। प्रश्न यहाँ यह है कि, क्या विद्युत नहीं थी? उस विद्युत से कोई बड़ी मशीन क्यों नहीं चल पा रही थी, कारखाने एवं लौह-पथगामिनी (रेलगाड़ी) के लिए बल्ब जलने के परिमाण-वाली विद्युत् के शक्ति-अंशों से कार्य होने वाला नहीं है, जितना विशाल कार्य होता है, उतना ही विशाल कारण होना चाहिए, कारण-सदृश ही कार्य होता है, बिना कारण के कार्य नहीं होता। उसीप्रकार चतुर्थ गुणस्थान की विशुद्धि चतुर्थ गुणस्थान की रक्षा एवं आगे के गुणस्थानों की प्राप्ति में कारण तो है, मिथ्यात्व का अभाव कराने वाली है, परन्तु मुक्ति तो साक्षात् अरहन्त-सिद्ध-अवस्था की प्राप्ति चारित्र के शक्ति-अंशों से ही संभव है।

ज्ञानियो! अव्रत-सम्यक्त्व का बहुमान तो रहना चाहिए, परन्तु सन्तुष्ट नहीं हो जाना कि मेरा तो मोक्ष-मार्ग तैयार हो चुका है, निर्वाण हो जाएगा, नहीं....., —यह भ्रम मात्र है, जब-तक संयमाचरण नहीं, तब-तक स्वरूपाचरण शुद्धोपयोग की दशा नहीं घटित होगी, इसलिए आगे भी कुछ है, —ऐसी आस्था बनाकर मोक्ष-मार्ग का पुरुषार्थ करना चाहिए, अन्यथा संतुष्टि ही रह जाएगी, पर कार्य सिद्ध नहीं होगा। जैसे-कि भवन पर आरोहण हेतु प्रथम सोपान अनिवार्य है, प्रथम सोपान पर पाद रखे बिना कार्य सिद्ध नहीं होगा, —यह सत्य है। धर्म का मूल दर्शन है, परन्तु यह भी सत्य है कि प्रथम सीढ़ी पर बैठे रहने मात्र से भी भवन में प्रवेश नहीं होता, प्रथम सोपान पर चढ़ करके ही आगे के सोपान की प्राप्ति होती है, सम्पूर्ण सोपानों के ऊपर लक्ष्य-भूत स्थान है। इसीप्रकार गुणस्थानातीत शुद्ध सिद्ध-दशा है, जो जीव चारित्र को गौण करके सर्वथा ज्ञान-दर्शन की चर्चा करते हैं, परन्तु संयम से सर्वथा उदास रहते हैं, वे वीतराग-शासन के प्रति वात्सल्य का व्यवहार नहीं करते हैं, कारण दर्शन-ज्ञान-मात्र वीतरागता को प्रकट करने में समर्थ नहीं हैं, जब भी पूर्ण वीतरागता का उदय होगा, वह सम्यक्चारित्र के सद्भाव से ही होगा।

मनीषियो! आचार्य—भगवन् पूज्यपाद स्वामी ने चारित्र की बहुत ही सुंदर परिभाषा दी है—

“संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्थज्ञानवतः
कर्मादाननिमित्तक्रियोपरः सम्यक् चारित्रम्।”

—सर्वार्थसिद्धिः।

हे ज्ञानी पुरुष! संसार के कारणों को दूर करने के लिए उद्यत हैं, उसके कर्मों को ग्रहण करने में निमित्त-भूत क्रिया के उपरम होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं। मनीषियो! भूतार्थ तो यह है कि संसार में सर्वप्रथम भय होना अनिवार्य है, जिस प्राणी को संसार के भ्रमण से भय होगा, वही जीव संसार के कारणों से परिचित होकर उनसे दूर होने का पुरुषार्थ करता है, यहाँ पर एक बात को विशेष ध्यान में रखना है कि जिन-वचन पर आस्था होना अनिवार्य है, संसार मोक्ष के कारणों का कथन जिनेन्द्र उपदिष्ट श्रुत में है, जिसे श्रुत पर विश्वास होगा, वही तो संसार के कारणों को सत्य स्वीकारेगा। चारित्र के पूर्व सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान होना अति-आवश्यक है, साथ में वैराग्य की सत्ता होना, क्योंकि हेय-उपादेय उपेक्षा का परिचायक तो ज्ञान ही है। ऐसा ही है, अन्य नहीं, अन्यथा नहीं, इसप्रकार का निःशंकपना तो सम्यग्दर्शन ही

प्रदान करेगा, तभी चारित्र-विशुद्धता से विकसित करना होगा। चारित्र किसी भी अवस्था में अपूज्य नहीं होता, यह परम-पूज्य ही रहता है। श्रमणों का मार्ग मोक्ष के श्रम का मार्ग है, ब्रह्म की प्राप्ति खेलने-खाने से नहीं होती, बाल-लीला नहीं समझना, ब्रह्म-विलास तभी संभव है, जब भोगों की विलासता का विराम होगा। निज-स्वानुभव का पुरुषार्थ अविराम चलेगा। भेष-मात्र को चारित्र नहीं समझना, भेष-परिवर्तन तो जीव अनादि से करता आ रहा है, चारित्र तो भावों का परिवर्तन है, जिनवाणी भावों के परिवर्तन का निर्मल साधन है। चारित्रवानो! चारित्र को जीवन्त रखना चाहते हो, तो सतत श्रुताभ्यास करो एवं निर्दोष समान-गुण-वालों में स्व को सँभालना वर्तमान में कठिन है, एकाकी-विहार से आत्मा की रक्षा करो, एकल-विहार करके पंचमकाल में निर्दोष-संयम-साधना संभव नहीं है, आगम-आज्ञा है। संघ के साथ रहकर निःसंगता को प्राप्त करो, संग (परिग्रह) में रहने वाला निःसंगता/अपरिग्रह को प्राप्त नहीं हो सकता और निःसंग हुए बिना भूतार्थ-बोध अर्थात् तत्त्व की बोधि संभव नहीं है, भूतार्थ प्राप्त करके ही बोधि की प्राप्ति होती है, यही सम्यक् व्यवस्था है। अज्ञान-पूर्वक धारण किया गया चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होता, सम्यग्ज्ञान के उपरान्त ही चारित्र को धारण करना सम्यक् है। जो व्यक्ति ज्ञान के अभाव में चारित्र धारण कर लेते हैं, वे नाश को प्राप्त होते हैं, शास्त्र-ज्ञान के साथ विवेक-ज्ञान, भेद-विज्ञान होना चाहिए। सत्यार्थ समझना चाहिए कि ज्ञान-शून्यता में बोध-बोधि दोनों का अभाव होता है। साधक निज-स्वभाव समझे बिना क्या साधना को निर्दोष पाल सकेगा? .
.....आचार्य-प्रवर वादीभसिंह स्वामी ने तत्त्व-बोध-विहीन व्यक्ति को निर्ग्रन्थ-मुद्रा में भी शोभा-विहीन कहा है। यथा—

“तत्त्वज्ञानविहीनानां नैर्ग्रन्थमपि निष्फलम्” ।।

—क्षत्रचूडामणि:

अर्थात् तत्त्व-ज्ञान-रहित जीवों के परिग्रह का परित्याग, मुनित्व भी फल-रहित होता है। सत्यार्थ-ज्ञान से स्वयं निर्णय करना चाहिए, ज्ञान-हीन की क्रिया विनाश को प्राप्त होती है, क्रिया-हीन का ज्ञान भी नाश को प्राप्त होते हैं, ज्ञान-चारित्र दोनों का मिलाप ही सत्यार्थ-मार्ग का प्रदर्शक होता है।

ज्ञानियो! लोक में जिसे चारित्र संज्ञा प्रदान की जाती है, वहाँ यथार्थ में चारित्र का भेष है, चारित्र नहीं, भेष में चारित्र का उपचार कर भेष-धारण को ही जीव चारित्र-धारण कर लिया करता है। ज्ञानियो! देखो सम्यक् सूक्ष्म विवेचन है, इस

व्याख्या को पढ़कर किसी चारित्रवान् के प्रति अशुभ-भाव नहीं लाना, अपितु स्वयं को जाग्रत रखना, बिना भेष के चारित्रवान् की पहचान भी नहीं होती, चारित्र हो और भेष न हो, यह भी संभव नहीं है, परन्तु भेष का नाम चारित्र नहीं है, भेष तो मात्र देहाश्रित है, न कि आत्माश्रित, परन्तु चारित्र आत्माश्रित है, जो आत्माश्रित है, वही परमार्थ-चारित्र है, ज्ञानी! परमार्थ-चारित्र ही आत्माश्रित हो, —ऐसा नहीं है, आत्माश्रित ही व्यवहार-चारित्र है, भेष-मात्र देहाश्रित है। वस्त्रादि को छोड़ना, गृह छोड़ना पिच्छी-कमण्डलु-शास्त्र को ग्रहण करना यह-सब देहाश्रित अवस्था चल रही है, इन अवस्थाओं में न तो निश्चय दिखता है, न व्यवहार।

अहो! क्या आश्चर्य है कलि-काल का, आत्म-प्रशंसा में एवं आत्म-प्रशंसा हेतु गुरु प्रशंसा में सारा समय निकल रहा है, गुणों की प्रशंसा फिर-भी स्तुत्य है, तन एवं भवनों के निमित्त चल रही प्रशंसा आत्म-हित में किञ्चित् भी सहकारी नहीं है। कारण क्या है? उस प्रशंसा में धन एवं धन वालों की प्रशंसा निहित है, धनिकों की कार्य-प्रणाली कैसी है? यहाँ कोई नहीं देखता, मृषा-प्रशंसा करने वाले कहीं न कहीं श्री और स्त्री से जुड़े हैं, चारित्रवानों की स्तुतियाँ स्वयं होती हैं। ध्यान रखना—अधिक प्रशंसा भी निन्दा का कारण हो जाती है, इसलिए स्तुत्य की स्तुति स्तुत्य के अनुरूप ही करें, अन्यथा करने से उपहास ही होता है।

असत्य की प्रशंसा से जीव सत्य-मार्ग से च्युत होता है। मनीषियो! सत्यार्थ-मार्ग ही चारित्र है, उस चारित्र की यथार्थता पर विचार अनिवार्य है। यहाँ पर सभी के अन्दर एक प्रश्न खड़ा हो गया होगा कि आप दिगम्बर मुद्रा को व्यवहार द्रव्य-चारित्र भी स्वीकार नहीं कर रहे, फिर द्रव्य-संयम का क्या होगा ? आज तक द्रव्य-भेष को ही तो द्रव्य-संयम मानते रहे हैं। ज्ञानियो! तत्त्व को समझे बिना रूढ़ि में लीन रहे आज तक आप, फिर इसमें आगम व हमारा क्या दोष? आपने समझने का प्रयास आगम के पृष्ठों में किया होता, तो द्रव्य-चारित्र की परिभाषा समझ में आ जाती। ज्ञानी! जो द्रव्य-मुद्रा है, वह देहाश्रित दशा है, द्रव्य-संयम मूलगुण-उत्तरगुण-पालन-भूत निर्दोष-परिणति है, सत्यार्थ-श्रमण की चर्या का पालन करना व पाँच महाव्रतादि में द्रव्य से किञ्चित् भी दोष नहीं लगने देना, द्रव्य-चारित्र है। जो मात्र नग्न शरीर लिये हैं, पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार के चारित्र पालन से शून्य हैं, मठादि के निर्माण में अपनी पर्याय को नष्ट करें, निर्वाण मार्ग से शून्य रहें, आश्रम-वास पर दृष्टि रखें, द्रव्यसंयम के गुणों से भी शून्य रहें, वे श्रमणाभास हैं,

श्रमण नहीं। श्रमणाभास का तात्पर्य जो गुण आगम में वर्णित हैं, उन गुणों का जहाँ अभाव पाया जाय, उसे आभास कहते हैं, यानी श्रमण का जैसा-लक्षण तीर्थेश ने वर्णित किया है, विषय, कषाय और अपरिग्रह से रहित, ज्ञान-ध्यान में लीन होते हैं, जो वे सच्चे चारित्र-सम्पन्न साधु कहलाते हैं, इससे भिन्न हों, तो वे श्रमणाभास ही तो कहलाएँगे। आभास की परिभाषा भी न्याय-शास्त्रों में यही की गई है—

ततोऽन्यत् तदाभासम्।

—परीक्षामुखसूत्र-१/६

जैसे यहाँ पर यह सूत्र प्रमाण आदि के आभास के लिए आया है, जैसे-पहले परिच्छेद में परीक्षामुख सूत्र में आचार्य माणिक्यनन्दी स्वामी ने प्रमाणादि का स्वरूप जैसा कहा था, वैसा नहीं हो, तो उसे प्रमाणाभास कहा है अर्थात् जो प्रमाण से भिन्न है, वह प्रमाणाभास है, संख्या से भिन्न हो, पर संख्या-जैसा दिखे, वह संख्याभास है, इसीप्रकार जो श्रमण-चर्या से भिन्न हो, वह श्रमणाभास है, जैसे-कि कोई श्रमण-दीक्षा लेकर भी बाग लगाये अथवा लंगवाये, खेती कराये, गाय-भैंसादि को रखे, हिंसक जीव पाले अथवा हिंसक कृत्य, व्यापारादि में कृत-कारित-अनुमोदना को किञ्चित् भी करे, वे श्रमणाभास हैं अथवा जैन-सिद्धान्त में वर्णित आगम-पूज्यों के विपरीत कथन करे, आचरण करे, उत्पथ में लीन होकर सत्य-मार्ग का लोप करे, वे श्रमण-पने से शून्य हैं, द्रव्य-भेष हैं, द्रव्य-संयम भी नहीं है, ज्ञानियो! उक्त विषय को सिद्धान्त का प्ररूपण समझना, यहाँ पर किसी पर भी भिन्न-दृष्टि नहीं ले जाना, न किसी की आलोचना करना, आगम के सत्यार्थ स्वरूप का बोध करना तथा आभासों की अनुमोदना का भी त्याग करना चाहिए, आभास कमियों के रूप हैं। ज्ञानियो! भूतार्थ चरित्र पालन के लिए परिपूर्ण जागृति चाहिए, जैसे— एक विमान-चालक सावधान रहता है, उससे असंख्यात-गुणी सावधानी एक चारित्रवान् जीव को चाहिए पड़ती है, कब मार्ग में बाधा आ जाए, —मालूम नहीं, लोक में विषय-चोर बहुत हैं। जैन-योगियों का मार्ग जगत् के मार्गों से अत्यन्त भिन्न है, ऐसा समझना चाहिए, साथ ही उन ज्ञानी विद्वानों को भी इंगित करता हूँ, जो साधु-समाज से लौकिक कार्यों की अपेक्षा रखते हैं। विद्यालय एवं औषधालय का निर्माण, विद्वानो! आप लोग तत्त्व-ज्ञाता हो, क्या यह मार्ग दिगम्बर-साधकों का है? लौकिक कार्यों में साधुओं से किसी प्रकार की इच्छा रख अपनी प्रज्ञा की न्यूनता की पहचान न कराएँ, उन्हें श्रमणाभास की ओर न ले जाएँ, यह मार्ग सामाजिक, राजनैतिक कार्यों से भिन्न है, जैन-श्रमणों की

वृत्ति अलौकिक होती है, उन्हें लोकाचार में आप-जैसे सुधी श्रावक विद्वान् ले जाने का विचार करें, —यह उचित नहीं। परमार्थ से विचार करें कि क्या जैन-योगियों की पहचान आयतन से है? देव-पूजा एवं नव-देवताओं की आराधना के लिए सराग चर्या के धारक मुनिराज उपदेश कर सकते हैं।

जैन-योगियों का चारित्र कैसा होता है ? आचार्य भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी भी कहते हैं—

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।

सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ।।

—पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लो. 39

क्योंकि वह चारित्र समस्त पापयुक्त मन, वचन, काय के योगों के त्याग से सम्पूर्ण कषायों से रहित निर्मल, पर-पदार्थों से विरक्त-रूप और आत्म-रूप स्वरूप होता है।

अहो प्रज्ञ! सूत्र के एक-एक तत्त्व पर चिन्तन करो, भूतार्थ-दृष्टि से क्रिया-रूप चारित्र भी स्वभाव-भूत होने पर ही निर्दोष पलता है, जब-तक अन्तरंग निर्मलता नहीं आती, तब-तक आगमिक चर्या में विशुद्धि नहीं आती। कैसे बैठें? कैसे चलें? कैसे भोजन करें? कैसे भाषण करें? कैसे शयन करें? कैसे आसन लगायें?.... जिससे पापाश्रव एवं पापबन्ध न होवे। सम्पूर्ण प्रश्नों का एक ही समाधान है कि कोई भी क्रिया यत्नपूर्वक करें, जिससे पापबन्ध न होवे। यह यत्न-प्रवृत्ति ही सावद्ययोग-रहित-प्रवृत्ति होती है, जिसमें नवकोटि से पाँचों पापों से रहित आत्मा की प्रवृत्ति होती है। एक-एक पग, एक-एक पल सावधान रहे, वह प्रमाद-शून्य-चर्या होती है। सर्वप्रथम पाप-सूत्र यदि कोई है, तो उसका नाम 'प्रमाद' है, सम्पूर्ण पापों के साथ प्रमाद शब्द जुड़ा हुआ है, जहाँ-जहाँ प्रमाद है, वहाँ-वहाँ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह है। इनसे रहित अवस्था, सावद्य-रहित अवस्था, चार विकथाओं से रिक्त परिणति जिनकी है, वे पाप-शून्य त्यागी हैं। जो उक्त परिणति से युक्त हैं, वे पाप-जीव हैं, पाप-जीव कभी भी चारित्र-युक्त नहीं होता, जब वही जीव पाप-प्रकृति का त्याग करता है, तब पुण्य-जीव बनकर परमात्मा बन जाता है। जब जीव सम्पूर्ण कषाय-रहित होता है, पर-पदार्थों से निज स्वभाव को अत्यन्त भिन्न स्वीकारते हैं, वही आत्म-स्वरूप चारित्र है। आत्म-स्थ हुए बिना परमार्थ-चारित्र का प्रकटीकरण नहीं होता। मनीषियो! निश्चय से चारित्र ही धर्म है, वह चारित्र कैसा है? आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिदिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥

—प्रवचनसार, गा. 9

अर्थात् निश्चय से चारित्र ही धर्म है, वह धर्म साम्य-भाव है, ऐसा आगम में कहा है, वह साम्य-भाव मोह-क्षोभ-रहित आत्मा का परिणाम है। चारित्र और धर्म दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, धर्म-रहित चारित्र नहीं होता, चारित्र-रहित धर्म नहीं होता। चारित्र की यह अनुपम परिभाषा लोकोत्तर है। मात्र क्रिया-चर्या का नाम चारित्र नहीं, अपितु साम्य-भाव का नाम चारित्र है, साम्य-भाव के अभाव में चारित्र संभव नहीं है। ज्ञानियो! वनवास में निवास, सम्पूर्ण श्रुत की आराधना, काय, क्लेश, अनेक प्रकार के घोर तप, मासोपवास, मौनव्रत आदि की साधना भी साम्य-भाव के अभाव में अंक-विहीन शून्य है, जैसे— अंक से रहित शून्य शून्य ही रहता है, उसकी कोई कीमत नहीं होती, उसीप्रकार साम्य-भाव-शून्य श्रमण का चारित्र शून्य है, साम्यता ही चारित्र है वही धर्म है। यहाँ पर भाव्य-भावक सम्बन्ध समझना परिणाम-भाव है, परिणामी भावक है, यानी भाववान् है। यहाँ पर अन्वय समझना चाहिए कि जहाँ-जहाँ साम्य-भाव है, वहीं-वहीं चारित्र है, व्यतिरेक भी लगाना— जहाँ-जहाँ चारित्र नहीं है, वहाँ-वहाँ साम्य-भाव नहीं है। सत्यार्थ-स्वरूप का ज्ञान होना अनिवार्य है, जगत् चारित्र की यथार्थता से प्रायःकर अपरिचित ही रहता है, वह तो भेष-मात्र में उलझकर बाह्य आडम्बरों की परिणति में ही चारित्र संज्ञा घटित कर लेता है, पर ज्ञानियो! भगवन् कुन्दकुन्ददेव की परिभाषा को जब देखते हैं, तब मालूम चलता है कि भूतार्थ-चारित्र क्या है, क्या सन्त-पन्थ के विकल्पो में चारित्राचार का पालन होता है, जब स्वरूप में चरण होता है। स्वरूप में चरण ही चारित्र है, स्व-चरण साम्य-भाव में ही है। अ-साम्य-भाव से स्व-चरण यानी स्वरूप में चरण नहीं होता, वह साम्य-भाव मोह-क्षोभ-रहित परिणाम है, मोह यानी दर्शन-मोह, मिथ्यात्व समझना, क्षोभ यानी चारित्र-मोह, असंयम-भाव समझना। जिनके सद्भाव में सम्यक्त्व एवं चारित्र का घात होता है, वह मोह-क्षोभ-भाव है, जब-तक ये दोनों आत्मा के परिणामों में विराजे हैं, तब-तक चारित्र-भाव का होना खर-विषाण-वत् है। आर्त-रौद्र दुर्ध्यान एवं विषय-कषाय राग-द्वेष भावों से रहित जो जीव की परिणति है, वह साम्य-भाव है, साधक के लिए सर्वाधिक साम्य-भाव की रक्षा के भाव रखना अनिवार्य है। साम्य-भाव के अभाव में भेष-चारित्र अनन्त बार भी धारण क्यों न कर लें? परन्तु वह परम निर्वाण-दशा को

प्राप्त नहीं होता, साम्य-स्वभावी आत्म-भावना से परिपूर्ण योगी सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। साम्य-भाव माध्यस्थ्य-भाव है, न राग, न द्वेष, पर-भावों के पक्षपात से रहित अवस्था, चाहे सुख हो, चाहे दुःख हो, दोनों में परम-योगी को, साम्य-भाव होता है। अहो! निर्ग्रन्थों के चिन्तन को तो एक क्षण को निहारो, चिन्तन ही तो चारित्र का रक्षक व विनाशक है, निर्मल-चिन्तन चारित्र में निर्मलता एवं विशुद्धता लाता है, अशुभ-चिन्तन चारित्र का नाश कराता है। जितनी निर्मल-चर्या से युक्त साधक वर्तमान में हैं, होंगे, वे-सब निर्मल-चिन्तन के द्वारा ही रक्षित हैं। योगी भाव की रक्षा सतत सम्यक् चिन्तन एवं जिनागम के स्वाध्याय से होती है, जितनी गहराई से तत्त्व-बोध होगा। साधक उतना ही विशद चिन्तन कर पाएगा, आगम-विहीन किसका चिन्तन करेगा, इसलिए ज्ञानाभ्यास साधु को प्रमुखता से होना/करना चाहिए। ऐसे तत्त्व-बोध-बोधित यतिवर विचारते हैं कि उपसर्ग-परीषद का होना लोक-पूजा-यश-प्रतिष्ठा का मिलना कोई लोकोत्तर की प्राप्ति नहीं है, न कर्म-शून्य दशा का फल है, यह तो कर्माधीन है। साता के उदय से सुख-सामग्री की प्राप्ति होती है, असाता के उदय से दुःख-सामग्री की प्राप्ति होती है, दोनों ही अवस्थाएँ त्रैकालिक नहीं हैं, कर्म की सत्ता जैसी होगी, वैसा ही उतना ही फलित होगा, इसमें शुभाशुभ-भाव करना हर्ष-विषाद करना, अभिनव कर्माश्रय का करना ही है। साता-असाता के प्रति विचार करना आत्मा का भूतार्थ-धर्म नहीं है, दोनों पुद्गल के ही परिणमन हैं, जो बन्ध किये थे, वे उदय में तो आएँगे ही, अतः सुख व दुःख में मध्यस्थ रहना ही श्रेष्ठ मार्ग है, कर्म उदय में आकर बाह्य सुख-दुःख के साधन तो हो सकते हैं, पर आत्म-स्वभाव का नाश नहीं कर सकते; हाँ, इतना अवश्य है कि कर्म का विपाक शुद्धोपयोग से आत्मा को वंचित करने में निमित्त हो सकता है, परन्तु ध्रुव ज्ञायक-भाव का अभाव कर्मों के द्वारा न कभी हुआ, न होगा, सुख-दुःख पुद्गल की पर्याय है, इनमें हर्ष-विषाद करना अज्ञान-भाव है, अतः मुमुक्षु-जीव सुख-दुःख में माध्यस्थ्य-भाव को प्राप्त होता है, यह माध्यस्थ्य-भाव राग-द्वेष-रहित, पक्षपात-शून्य परम-चारित्र है; अथवा यों कहें कि आगे-आगे होने वाली दर्शन और ज्ञान की पर्याय में दृढ़ आलम्बन करना चारित्र है, अथवा सुख और दुःख में मैं एकमात्र ज्ञाता-दृष्टा हूँ, अन्य कोई रूप नहीं हूँ;—इसप्रकार की भावना की दृढ़ता को चारित्र माना गया है। एकत्व-विभक्त शुद्ध-चैतन्य-रूप भगवद्-स्वरूप में स्थिर हो जाना निश्चय-चारित्र है, यह निश्चय-चारित्र ही साधकतम साधना है निर्वाण-दशा के लिए, बिना निश्चय-चारित्र के ज्ञानियो!

व्यवहार-चारित्र-मात्र मोक्ष-दायक नहीं हो सकता, इसलिए प्रत्येक व्यवहार-रत्नत्रय-आराधक योगी को व्यवहार में संतुष्ट होने की आवश्यकता नहीं है, जो व्यवहार-संयम में ही मोक्ष-मार्ग एकान्त से मान बैठे हैं, वे परमानन्द-स्वरूप भगवत्ता से रिक्त ही रहेंगे। अतः मनीषियो! ध्रुव, अखण्ड चैतन्य-धर्म की अनुभूति में लीन होना अनिवार्य है। जो स्वरूप पर-भावों से परिपूर्ण भिन्न है, एक-अंश-प्रमाण भी आत्मा पर-भाव रूप नहीं है। भूतार्थ-नयाश्रित तत्त्व ही उपादेय है। पर ज्ञानियो! बिना व्यवहार-रत्नत्रय के शुद्ध-बुद्ध-भावना-मात्र मोक्ष-मार्ग नहीं है, भावना से मोक्ष-मार्ग नहीं बनता, भाव-संयम से मोक्ष-मार्ग प्रशस्त होता है, उभय रत्नत्रय निश्चय एवं व्यवहार ही सत्यार्थ हैं, एक-एक की एकता मोक्ष-मार्ग नहीं है, व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है, —ऐसा समझना चाहिए।।१३-१४।।

विशुद्ध-वचन

* यदि नवनीत है नारी
तो
अग्नि है पुरुष,
जो होगा संयोग
नवनीत-अग्नि का,
तो पिघलेगा ही.....
और जलेगी ज्वाला ही....।

* महत्त्वहीन हैं
बिना सुगन्ध के
फूल
और
बिना चारित्र के
प्राणी.....।

* नहीं दिखता
उल्लू को दिन में
काग को
रात में
पर
कामी पुरुष को
न दिखता
दिन में ही
और न
रात में.....।

* जो पा लेते
स्वयं को
वे ही
शिव को भी.....।

श्लोक-15

उत्थानिका— यहाँ पुनः शिष्य जिज्ञासा प्रकट कर रहा है— भगवन्! क्या मोक्ष-मार्ग निश्चय ही है?... अन्तरंग हेतु ही परम-साधन है, एक-मात्र अन्तरंग हेतु से कार्य की सिद्धि हो जाती है क्या? या-फिर बहिरंग कारणों का होना भी अनिवार्य है?....

समाधान— आचार्य-प्रवर भट्टाकलंक स्वामी समाधान करते हुए कहते हैं कि बिना बहिरंग कारण के अन्तरंग साधन घटित नहीं होता; वे कहते हैं—

‘तदेतन्मूलहेतोः स्यात्कारणं सहकारकम् ।

यद्बाह्यं देशकालादिः तपश्च बहिरङ्गकम् ।।

अन्वयार्थ— (एतन्मूलहेतोः) इसप्रकार अन्तरंग उपादान मूल कारण का, (यत्) जो, (देशकालादि) देश व काल आदि, (बाह्यं) बाहरी, (च) और, (तपः) अनशन आदि बाह्य तप, (सहकारकं) सहकारी, (कारणं) कारण हैं, (तत्) वह, (बहिरङ्गकम्) बहिरंग उपाय, (स्यात्) होता है ।।15।।

परिशीलन— विश्व-व्यवस्था कारण-कार्य, साधन-साध्य, निमित्त-उपादान, हेतु-हेतुमद् भाव से चल रही है, बिना कारण के कार्य होता नहीं देखा-जाता, जहाँ-जहाँ कार्य होते हैं। उनके साथ नियम से कारण निहित होता है, आवश्यक नहीं कि वह चाक्षुष ही हो अथवा उसके पास सभी की दृष्टि प्रवेश कर जाए; जैसे— कुम्हार के चके के नीचे की कील बाहर से किसी को दिखायी नहीं देती, पर क्या बिना कील के चाक चल रहा है? ...अपितु नहीं चल रहा है। पुरुष-कृत प्रेरणा एवं अधस्तन कील चक्र के लिए सहकारी हैं, बिना सहकारी के कार्य की निष्पत्ति नहीं देखी जाती। एक कार्य की सिद्धि के लिए अनेक सहकारी कारणों की आवश्यकता होती है, एक-कारण-मात्र से भी कोई कार्य पूर्ण नहीं होता, ये अवश्य हो सकता है कि कोई कारण सामान्य-साधना है, कोई साधकतर है, तो कोई साधकतम है। तर-तम प्रत्यय-बुद्धि अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, जैसे तीव्रतर, मन्दतर-मन्दतम। जब भावों की विशुद्धि तीव्र होती है, तब कर्म-निर्जरा प्रारंभ होती है, सामान्य सहज निर्जरा की अपेक्षा अधिक होती है,

1. इस श्लोक के भी दो तरह के पाठ मिलते हैं— पहले चरण का प्रारम्भ यदि ‘यद्’ से मानें, तो तीसरे चरण का प्रारम्भ ‘तद्’ से मिलता है और यदि प्रथम चरण का प्रारम्भ ‘तद्’ से मानें, तो तीसरे चरण का प्रारम्भ ‘यद्’ से है; अर्थ-संगति व व्याकरणिक संरचना की दृष्टि से दोनों पाठ समुचित हैं।

परंतु उससे अधिक तीव्रतर में होती है और उससे भी अधिक निर्जरा विशुद्धि-स्थानों की वृद्धि तीव्रतम होने पर होती है। द्वितीय पक्ष में कषाय-अंश जब मन्द होते हैं, तब तीव्र कषाय की अपेक्षा आस्रव भी मन्द होता है, मन्दतर में और-कम आस्रव होगा एवं मन्दतम में अति-अल्प आस्रव होगा, इस आस्रव-बन्ध में जब हम कार्य-कारण-भाव घटित करते हैं, तब जीव के भाव अन्तरंग-कारण समझना। कारण-कार्य-भाव को जो नहीं समझना चाहते, वे न समझते ही हैं, वे जिन-शासन के रहस्यों से पूर्ण अनभिज्ञ हैं, जिन-शासन से अनभिज्ञ, यानी वस्तु-व्यवस्था के ज्ञान से शून्य हैं, —ऐसा समझना चाहिए, वस्तु-व्यवस्था को समझने के लिए कारण-कार्य-भाव को समझना अनिवार्य है, जो पुरुष निमित्त को नहीं मानते, वे अज्ञ कारण-कार्य को क्या समझ पाएँगे!.... मात्र शुद्धात्मा शब्द को ही समझ पाएँगे, पर वे शुद्धात्म-द्रव्य को नहीं समझ पाएँगे, न ही प्राप्त कर पाएँगे, प्राप्ति पुरुषार्थ से होती है, पुरुषार्थ ही कारण-कार्य-भाव-व्यवस्था है, ध्यान रखना— जो निमित्त को नहीं स्वीकारते, वे पुरुषार्थ को कैसे मान सकेंगे? क्योंकि यहाँ पर कहा है कि पुरुषार्थ ही कारण-कार्य-भाव है, ज्ञानी! यह विषय-कथा वस्तु नहीं, वस्तु-व्यवस्था की विवेचना है, इसे समझने के लिए परिपूर्ण-एकाग्रता चाहिए, प्रज्ञा को पूरी तरह शान्त करके समझना पड़ेगा। पुरुषार्थ को कार्य-कारण क्यों कहा?...—ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं कि ज्ञानी! पुरुषार्थ किसके लिए?... जिसके लिए है, वह क्या है?... पुरुष=आत्मा, अर्थ=प्रयोजन। आत्मा जिस अर्थ को चाहता है, वह अर्थ उसके लिए साध्य है, प्राप्ति का उपाय साधन है, अर्थ कार्य तथा उपाय कारण है। बिना कार्य-कारण के पुरुषार्थ शब्द का कोई अर्थ ही नहीं निकलता, तर्क रूढ़ि से कहने में प्रत्येक जीव स्वतंत्र है; पर रूढ़ि रूढ़ि है, शब्दार्थ शब्दार्थ है, जो जैसा नहीं, फिर वैसा ही कहना उपचार-रूढ़ि है, जिसका कोई निश्चय अर्थ होता है, शब्दकोश, व्याकरण-शास्त्र से वह शब्दार्थ है, संज्ञाएँ कुछ रूढ़ होती हैं, कुछ अन्वयार्थक होती हैं। कारण-कार्य-भाव, निमित्त-उपादान, हेतु-हेतुमद्भाव को नहीं समझ पाए, तो ध्यान रखना— उनके यहाँ तत्त्व-बोध एवं बोधि की प्राप्ति तो घटित होना अश्व-विषाणवत् तो है ही, उनके यहाँ भोजन-कार्य भी व्यर्थ होता है। भोजन करते हैं, पानी पीते ही हैं, फिर-भी निमित्त-उपादान कारण-कार्य-भाव नहीं समझ सके, यह या-तो हठग्राहिता है, या-फिर पूर्ण की शून्यता का प्रमाण-पत्र है। आपकी भाषा में ही आप समझ लें कि भोजन करने से उदर भरता है, उदर भरने से क्षुधा-वेदना शान्त होती है। ज्ञानी! भोजन कारण है, क्षुधा-वेदना का उपशमन कार्य है, ये

बहिरंग हेतु हैं, अन्तरंग साता वेदनीय का उदय व लाभान्तराय का क्षयोपशम होना कारण है, शान्त परिणामों का होना कार्य है।

जिस वाहन पर जिनालय जाते हैं, उसमें चलने की योग्यता है, स्व-क्रिया-वती शक्ति से चलकर आया है, यह अन्तरंग हेतु है, परन्तु बहिरंग में वाहन के चलने के लिए तेल चाहिए पड़ता है। यदि निमित्त कुछ भी नहीं है, तो एक सहज प्रश्न है कि यह विषय आप जन्म से समझकर आये हैं या किसी प्रज्ञा के विपर्यासी ज्ञानी के द्वारा सीखे हैं, जन्म से सीखे सहज हैं, तो भव-प्रत्यय तो आपको कहा नहीं जा सकता, पर इतना अवश्य है; पूर्व की विपरीत तत्त्व-ज्ञप्ति ही आपके विपर्यास का कारण है। यदि किसी से पढ़कर बतलाते कि हमने अमुक पंडित से सीखा है कि निमित्त कुछ-भी नहीं, तो ज्ञानी का तो स्व-वचन बाधित हो गया, जैसे कोई युवा कहे कि मेरे पिता-श्री बाल-ब्रह्मचारी हैं, ज्ञानी! जब पिता-श्री बाल-ब्रह्मचारी हैं, तो तू कैसे आ गया, यह स्व-वचन-बाधित विषय है। ज्ञानियो! जो कार्य-कारण-भाव नहीं स्वीकारता, वह आगम-बाधित भी है, जैसे-कि चतुर्थ गुणस्थान में असंयत-सम्यग्दृष्टि कहा है, फिर उसे चारित्र-युक्त कहना अथवा पाप-कर्म से मोक्ष मिलता है, —ऐसा मानना हिंसा कर्म में धर्म मानना, आदि विषय-विचार आगम-विरुद्ध हैं। उसीप्रकार आगम-वचन है कि कारण के बिना कार्य नहीं होता, फिर-भी कारण को नहीं मानना, यह आगम-विरुद्ध कथन है, जो आगम-विरुद्ध भाषण करता है, वह स्व-समय से बाह्य है, —ऐसा समझना चाहिए। जगत् में लौकिक एवं पारमार्थिक, —ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो-कि कारण के अभाव में सिद्ध होता है।

जैसे-कि किसान बीज डाले बिना फल की प्राप्ति करता है क्या?....., देशना-लब्धि के बिना अधिगम-सम्यक्त्व भी नहीं होता, यहाँ ज्ञानी! तत्त्व को विशदता से समझो, निसर्ग-सम्यक्त्व जो है, वह वर्तमान अपेक्षा से ही है, परन्तु भूत-प्रज्ञा-पन नय से वह भी अधिगम करणानुयोग से निसर्ग से है; विचार करें, सात कर्म प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम, उपशम कारण है तथा क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक सम्यक्त्व कार्य है। यह कारण-कार्य व्यवस्था त्रैकालिक शाश्वत है; जैसे— नाना जीवों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र शाश्वत है, उसीप्रकार कारण-कार्य-व्यवस्था है अथवा यों कहें कि लोक शाश्वत है, उसका कभी नाश होने वाला नहीं है, उसीप्रकार कारण-कार्य का नाश होने वाला नहीं है, अज्ञ प्राणी आत्मा को मिथ्यात्व से दूषित कर सकते हैं। पंच समवाय का अभाव तो नहीं कर पाएँगे, कर

सकते हैं तो, मात्र स्व-श्रद्धान को समाप्त कर सकते हैं। वस्तु-व्यवस्था में व्यर्थ का शब्द-जाल, सम्प्रदायवाद, पन्थवाद, सन्तवाद कार्यकारी नहीं होता, मान्यताएँ भिन्न हो सकती हैं, परन्तु वस्तु-स्वभाव में भिन्नत्व नहीं आ सकता। देखो, ज्ञानियो! जब प्रथम तीर्थेश का काल था, तब भी जीव मुख से ही भोजन करते थे और आज भी, व्यर्थ में कोई अशुभ-भाषण करने लगे, तब भी निरोग, स्वस्थ मनुष्य घ्राण इन्द्रिय से भोजन नहीं करते थे, कोई भी काल रहा हो, पर गायों ने कारण-कार्य के विषय में दुग्ध सींगों से नहीं थनों से ही दिया है। आचार्य-प्रवर अमृतचन्द्र स्वामी ने बहुत ही सुन्दर कथन किया—

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।

ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो. 33

भाव यह है कि जिनेन्द्र-देव सम्यग्ज्ञान को कार्य और सम्यक्त्व को कारण कहते हैं, इस कारण सम्यक्त्व के बाद ही ज्ञान की उपासना इष्ट है।

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।

दीपप्रकाशयोरिव, सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो. 34

निश्चय कर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों के एक-काल में उत्पन्न होने पर दीप और प्रकाश के समान कारण और कार्य की विधि भले प्रकार घटित होती है। यहाँ पर सम्यक्त्व को कारण कहा एवं ज्ञान को कार्य। सम्यक्त्व-पूर्वक ही ज्ञान सम्यक्त्व-पने को प्राप्त होता है, दोनों का समय एक होने पर भी कारण-कार्य देखा जाता है, जैसे— अन्धकार का जाना, दीपक का जलना, प्रकाश का होना, —ये तीनों कार्य युगपद् होते हैं, उनमें तो काल-भेद नहीं है, परन्तु कारण-कार्य-भेद अवश्य है। बिना कारण-कार्य-भाव सम्यक्त्व की भी सिद्धि नहीं होती, सम्यक्त्व की उत्पत्ति में अनेक कारण चाहिए पड़ते हैं, सहकारी कारणों की चर्चा अवश्य कर लें, फिर सम्यक्त्व के कारणों की बात करते हैं। कारण, हेतु, निमित्त, प्रत्यय, साधन, —ये सभी पर्यायवाची नाम हैं। भूतार्थ-नय से सर्वप्रथम यह विचार करें कि क्या सभी कार्यों के लिए सभी कारण, कारणपने अर्थात् हेतुपने को प्राप्त होंगे?... एक द्रव्य एक के लिए हेतु है, वही द्रव्य अन्य के लिए तदकार्य के लिए अहेतु भी है; जैसे पुष्ट पुरुष के लिए घृत पोषण के लिए है और वही घृत ज्वर-पीड़ित के लिए पुष्टि में अहेतु भी है।

साध्य के साथ जिसका होना निश्चित हो, वह हेतु है। जब साध्य होगा, तो वहाँ पर साधन का होना अनिवार्य है, उसके बिना साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती, यथार्थ में वही हेतु हेतु है। जिससे कार्य की उपलब्धि ही न हो, वह हेतु नहीं है। आचार्य माणिक्यनन्दि ने भी कहा है—

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।।

—परीक्षामुख, सूत्र 3/11

अर्थात् साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित है, उसे हेतु कहते हैं। अग्नि के साथ धूम का अविनाभाव तर्क-प्रमाण के द्वारा निश्चित हो जाता है, अतः धूम को हेतु कहते हैं, धूम के द्वारा पर्वत में अग्नि को सिद्ध किया जाता है, इसलिए अग्नि साध्य है। यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि साध्य और साधन में अविनाभाव संबंध होता है। सह-भाव-नियम और क्रम-भाव-नियम को अविना-भाव कहते हैं, कुछ साधन और साध्यों में सह-भाव-नियम होता है और कुछ में क्रम-भाव-नियम होता है। सह-भाव का अर्थ है साथ-साथ रहना; सह-भाव-नियम उस साधन और साध्य में होता है, जो सदा साथ-साथ रहते हैं; जैसे— रूप और रस सहकारी हैं। जब हम आम के पीले-पीले रूप को देखकर मीठे रस का अनुमान करते हैं, तो यहाँ रूप और रस में सह-भाव-नियम पाया जाता है, उसीप्रकार सह-भाव-नियम उस साधन और साध्य में भी होता है, जो व्याप्य और व्यापक है, जैसे— शिंशपा (शीशम) और वृक्ष। शिंशपा व्याप्य है और वृक्ष व्यापक है, जब हम शीशम को देखकर उसके वृक्ष का अनुमान करते हैं, तो यहाँ शीशम और वृक्ष में सह-भाव-नियम से रहता है, इसप्रकार सहचारी साधन-साध्य में तथा व्याप्य और व्यापक में सह-भाव-नियम-रूप अविनाभाव होता है।

क्रम-भाव का अर्थ क्रम से होना, क्रम-भाव-नियम उस साधन और साध्य में होता है, जो पूर्व-चर और उत्तर-चर है, जैसे— कृत्तिकोदय और शकटोदय। जब हम कृत्तिका नक्षत्र के उदय को देखकर शकट नक्षत्र के उदय का अनुमान करते हैं, तो यह कृत्तिकोदय और शकटोदय में क्रम-भाव-नियम पाया जाता है। इसी प्रकार कार्य और कारण में भी क्रम-भाव-नियम होता है, जैसे— अग्नि और धूम में क्रम-भाव-नियम है, धूम कार्य और अग्नि कारण है। जब हम धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करते हैं, तो यहाँ धूम और अग्नि में क्रम-भाव-नियम रहता है। अग्नि से धूम उत्पन्न होता है, पहले अग्नि होती है, फिर उससे धूम उत्पन्न होता है, यही इनमें क्रम-भाव है। इस प्रकार पूर्व-चर एवं उत्तर-चर साधन और साध्य में तथा कार्य और कारण-रूप साधन

और साध्य में क्रम-भाव नियम-रूप अविना-भाव होता है। यह कारण-कार्य-विधान आगम के अनुसार सर्वत्र लगाना चाहिए। सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान का कारण है, परन्तु जिस कारण से सम्पूर्ण मोक्ष-मार्ग प्रशस्त होता है, उस कारण का भी कोई कारण है, तो ज्ञानी! सुनो— सम्यक्त्व कारण भी है, कार्य भी है। जैसे-कि पुद्गल परमाणु, कार्य भी है, कारण भी है। जब कार्य रूप होता है, तब कार्य-परमाणु-संज्ञा को प्राप्त होता है, जब कारण-रूप होता है, तब कारण-परमाणु कहलाता है। तात्पर्य समझना, परमाणु जब स्कन्ध अवस्था को प्राप्त होता है, तब कार्य-परमाणु होता है, जैसे— परमाणु में कारण-कार्य-भाव है उसीप्रकार सम्यक्त्व में भी कारण-कार्य-भाव है। सम्यक्त्व जब उत्पन्न होता है, तब उसके सात कर्म-प्रकृतियों का उपशमादि अन्तरंग कारण हैं, देव-शास्त्र-गुरु का नियोग बहिरंग कारण है, उभय कारण के सद्भाव में ही सम्यक्त्व प्रकट होता है। आगम के परिप्रेक्ष्य में विषय को स्पष्ट करने हेतु और समझें, जो व्यक्ति ये कहते हैं कि सम्यक्त्व तो आत्मा का गुण है, वह स्व-गुण होने से पर-सम्बन्धों की क्या आवश्यकता है? ज्ञानियो! यह कथन उनकी प्रज्ञा की विपरीतता का प्रतीक है, बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कार्य-उत्पत्ति नहीं देखी जाती, जैसे-कि बीज के अंकुर की उत्पत्ति स्व-गुण परिणमन है, तो-फिर गोदाम में रखे धान्य के बीजों में नवीन पौधे रखे-रखे प्रति-समय क्यों नहीं उगते? ज्ञानियो! ध्यान रखो— द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का निमित्त होना परम-आवश्यक है। बीज के लिए उत्तम क्षेत्र, उर्वरा भूमि, उगने का समय भी होना चाहिए, साथ में खाद भी उत्कृष्ट हो एवं योग्य जलवायु का होना भी अनिवार्य है, उसीप्रकार आत्मा की सहज शक्ति को भी उद्घाटित होने के लिए बाह्य कारणों की परम आवश्यकता है, जैसा-कि सिद्धान्त-ग्रन्थों में क्षायिक सम्यक्त्व के लिए बाह्य साधनों का नियम उल्लिखित है।

दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो, कम्मभूमिजादो हु।

मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ।।

—गो.सा., जी., गा. 648

दर्शन-मोहनीय कर्म का क्षय होने का जो क्रम है, उसका प्रारंभ केवली, श्रुत-केवली के पाद-मूल में ही होता है तथा उसका प्रारम्भ करने वाला कर्म-भूमिज मनुष्य ही होता है। यदि कदाचित् पूर्ण-क्षय होने के प्रथम ही मरण हो जाय, तो उसकी (क्षपणा की) समाप्ति चारों गतियों में से किसी भी गति में हो सकती है। यहाँ पर शंका का

समाधान कर लेना चाहिए कि सम्यक्त्व तो आत्म-गुण है, उसके लिए पर-हेतुओं की क्या आवश्यकता है?

ज्ञानियो! सिद्धान्त-शास्त्र बोल रहा है कि क्षायिक सम्यक्त्व के लिए केवली, श्रुत-केवली का पाद-मूल चाहिए, दोनों पर-प्रत्यय हैं, फिर अब क्या कहोगे? निमित्त कुछ नहीं करता, सिद्धान्त कहाँ गया? अरे भाई! निमित्त पर-द्रव्य-रूप नहीं होता, बाह्य-निमित्त उपादान-रूप परिणत नहीं होता, परन्तु उपादान के परिणाम में सहकारी अवश्य होता है; समझो— केवली, श्रुतकेवली के मूल में परिणामों की विशुद्धि में वृद्धि होती है, बिना विशुद्ध भावों की वृद्धि के क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता; उपादान-दृष्टि से तो आत्मा की परिणति ही सम्यक्त्व है, परन्तु उस परिणति को प्रकट करने में पर-प्रत्यय अनिवार्य है।

भोग-भूमि में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता, —ऐसा नियम है, क्यों नहीं होता?..... तो ज्ञानी! क्यों का भी समाधान है, केसर की खेती मरुस्थल, मध्य भारत, दक्षिण भारत में क्यों नहीं होती है? ज्ञानी! विवेक तो लगाओ, तदनुकूल जलवायु नहीं है, उसीप्रकार भोगभूमि में क्षायिक सम्यक्त्व के योग्य-क्षेत्र स्थित नहीं है। भोग-भूमि में संयम-पालन की भी योग्यता नहीं होती, जब भरत-क्षेत्र में भोग-भूमि का काल होता है, तब यहाँ पर भी जीव चारित्र धारण नहीं कर पाता, कर्म-भूमि का अर्थ ही यह है कि जिसके सद्भाव में जीव शुभाशुभ-कर्म करके शुभाशुभ-गति में गमन करता है। जब पूर्ण-वीतराग-चारित्र से युक्त हो परम-शुद्धोपयोग में लीन होता है, कर्त्तापन से पूर्ण शून्य हो जाता है, तब यह जीव इसी कर्मभूमि से निःश्रेयस् सुख को प्राप्त होता है। विदेह-क्षेत्र में सर्व-काल जीव विदेही अवस्था को प्राप्त होता है। साधकतम साधना विदेह की प्राप्ति का रत्नत्रय धर्म है, उसे ही ग्रन्थ-कर्त्ता मूल-हेतु शब्द से उपदेशित कर रहे हैं। मूल हेतु तो निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय-धर्म ही है, परन्तु उस निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय-धर्म के लिए गति, स्थिति आदि भी आवश्यक हैं। बिना बहिरंग सहकारी कारण के अनन्त-शक्ति-सम्पन्न आत्मा भी अधः एवं ऊर्ध्व-गमन नहीं कर सकती, यदि सप्तम नरक में भी अधोगमन करे, तो भी बज्र-वृषभ-नाराच उत्तम-संहनन चाहिए तथा ऊर्ध्व-गमन सर्वार्थसिद्धि-विमान अथवा अशरीरी सिद्ध भगवान् बनकर सिद्धालय में गमन करे, तो भी उत्तम संहनन चाहिए। उत्तम देश, उत्तम वंश, सुकुल, श्रावक-ग्रह में जन्म लिये बिना जैनेश्वरी दीक्षा नहीं होती, साथ में शुभ अंग भी होना अनिवार्य है, जिसका शरीर असाध्य रोग से ग्रसित है,

वृषण-वृद्धि है व लिंग-वृद्धि है, चर्म-रहित है, ऐसा पुरुष उत्तम कुल में जन्म लेने पर भी दिगम्बर-दीक्षा का पात्र नहीं है। सुमुख एवं सुंदर देहधारी ही जिन-मुद्रा के पात्र हैं, कुल-कलंकी अथवा व्यसन से ग्रसित, लोक-मर्यादा-शून्य, राज्याधिकारी अर्थात् राजा का सेवक बिना राज-आज्ञा के जिन-दीक्षा नहीं ले सकते। ऋण-युक्त, लज्जाशील-व्यक्ति आदि भगवद्-दीक्षा के पात्र नहीं हैं, फिर जिन-दीक्षा के पात्र कौन हैं? ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

वण्णेषु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा ।

सुमुहो कुच्छारहिदो लिंगगहणे हवदि जोग्गो ।।

—प्रवचनसार, गा. 224

अर्थात् जो पुरुष तीन वर्णों में से एक वर्ण वाला हो अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो, रोग से रहित हो, तप को सहन करने की क्षमता वाला हो, प्रशस्त मुख वाला हो, वयस्क हो, न अति-बाल, न अति-वृद्ध हो, अपवाद-रहित हो, वह इस निर्ग्रन्थ लिंग को ग्रहण करने के योग्य होता है। इसप्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का होना अनिवार्य है, अन्तरंग तप की सिद्धि के लिए बहिरंग तप का होना आवश्यक है, बिना बहिरंग तप के अन्तरंग तप नहीं होता। स्वात्म-सिद्धि के लिए बहिरंग-तप भी सहकारी कारण है, अन्तरंग तप अन्तरंग सहकारी है, इसप्रकार इस श्लोक में पूज्यवर ने यह स्पष्ट कर दिया है कि एक कारण से कभी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती, निश्चय एवं व्यवहार उभय-नय, उभय-धर्म के माध्यम से ही मोक्ष-मार्ग प्रशस्त होता है, जो व्यवहार-मात्र से मोक्ष-मार्ग मानते हैं, वे अज्ञ हैं तथा वे निश्चय-मात्र को मोक्ष-मार्ग स्वीकारते हैं, वे भी अज्ञ पुरुष हैं; विज्ञ तो वही हैं, जो निश्चय-व्यवहार दोनों को मोक्ष स्वीकारते हैं।

निश्चय साध्य है, व्यवहार साधन है, इसप्रकार सर्वत्र ही कारण-कार्य-भाव को समझना चाहिए ।।१५।।

विशुद्ध-वचन

* नहीं सूझता
नेत्र-हीन को रास्ता
और
नय-विहीन को
मोक्ष का मारग..... ।

* काम करते हैं
ज्ञानी
और
विसंवाद करते हैं
अज्ञानी..... ।

श्लोक-16

उत्थानिका— शिष्य अपनी जिज्ञासा पुनः प्रकट करता है— भगवन्! इसप्रकार कर्म के विनाश के कारण-भूत बाह्य-आभ्यन्तर उपायों को अपनाने के बाद निज आत्म-भावना को कैसे भावित करें ?.....

समाधान— आचार्य-देव समाधान करते हैं—

इतीदं सर्वमालोच्य, सौस्थ्ये दौःस्थ्ये¹ च शक्तितः।

आत्मानं² भावयेन्नित्यं³, रागद्वेषविवर्जितम्॥

अन्वयार्थ— (इति इदं) इसप्रकार यह, (सर्वं) सब, (आलोच्य) आलोचना पूर्वक गुण-दोष का विचार करके, (सौस्थ्ये) अनुकूल परिस्थिति में, (च) और, (दौःस्थ्ये) प्रतिकूल परिस्थिति में, (शक्तितः) यथा-शक्ति, (नित्यं) सदा, (राग-द्वेष-विवर्जितम्) राग-द्वेष रहित शुद्ध, (आत्मानं) आत्मा की, (भावयेत्) भावना करें॥16॥

परिशीलन— चित्त की अशुद्धि व विशुद्धि जीव के चिन्तवन पर अवलम्बित है, जैसा-चिन्तवन होता है, वैसा ही चित्त होता है। जीवन की उन्नति-अवनति का प्रबल कारण चिन्तन की धारा है। जैसा चिन्तवन बनता है, वैसा ही जीवन होता है। लोक-पूज्यता व्यक्ति के चिन्तवन पर आधारित है, जैसे— दधि को मथने पर मक्खन निकलता है, जितना मथते जाओ, वैसे-वैसे मक्खन प्रकट होता है, वैसे ही तत्त्व-ज्ञानी जैसे-जैसे तत्त्व का चिन्तवन करता है, वैसे-वैसे ही सत्यार्थ-तत्त्व का अधिगम (बोध) होता-जाता है, तत्त्व-बोध, तत्त्व-निर्णय का सुंदर मार्ग तत्त्व-चिन्तवन है, बिना चिन्तवन के भूतार्थ-बोध नहीं हो पाता, तत्त्व-चिन्तवन से हृदय भी अविकार-भाव को प्राप्त होता है।

1. 'दौःस्थ्ये' के स्थान पर कुछ विद्वान् विसर्ग-रहित 'दौस्थ्ये' पाठ मानते हैं, जो व्याकरणिक दृष्टि से उचित नहीं है।
2. 'आत्मानं' के स्थान पर कुछ विद्वान् 'आत्मनः' पाठ मानते हैं, वह भी आत्मा को सम्बोधने के अर्थ में सीधे संगत नहीं बैठता और आचार्य अकलंकदेव की प्रकृति भी सीधे संगत-पाठ को रखने की ही है।
3. 'नित्यं' के स्थान पर कुछ विद्वान् 'तत्त्व' पाठ मानते हैं, वह भी सीधे-संगत नहीं बैठता, बहु-प्रति-सापेक्ष भी नहीं है, अतः उचित नहीं।

ज्ञानियो! ये मन तो एक पिशाच के तुल्य है, जैसे-कि लोक में कहा जाता है कि किसी को पिशाच जाति का व्यन्तर सिद्ध हो जाय, तो वह उस पुरुष के प्रत्येक कार्य को शीघ्र करता है, बिना कार्य के वह शान्त नहीं रहता, एक समय की बात है कि एक पुरुष व्यन्तर को कार्य बताते-बताते थक गया, उसे कोई कार्य दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था, जो पिशाच को बता सकता, वह परेशान होकर चिन्तवन करता है कि इसे ऐसा कार्य दिया जाये, जो कभी पूर्ण न हो सके। युक्ति-पूर्वक निर्णय लेता है और व्यन्तर से कहता है कि देव जब-तक आपके लिए कोई अन्य कार्य नहीं दिया जाये तब-तक इस स्तम्भ पर आरोहण-अवरोहण करो, व्यन्तर ने ऐसा करना प्रारंभ कर दिया और स्वयं को व्यर्थ के भूत से सुरक्षित कर लिया। उसीप्रकार तत्त्व-ज्ञानी निज-भ्रमित मन-पिशाच को श्रुत-स्कन्ध-रूपी वृक्ष पर आरोहित कर देता है और तत्त्व-विचार के सुन्दर फलों के समरस का पान करता है। चित्त को वश करने के लिए प्रशस्त चिन्तवन का होना अनिवार्य है, अनेक रोगों का कारण अशुभ-चिन्तवन है तथा अनेक रोगों का उपशामक भी चिन्तवन ही है। विषयों-कषायों का चिन्तवन जब चलता है, तब व्यक्ति का मन तो शीघ्र अस्वस्थ हो ही जाता है, मन के अस्वस्थ होते ही तन भी अस्वस्थ हो जाता है। जिन तत्त्व-ज्ञानियों को मन-वचन-काय को स्वस्थ रखना है, तो उन्हें चाहिए कि वे अपने चिन्तवन को स्वस्थ बनाने/बनाये रखने का पूर्ण पुरुषार्थ करें। मानसिक रोग सम्पूर्ण रोगों का निलय है, जिस व्यक्ति का शरीर अस्वस्थ रहता है, वह गृह-कार्य अच्छा नहीं कर पाता, तब आप स्वयं विचारशील हैं, विचार करें कि जो मानसिक एवं शारीरिक पीड़ा से पीड़ित है, वह मोक्ष-मार्ग रत्नत्रय की साधना क्या करेगा? यह भ्रम निकाल देना चाहिए कि साधु तो कोई भी बन सकता है, चाहे अल्पधी हो, उन्मत्त हो, रोगी हो, ऋणी हो, जिसे कार्य करना पसंद नहीं, ध्यान देना— उक्त लक्षणों से युक्त कोई पुरुष तीर्थकरों द्वारा धारण किये गये जिन-भेष को धारण करने के पात्र नहीं हैं। आचार्य भगवन्तों से प्रार्थना है, उन्मत्त पुरुष स्व-गृह वास करें, तो धर्म की हँसी नहीं होगी, पर निर्वाण-दीक्षा में उन्मत्तता दिखेगी, तब सर्वप्रथम गुरु की ही हँसी होगी, लोक में यही चर्चा होगी कि किस प्रज्ञा-विहीन शिष्य-समुदाय के लोभी गुरु ने इसे मूढ़ दिया, जो-कि विचार-विहीन, चारित्र-शून्य, आपा-पर के भेद-ज्ञान का जिसके पूर्ण अभाव है, वह धर्म एवं समाज के ऊपर भार है। तीर्थकर-मुद्रा प्रज्ञावान्, निरोगी एवं विवेक-शील को ही प्रदान करें, यह लोभ न करें कि उसका कल्याण कैसे होगा? अरे भाई! गृह-वास करते हुए दान-पूजा करना भी तो परम्परा से कल्याण का मार्ग है, जब वह वहाँ इतना कार्य

नहीं कर पा रहा, तो यहाँ महाव्रतों का भार कैसे धारण कर पाएगा?... यहाँ मुनि-व्रत धारण करके भी उन्मत्त, रागी, लोभी, कामी पुरुष कल्याण नहीं कर पाएँगे। नमोऽस्तु-शासन को दूषित ही करेंगे, इसलिए विवेकवन्त आचार्य भगवन्तों को विचार करके ही जिन-मुद्रा धारण कराना चाहिए, अति-बाल, अति-वृद्ध को आर्हत-लिंग प्रदान नहीं कराना चाहिए, जिन-लिंग-धारी को आगम-कुशल एवं लोक-मर्यादा में कुशल होना अनिवार्य है। आगम-कुशलता और लोक-कुशलता में प्रधान आगम-कुशलता है, परन्तु लोक-कुशल-होना भी आवश्यक है, क्योंकि आगम-बोध सर्व-साधारण को वही प्रदान कर पाता है, जो लोक-कुशल होता है, वीतराग-शासन का उद्योतन उभय-कुशलता से ही संभव है, कभी-कभी लोक-कुशलता के अभाव में लोकापवाद भी देखा जाता है, लोक-मर्यादा का ध्यान रखना साधु-पुरुषों के लिए अनिवार्य है, वह लोक-रुद्धि भी ग्राह्य है, जिससे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की हानि न होती हो। साधक अपने चारित्र-पालन में कठोरता का व्यवहार करते हैं, परन्तु प्राणि-मात्र के प्रति मृदुता का व्यवहार करते हैं, जगत् के आडम्बरों से निज संयम-भाव की रक्षा करते हैं। विकारों से निज भावों की रक्षा कालिया नाग के मुख-सदृश करते हैं; जैसे-समझदार व्यक्ति नाग के मुख में अँगुली नहीं डालता, उसीप्रकार संयमी पुरुष निज-धर्म से विहीन कार्यों में अपने-आपको नहीं ले जाता, वह त्रिकाल सावधान रहता है। शिशु की रक्षा का माँ प्रति-समय ध्यान रखती है, उसीप्रकार योगी-जन निजात्म-परिणामों की रक्षा का ध्यान रखते हैं। भावों को सँभालकर चलना यह योगियों की मुख्य साधना है, शेष साधना तो शरीर के द्वारा हो जाती है, परन्तु परिणामों की साधना के लिए शरीर को नहीं, भावों को सँभालने की आवश्यकता है। भावों को सँभालने के लिए भाला नहीं चाहिए, भावों को सँभालने के लिए परिणामों की विशुद्धि हेतु जागृति चाहिए। सत्यता तो यही है, सम्पूर्ण जैन वाङ्मय स्वाभाविकता की ओर ले जाता है, निसर्ग-भाव ध्रुव भाव है, भिन्न भावों से स्वतंत्रता का भाव लेना चाहिए। मैं अन्य से किञ्चित् भी बन्धता को प्राप्त नहीं हूँ, परमाणु-परमाणु निज स्वभाव में स्वतंत्र हैं, एक-मात्र ज्ञाता-दृष्टा-भाव से निहारना, पर-द्रव्यों को जानते-जानते निज-द्रव्य में लीन हो जाना —यही साक्षी-भाव है, विषयों में लिप्तता का नाम साक्षी-भाव नहीं, वह तो राग-भाव है, विकारी-भाव है। पर-भावों के साथ रहने वाला साक्षी-भाव की चर्चा तो कर सकता है, परन्तु साक्षी-भाव में लीन नहीं हो सकता, एक-मात्र चैतन्य-भगवान्-आत्मा में लीन हो जाना, आत्मा आत्मा को ही जाने, उसे ही

पहचाने, उसी की बात करे, अन्य स्त्री-पुरुष नपुंसक भावों के राग का जहाँ अभाव है, वेद-विकार जिसके शांत हो चुके हैं, परम-ब्रह्मचर्य-धर्म में जो प्रवेश कर चुका है, अशन-वसन की वासनाएँ जिसके अन्तःकरण से प्रलय को प्राप्त हो चुकी हैं, अन्य अन्य है, मैं मैं ही हूँ, कषाय-राग का भी ज्ञान नष्ट हो गया, एक-मात्र चिददशा ही अवशेष है, वह सहज-भाव आनन्द-भूत है। एक-मात्र चैतन्य-पुरुष की अनुभूतियाँ जहाँ चल रही हैं, वह परम-ब्रह्म-भाव है। धर्म-धर्मी का भेद जब-तक रहेगा, तब-तक सहज-भाव भाषा में ही होगा, जब धर्म-धर्मी, पक्ष-सपक्ष, विपक्ष का भी निज-भाव में अभाव होगा, वह निर्विकल्प-योगी की ध्यान-अवस्था सहज-भाव है, स्वानन्दीभूत परम-अमृत-पान का प्यासा जड़ नीर के विकल्पों से भी परे होता है। वहाँ फिर समझना कि सहजता में जा रहा है, शिष्य-गुरुता का भाव भी जगत् में एक पर्वत के भार-जैसा है, परम-योगीश्वर कल्याण एवं उपकार की भावना से ही दीक्षा-शिक्षा देते हैं। उसमें भी कर्त्ता-भाव की गन्ध नहीं आने देते, यही उत्कृष्ट-साधक की सावधानी है।

जब साधक सावधान हो जाता है, तब विकार समाप्त हो जाते हैं, विकारों के समाप्त होते ही विकार्य नष्ट हो जाते हैं, विकार्य (अशुभकार्य) को समाप्त करना है, तो विकारों को समाप्त करना होगा। जानियो! विकार्य की अपेक्षा लोक सर्वाधिक विकारों से युक्त है, क्षण-क्षण में विकार-भाव आ रहे हैं, जीव अन्दर के स्वभाव-धर्म को भूल रहे हैं, जो कि आत्मा की अमूल्य निधि है, जिसके सद्भाव में संयम पलता है, संयम से निर्वाण होता है। साम्य-भाव के अभाव में मनीषियो! चारित्र की गन्ध भी नहीं होती, चारित्र-शून्य-पुरुष पुरुषार्थ-सिद्धि को प्राप्त नहीं होता, पुरुषार्थ की सिद्धि साम्य-भाव से ही होगी।

आचार्य-देव ने इस श्लोक में "इति" शब्द के द्वारा सम्पूर्ण तत्त्व का निर्देश किया है, पूर्व में जो दार्शनिक सिद्धान्त एवं आध्यात्मिक कथन किया, वह सम्पूर्ण कथन "इति" शब्द से ग्रहण हो जाता है, यानी इसप्रकार जो पूर्व में व्याख्यान किया है, उसे जानकर अच्छी तरह से चिन्तवन करें, विचार करें, विचारों की अनुभूति व्यक्ति को महान् बना देती है, विचार-शील पुरुष विवेक-पूर्वक कार्य करता है, पर विचार सद्-विचार हों, तो ही.....। सद्-विचार-शील सदा सम्मान को प्राप्त होता है।

जो सभी प्रकार से श्रुत का विचार करता है, वह जीव श्रुत-सागर से भेदाभेद रत्नत्रय के रत्नों को प्राप्त होता है, तत्त्व-बोध श्रुताराधना का फल कहते हुए

आचार्यदेव कह रहे हैं, ज्ञान-फल मात्र जानना नहीं है, पूर्वाग्रह, पक्षपात, हठधर्मिता का त्याग करना है, सभी ग्रन्थों का अध्ययन भी कर लिया, अध्यात्म-शैली भी धारण कर ली, लच्छेदार तत्त्वोपदेश भी देना प्रारंभ कर दिया, अपनी वाक्पटुता से सहस्रों सुधी-जनों को मंत्र-मुग्ध करने लगे, इन सभी के होते हुए भी स्वानुभव पर दृष्टि नहीं है, तो कुछ भी नहीं है, ऊपर कहे-गये विषय सभी बहिर-भाव हैं, मान को पुष्ट करने के साधन हैं, वे कदापि स्वात्म-रमण के उपाय नहीं हैं। स्वात्म-बोध हुए बिना जगत् का ज्ञान स्वयं के लिए हित-साध्यता का साधन नहीं है, लोक में ऐसे ज्ञानी अनन्त हुए और ज्ञान की बातें करते हुए कुमरण को प्राप्त हो गए। सत्यार्थ तो यह है कि सत्य-ज्ञानी असमाधि-पूर्वक मरण को प्राप्त नहीं होते, कुमरण का कारण श्रुत-ज्ञान नहीं है, अन्यथा ज्ञानी-योगी समाधि-मरण से रहित सिद्ध हो जाएँगे, इसलिए यहाँ यह ग्रहण करना श्रुत की आराधना में श्रुत का विपर्यास करते हों, अर्थ का अनर्थ करते हों, स्वयं के विचारों को जो आगम संज्ञा देते हैं, वे जीव नियम से कुमरण को प्राप्त होते हैं। अल्पज्ञानी बने रहना, परन्तु जिन-सूत्र के विपरीत कथन कभी नहीं करना, यदि स्वात्म-समाधि की वाञ्छा है तो; क्योंकि अल्प श्रुत-ज्ञान भी सम्यक् होने पर समाधि का साधन है। भव्य-पुरुष निज-आत्मा के वैभव का ध्यान रखता है, एक पल भी निज-स्वभाव से नहीं हटना चाहता है, प्रति-क्षण वह अपने क्षीण होते आयु-कर्म के निषेकों को ध्यान में रखता है, कब हंस इस तन-पिंजड़े से निकल जाए तथा आयु-बन्ध का अपकर्षकाल आ जाए, बन्ध-काल में जैसे परिणाम होंगे, वैसा ही भविष्य का आगामी आयु-बन्ध होगा, —यह सिद्धान्त का ध्रुव नियम है, इसे कोई टाल नहीं सकता, चाहे वह इन्द्र हो अथवा जिनेन्द्र-देव भी क्यों न हों!.... स्व-आयु का भोग जीव को स्वयं ही करना पड़ता है, एक-बार आयु-कर्म का अपकर्षण तो हो सकता है, परन्तु आयु-कर्म का संक्रमण नहीं होता, यानी जिस जीव ने सप्तम नरक-आयु का बन्ध कर लिया हो, वह आयु-कर्म की स्थिति घटा सकता है, परन्तु नरक-आयु से स्वर्ग का बन्ध नहीं होगा, यह तो जीव को भोगना ही पड़ेगा।

ज्ञानियो! कर्म-विपाक का विचार करते हुए साम्य-भाव का अभ्यास करो, चाहे सुख हो, चाहे दुःख हो; मुमुक्षुओ! निज-तत्त्व-ज्ञान का उपयोग इसी स्थिति में समझ में आता है, सामान्य समय में तो सभी लोग शान्त रहते हैं, जीवन की सत्य-परीक्षा सुख-दुःख के काल में ही होती है, सुख में फूलना नहीं, दुःख में कूलना नहीं, —यह ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। पर अज्ञ प्राणी सुख के दिनों में भगवान् को भूल जाता

है; जो-कुछ है, वह-सब इन्द्रिय-सुख है और सब-कुछ निज-पुरुषार्थ समझता है, उसके अन्दर दैव की भावना पलायन ही कर जाती है, वह भूल जाता है कि बिना दैव के पुरुषार्थ कार्यकारी नहीं होता तथा यह भी सत्य है कि बिना पुरुषार्थ के दैव की भी सिद्धि नहीं होती, कार्य की सिद्धि दैव (भाग्य) और पुरुषार्थ दोनों के माध्यम से ही होती है। जब अज्ञानी के ऊपर कष्ट आता है, तो-फिर भगवान्-भगवान् कहता है, जब-कि भगवान् न किसी को दुःख देते, न किसी को सुख; जीव स्वयं ही स्व-कृत शुभाशुभ कर्मों से सुखी-दुःखी होता है। अन्य परमात्मा आदि के द्वारा न सुख दिया जाता है, न दुःख दिया जाता, अनुकूलता-प्रतिकूलता में पर-निमित्त तो हो सकते हैं, परन्तु पर-कर्त्ता नहीं होता। कर्त्ता तो जीव के पूर्व-कृत कर्म हैं, जो आज कर्मोदय में हैं, ऐसा मानकर समता को प्राप्त करो, पर को दोष देकर अभिनव कर्मों का आस्रव तो मत करो। पूर्व में किया उसका फल आज मिल रहा है, आज करोगे, तो-फिर भविष्य में भोगना पड़ेगा। अतः आगम का आश्रय लेकर तत्त्व का चिन्तन कर निज आत्मा का ध्यान करो। आत्म-तत्त्व शुद्ध-स्वभाव से युक्त है तथा काषायिक भावों से रहित है, राग-द्वेषादि विभाव-भाव औदयिक हैं, वे कर्म के उदय से आते हैं, जब कर्म ही मेरी आत्मा का धर्म नहीं है, कर्म पौद्गलिक है, आत्मा ध्रुव चैतन्य है, चैतन्य का धर्म पुद्गल तो नहीं है, जब आत्मा पुद्गल नहीं है, तो-फिर पुद्गल-कृत कार्य भी आत्मा नहीं है, अतः शुद्ध निश्चय-नय से विचार करें— राग-द्वेष आत्मा के धर्म नहीं हैं, आत्मा तो स्वभाव से ज्ञायक-भावी है, राग-द्वेष विभाव-भाव हैं, विभाव शुद्धात्म-तत्त्व-स्वरूप नहीं हैं।

अहो ज्ञानियो! एक अखण्ड चैतन्य पिण्ड ज्ञान-घन आत्म-देव को जानो, उसे ही पहचानो, उसी का ध्यान करो, यही भूतार्थ स्वभाव है, शक्ति-पूर्वक पर-भावों से सत्यार्थ-स्वरूप की रक्षा करो। ॥१६॥

विशुद्ध-वचन

* हृदय में
आस्था
और सम्यक् श्रद्धा
तो पत्थर भी
भगवान्
और
कागज भी
प्रभुवाणी / जिनवाणी..... ।

* बनते हैं विकारी
भिखारी
विकार के कारण....
इसलिए दुनिया में
अधिक हैं
भिखारी नहीं.....
विकारी..... ।

श्लोक-17

उत्थानिका— पुनः शिष्य गुरु-देव के चरणों में निवेदन करता है— भगवन्! राग-द्वेष के साथ आत्म-स्वरूप का चिन्तन करने से दोष क्या है ?.....

समाधान— आचार्य-देव स्पष्ट करते हैं—

कषायैः रज्जितं चेतः¹, तत्त्वं नैवावगाहते ।

नीलीरक्तेऽम्बरे रागो, दुराधेयो हि कौंकुमः ॥

अन्वयार्थ— (कषायैः रज्जितं) राग-द्वेष आदि कषायों से रंगा हुआ, (चेतः) चेतन, (तत्त्वं) तत्त्व रूप शुद्ध स्वरूप को, (नैवं) कभी नहीं, (अवगाहते) ग्रहण कर पाता है, (हि) क्योंकि जैसे-कि, (नीलीरक्ते-अम्बरे) नीले रंग से रंगे हुए कपड़े पर, (कौंकुमः रागः) कुंकुम का रंग, (हि) निश्चय ही, (दुराधेयः) कठिनाई से चढ़ता है ॥17॥

परिशीलन— जो आत्मा को कसे, उसका नाम कषाय है। आत्म-गुणों का घात करे, वह कषाय है; जो सत्यार्थ-स्वरूप का अवलोकन न होने दे, यथाख्यात आत्मा को उसके चारित्र-गुण से दूर रखे, वह कषाय है; जो अनेक प्रकार के कर्म-धान्य को उत्पन्न करे, वह कषाय है; जिसमें संसार-भ्रमण के फल फलित होते हैं, जो-कि दुःख-रूप है, वह कषाय है। कषाय का वेग व्यक्ति के विवेक को समाप्त कर देता है, शास्त्र-ज्ञान से तत्त्व-ज्ञान और आत्म-ज्ञान भिन्न है, शास्त्र-ज्ञान से कषाय का उपशमन नहीं होता, आत्मज्ञान यानी अन्तरंग की आत्मानुभूति, वैराग्य-परिणति ही कषाय के वेग को रोक सकती है, अन्य कोई माध्यम नहीं है। सन्तप्त लोह-पिण्ड के सम्पर्क में जो भी द्रव्य आते हैं, वह उन्हें भी जलाने लगता है, उसीप्रकार कषाय से जलता पुरुष अन्य लोगों को भी जलाने का कार्य करता है, न वहाँ पर गुरु-उपदेश कार्यकारी होता है, न प्रभु-उपदेश। देखो— मारीचि को, भगवद्-वाणी भी उसे अच्छी नहीं लगी, अर्हत् भट्टारक की समोसरण सभा को भी छोड़कर चला गया। भगवन् वर्धमान स्वामी की सभा छोड़कर चला गया, क्या कारण था?... अन्य कोई कारण नहीं, एक-मात्र कारण है कषाय से अनुरजित परिणमन। जितने भी जीव चारित्र-मार्ग

1. कुछ विद्वान् 'चेतः' के स्थान पर 'चित्तः' पाठ भी मानते हैं, चित्त मन का पर्यायवाची है, यद्यपि उसका प्रयोग चेतन के अर्थ में भी होता है, पर अधिक-प्रयोग मन के प्रसंग में ही है, अतः आत्मा के अर्थ में चेतः पाठ ही अधिक समीचीन लगता है।

से पतित हुए हैं, हो रहे हैं तथा होंगे, वे सब कषायी ही थे, कषायी ही हैं एवं कषायी ही होंगे। ध्यान रहे कि द्वीपायन-जैसे घोर साधक, चतुर्थकाल-जैसे सुकाल को प्राप्त होकर भी अशुभ दशा को प्राप्त हुए, वशिष्ठ मुनि कषाय के उद्रेक में निदान बन्ध करके अशुभ दशा को प्राप्त हुए। संसार-नाश का साधन जैसे रत्नत्रय-धर्म है, उसीप्रकार संसार-वृद्धि का कारण कषाय-भाव है। जहाँ-जहाँ जितने-जितने अंश में कषाय है, वहाँ-वहाँ उतने-उतने अंश में बन्ध-भाव असंयम-भाव है। जैसे-जैसे कषाय-भाव उपशम-भाव को प्राप्त होता है, वैसे-वैसे ज्ञानी की निर्जरा की वृद्धि होती है, —ऐसा अर्हद्-वचन है। ज्ञानियो! सम्पूर्ण कषाय जिन दो में ही अन्तर्भूत हैं, वे हैं— राग और द्वेष। क्रोध-मान —ये दो कषाय द्वेष-रूप हैं, माया और लोभ —ये दो कषाय राग-रूप हैं। सारा विश्व इनके माध्यम से भ्रमण कर रहा है, आत्म-वैभव का भान ही नहीं है। जैसा-कि आचार्य-प्रवर पूज्यपाद स्वामी ने कहा है—

राग-द्वेष-द्वयी-दीर्घनेत्राकर्षण-कर्मणा ।

अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ।।

—इष्टोपदेश, श्लो. 11

अर्थात् संसारी प्राणी इस संसार-समुद्र में अज्ञान-वश अनादिकाल से राग-द्वेष रूपी दो लम्बी रस्सियों के द्वारा खींची गई मथानी की तरह कर्मों के कारण घूम रहा है।

अहो मनीषियो! जीव समझता है कि कषाय करूँगा तो मेरा महत्त्व प्रकट होगा, पर यह विचार नितान्त असत्य है कि मेरी प्रभुता का सामने वाले को भान होगा, ध्रुव सत्य तो यह है कि प्रज्ञावान् आपकी प्रज्ञा की विपरीतता को अवश्य जान लेता है कि यह व्यक्ति स्व-बुद्धि का प्रयोग कषायिक भाव में नष्ट कर रहा है, बेचारे को कर्म-बन्ध-प्रक्रिया का ज्ञान नहीं है, संसार-भ्रमण कराये जाने के साधनों से अपरिचित है, यदि ज्ञानी होता, तो स्वयं संसार-भ्रमण के कारणों को क्यों उपस्थित करता, स्व-हस्त से स्व-पाद पर कषाय के अस्त्र का उपयोग क्यों करता, इससे ध्वनित होता है कि यह पुरुष अज्ञान-दोष से दूषित है, इसलिए बन्दर-जैसा लाल-मुख कर रहा है, जिस मुख से वात्सल्य, प्रेम, अनुराग की बूँदें टपकती हों, उस मुख पर क्रोध-कषाय-रूपी विष का सागर क्यों झर रहा है? कषायी से भयभीत तो हुआ जा सकता है, पर कषायी के प्रति आस्था की नींव नहीं रखी जा सकती, जिस पर ज्ञान-चारित्र्य का प्रासाद खड़ा किया जाता है, रत्नत्रय का भवन तो अकषायी भाव पर ही स्थित होता है। कषाय का मुख साधु-पुरुषों को अच्छा कैसे लग सकता है,

वह तो एक श्वान को भी पसन्द नहीं आता; वह भी (श्वान भी) क्रोधी व्यक्ति को देखकर भाग जाता है, वही श्वान प्रेम की भाषा भी जानता है, अपने स्वामी के पास प्रसन्न होकर पूँछ हिलाकर पहुँच जाता है और स्वामी की आज्ञा में चलता है। ज्ञानियो! भद्र-परिणामों का ज्ञान तिर्यचों में भी है, फिर नरों में न हो, ऐसा तो हो ही नहीं सकता, आप स्वयं प्रज्ञावान् हैं, अब पुरानी भूल को सुधार कर लो, कषाय दिखाकर कार्य मत कराओ, वात्सल्य दिखाकर कार्य कराना सीखो, भविष्य का ध्यान रखते हुए वर्तमान पर्याय को ही मत देखो, आप नास्तिक्यवादी तो नहीं हैं ना, जो-कि प्रत्यक्ष-प्रमाण मानने वाले हों, वर्तमान में इन्द्रिय व मन के विषयों की प्राप्ति-हेतु कुछ भी कर लो, किसने देखा नरक-स्वर्ग का भविष्य.....?..... ऐसी धारणा वाले चार्वाक यदि आप नहीं हैं, —तो मेरे मित्र! मेरी बात मान लो, अपघाती का घात करने के भी भाव नहीं करो, कर्म-फल तो सभी को प्राप्त होता ही है। फिर वह आपको या आप जिसे शत्रु-भाव से देखते हैं, उन्हें कर्म-फल क्या छोड़ देगा? ज्ञानी! ध्यान रखना— कर्म तो सभी के साथ न्याय करता है। कर्म-विपाक में कहीं भी किसी के साथ अन्याय नहीं है, जिसने जैसा-भाव किया है, उसे वैसा ही बन्ध होगा, जैसा बन्ध होगा, उसका विपाक भी तदनुसार होगा, इसमें किञ्चित् भी संशय-भाव नहीं लाना, कर्म-फल-दान-व्यवस्था किसी पुरुष-विशेष के हाथ में नहीं है, जो-कि आप कहते हैं कि मेरे लिए कष्ट क्यों, अन्य के लिए सुख, ...मेरे साथ ऐसा क्यों किया जा रहा है?..... ये शब्द तभी बोले जा सकते हैं, जब कोई अन्य सुख-दुःख का कर्त्ता होता— पुरुष या परमात्मा? पर ज्ञानी! ध्यान रखना— श्रमण-संस्कृति में अन्य-अन्य के कर्त्तापन को नहीं स्वीकारा जाता। प्रत्येक पुरुष स्व-कृत कर्मों से स्वयं का कर्त्ता है तथा स्वयं ही कर्मों के फल का भोक्ता है, —ऐसा दसवीं कारिका में ग्रन्थकर्त्ता ने स्वयं ही स्पष्ट किया है, अतः तत्त्व-ज्ञानी को प्रति-क्षण राग-द्वेष भावों से स्वयं की रक्षा करना अनिवार्य है, किसी का कुछ नहीं जाएगा, पर हे रागी! तेरा भव बिगड़ जाएगा, कल्याण व अकल्याण पर के हाथ नहीं है, भो प्रज्ञ! वह तो तेरे स्वयं के हाथ है। सहजता एवं सरलता से चिन्तन करो, जन्म-दात्री जननी भी तेरे शुभाशुभ पर कुछ नहीं कर पाएगी। जन-परिजन, पुरजन के पीछे राग-द्वेष-भाव आप करेंगे, पर ध्यान रखना— कर्म विपाक मात्र आपको अकेले ही भोगना होगा, ध्रुव आगम-वचन है, अन्य के निमित्त से राग-द्वेष ही कर सकेंगे तथा उससे हुए कर्माश्रय प्राप्त होंगे,

पर अन्य के दुःख-सुख में आप कुछ कर नहीं पाएँगे। यदि पुत्र को असाध्य रोग है, तो पिता देखता है, उसका उपचार भी करा सकता है, परन्तु पीड़ा को किञ्चित् भी नहीं भोगेगा, वह तो पुत्र को ही भोगना पड़ती है तथा शुभ करता है पुत्र, तो वह स्वर्गादि सुख को भी अकेले ही भोगता है, उस सुख को भी पिता नहीं भोग सकेगा, उसे भी पुत्र स्वयं भोगेगा, पिता न सुख में भाग लेगा, न दुःख में। ज्ञानियो! यहाँ पर ध्रुव सिद्धान्त पर ध्यान दो— प्रत्येक जीव का कर्त्ता-भोक्ता-पन स्वाधीन है, न कोई किसी के सुख-दुःख का कर्त्ता है, न भोक्ता है, मात्र हर्ष-विषाद ही एक-दूसरे के प्रति व्यक्त कर सकेंगे, इससे अधिक और-कुछ नहीं, —ऐसा निशंक-भाव से समझना।

एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।

एक्को जायदि मरदि य, तस्स फलं भुंजदे एक्को।।

एक्को करेदि पावं, विसयणिमित्तेण तिब्बलोहेण।

णिरयतिरियेसु जीवो, तस्स फलं भुंजदे एक्को।।

एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण।

मणुवदेवेसु जीवो, तस्स फलं भुंजदे एक्को।।

—बारसाणुपेक्खा, 14, 15, 16

अर्थात् यह जीव कर्म को अकेला ही करता है, अकेला ही दीर्घ संसार में भ्रमण करता है तथा अकेला ही जन्म-मरण करता है और कर्मों के फल को स्वयं अकेला ही भोगता है। विषयों के निमित्त अज्ञ-प्राणी तीव्र लोभ से युक्त होकर अकेला ही पाप-कर्म करता है और विपाक के काल में नरक तिर्यच पर्याय के दुःखों को अकेला ही प्राप्त होता है। मनुष्य, देवगति में भावों की निर्मलता से धर्म के निमित्त अकेला ही जीव पुण्य करता है, पात्र-दानादि के द्वारा उसके फल को भी स्वयं भोगता है।

अहो हंसात्मन्! शुभाशुभ गति का गमन अन्य के द्वारा नहीं होता, इसके लिए भी जीव स्वतंत्र है, जीव जहाँ भी जाना चाहे, निज-भावों की परिणति को वैसा करे, वहीं गमन होगा। यह व्यवस्था न इन्द्र के हाथ में है, न जिनेन्द्र के हाथ में; यदि है किसी के साथ में, तो जीव के स्वयं के हाथ में ही है। चारित्र-अचारित्र, ज्ञान-अज्ञान, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व में सभी अवस्थाएँ जीव के अनुसार होती हैं, जिस ओर चित्त-वृत्ति होती है, तदनुसार चारित्र की प्रवृत्ति होती है। निज-चित्त को चैतन्य की सभी अनुभूतियों का ज्ञान रहता है, तो क्या भ्रमित आत्म-परिणामों का ज्ञान जीव को नहीं

रहता? अपितु बहुत अच्छी तरह से रहता है, अशुभ में आनन्द लेता है, बुद्धि-पूर्वक अशुभ क्रिया का चिन्तवन करता है, पुण्य के सद्भाव में भविष्य का पापोदय दृष्टिगोचर नहीं होता, पर ध्यान दो— एक-एक बूँद के गिरने से विशाल घट भी खाली हो जाता है, उसीप्रकार प्रति-दिन प्रति-पल की अशुभ-प्रवृत्ति से पुण्य का घर भी खाली हो जाता है, चक्री-पद-धारी भी विषयाशक्ति से राज्य-पद में मरण-कर नरक-भूमि का स्पर्श करते हैं, फिर ज्ञानियो! आप तो पंचम काल के क्षीण-पुण्यवान् हो, क्यों स्व-वंचना कर रहे हो? पुण्य-कर्म कितना-सा कर पा रहे हो? पुण्य के फल को कितना भोग रहे हो? जितना भोग चल रहा है, उतनी साधना भी है क्या?..... अन्यथा-प्रवृत्ति करते जा रहे हो, परम समय कहता है कि सब के दिन एक-से नहीं रहते। ज्ञानी! समय पर सँभल जाओ, पुण्य की तीव्रता में असत्य भी सत्य-रूप होता अवश्य है, पर भविष्य में फल तो असत्य का भी प्राप्त होगा। कषाय अंश अपना कार्य करेंगे ही करेंगे, एक शुभ्र आत्म-परिणामों की जो दशा है, जिसके माध्यम से तत्त्व का विशद निर्णय लिया जाता है, जिस निर्णय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रकट होता है, उसका फल निर्वाण है, —ऐसे सत्यार्थ निर्णय को ही कषाय घात देती है, फिर आगे की अवस्था तो दुर्लभ है। निर्दोष संयम की आराधना करने की तीव्र भावना है, तो मायादि कषाय पर नियंत्रण करना अनिवार्य है। जब भी काम-क्रोधादि कषाय-भाव आते हैं, तो कषाय-लोक में प्रवेश करने से पूर्व आपको ज्ञात भी होता है कि मेरे भाव कषाय-लोक की ओर जा रहे हैं, भाव-लोक को ही सँभाल लेता, तो कषाय-लोक से बच जाता, —ऐसा अनन्त जिनेन्द्र का उपदेश है, —ऐसा समझना चाहिए। कषाय से अनुरंजित चित्त तत्त्व का निर्णय नहीं कर पाता, क्या-क्या अशुभ घटित हो सकता है? इस विवेक को तो भूल ही जाता है, कषाय के उद्रेक में स्व-पद, स्व-धर्म, स्व-कुल, स्व-कल्याण, स्व-यश का तो नाश ही कर लेता है, कषायी अन्धे के तुल्य होता है, अन्धे पुरुष को दिखता नहीं है कि मैं कहाँ-किससे टकरा रहा हूँ, एक बार अन्धा तो हाथ के सहारे ज्ञात भी कर लेता है, परन्तु कषायी के पास ऐसा कोई साधन दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे वह तत्त्व-बोध को प्राप्त हो जाए। कषाय के आवेश में कार्य नष्ट होने के उपरान्त विचारता है। जब नाश हो गया, तो अब क्या? शोक ही अवशेष करने को है, कार्य तो कषाय ने नष्ट कर दिया, कषाय कारण-कार्य उभय-समयसार का घातक है,

—ऐसा समझना। सर्वप्रथम तो यह समझना— जब कारण-समयसार रत्नत्रय-धर्म है, कषाय कारण-समयसार का ही जब घात कर रहा है, तो वहाँ कार्य-समयसार की बात ही समाप्त हो जाती है। कारण ही तो कार्य का सहकारी है, जैसे— रत्नत्रय-धर्म कार्य-समयसार का कारण है, वैसे ही कषाय संसार-भ्रमण का सहकारी कारण है। चारित्र-मोहनीय कर्मास्रव का कारण है, राग-द्वेष-अवस्था काषायिक अवस्था है, जब-तक यह रहेगी, तब-तक यथाख्यात चारित्र में प्रवेश हो ही नहीं सकता, —यह ध्रुव सिद्धान्त है।

अहो ज्ञानियो! बहुत सहज भाव से वात्सल्यता से युक्त होकर कह रहा हूँ कि किञ्चित् भी आपको जैन-सिद्धान्त पर आस्था है, तो यह बात परिपूर्ण सत्यार्थ समझो, कषाय के उद्रेक से स्यान्दीभूत शुद्ध संयम-स्वभाव का आनन्द नहीं आता, ग्रहण किये गये पिच्छी-कमण्डलु भी छूट जाते हैं। चारित्र-साधना में आक्रोश भाव को स्थान कहाँ? आक्रोशित व्यक्ति में चारित्र का स्थान कहाँ?.... यहाँ अन्वय-व्यतिरेक लगाना चाहिए। उपशम-भाव में ही संयम पलता है। अपने त्रैलोक्य-पूज्य चारित्र से भिन्न नहीं हो जाना, जिन साधनों से कषाय आती है, उन-उन निमित्तों में से स्वयं को पृथक् कर लेना, परंतु कषाय-भाव को अभिन्न मित्र नहीं बना लेना, वे मेरे तीव्र शत्रु हैं। संसार से ये आपको निकलने नहीं देंगे, यदि भवार्णव से निकलना है; तो अन्दर से कषाय की कालिमा को शीघ्र निकाल दो, आचार्य-देव उमास्वामी महाराज ने कहा—

कषायोदयात्तीव्र-परिणामश्चारित्रमोहस्य ।।

—तत्त्वार्थसूत्र, 6/14

अर्थात् कषाय के उदय से होने वाला तीव्र आत्म-परिणाम चारित्र-मोहनीय का आस्रव है। विपाक को उदय कहते हैं, कषायों के उदय से जो आत्मा का तीव्र परिणाम होता है, वह चारित्र-मोहनीय का आस्रव जानना चाहिए। स्वयं कषाय करना, दूसरों में कषाय उत्पन्न करना, तपस्वी-जनों के चारित्र में दूषण लगाना, संक्लेश को पैदा करने वाले लिंग (वेष) और व्रत को धारण करना आदि कषाय-वेदनीय के आस्रव हैं। सत्यार्थ-धर्म का उपहास करना, दीन-मनुष्य की खिल्ली उड़ाना, कुत्सित-राग को बढ़ाने वाला हँसी-मजाक करना, बहुत बोलने एवं हँसने की आदत रखना आदि हास्यवेदनीय के आस्रव हैं। नाना-प्रकार की क्रीड़ाओं में लगे रहना, व्रत-संयम-शील

के पालन में रुचि न रखना आदि रति-वेदनीय के आस्रव हैं। असत्य बोलने की आदत, अतिशय दूसरे के छिद्र ढूँढ़ना, बढ़ा हुआ राग आदि स्त्री-वेदनीय के आस्रव हैं। क्रोध का अल्प होना, ईर्ष्या नहीं करना, अपनी स्त्री में सन्तोष करना आदि पुरुष-वेदनीय के आस्रव हैं। दूसरों में अरति उत्पन्न हो और रति का विनाश हो, ऐसी प्रवृत्ति करना और पापी लोगों की संगति करना आदि अरति वेदनीय के आस्रव हैं। स्वयं शोकातुर होना, दूसरे के शोक को बढ़ाना तथा ऐसे मनुष्यों का अभिनन्दन करना शोक-वेदनीय के आस्रव हैं। भय रूप अपना परिणाम और दूसरे को भय पैदा करना भय-वेदनीय के आस्रव हैं। सुखकर-क्रिया और सुखकर-आचार से घृणा करना और अपवाद करने में रुचि रखना आदि जुगुप्सा-वेदनीय के आस्रव हैं। प्रचुर-मात्रा में कषाय करना, गुप्त इन्द्रियों का विनाश करना और पर-स्त्री से बलात्कार करना आदि नपुंसक-वेदनीय के आस्रव हैं। इन कारणों को अच्छी तरह ज्ञात कर उनकी प्रवृत्ति का त्याग करो, यदि चारित्र धारण करने के विचार हैं तो; अन्यथा संयम के लिए तड़फते ही रहोगे; पर, चारित्र स्वीकार नहीं कर सकोगे, सर्वप्रथम तो भोगों का राग संयमाचरण की भावना ही नहीं होने देगा, इतना जीव उन्मत्त रहता है कि उसे पूर्वापर विवेक ही जाग्रत नहीं होता कि मुझे विषयों से निज-आत्मा की रक्षा करना है, अपितु तीव्र राग के वश हुआ दुर्बुद्धि-पूर्वक विषयों का चिन्तन कर मानसिक-भोगभोगकर तीव्र चारित्र-मोहनीय कर्म का आस्रव करता है, मूढ़-बुद्धि पुरुष भूतार्थ-पुरुष को भूलकर पर-मुख हुआ विषयों की ज्वाला में तत्त्व-बोध-शून्य हो जाता है, तत्त्व-बोध ही जिसे नहीं है, वह क्या चारित्र की बात करेगा, क्यों चारित्र धारण करेगा?...बोध-विहीन के लिए संयम व्यर्थ ही लगेगा, जिसे बीज-अंकुर का ही बोध नहीं है, वह क्या बीज की कीमत समझेगा ?..... जिसे तत्त्व-बोध नहीं, वह तत्त्व को क्या समझेगा?..... भूतार्थता का ज्ञान तभी संभव है, जब कषाय-भावों में मन्दता होगी, बिना कषाय की मंदता के परिणामों की भद्रता के बिना आत्मा तत्त्व में अवगाहन नहीं कर सकती, तत्त्व के अर्थ को सर्वप्रथम समझना आवश्यक है, तत्त्व शब्द के शब्दकोश में तीन अर्थ हैं—

तत्त्वं स्वरूपे नृत्यस्य प्रभेदे परमात्मनि ।

—वान्तवर्गे / विश्वलोचन कोश / 360

अर्थात् स्वरूप, नृत्यभेद, परमात्मा, —ये तत्त्व के विश्वलोचन-कोशीय अर्थ हैं। यहाँ पर दो अर्थों को ग्रहण करना स्वरूप एवं परमात्मा, जो जीव कषाय से रंजित है, उसे वस्तु-स्वरूप का भान नहीं होता। इस अध्यात्म-शास्त्र में परम उपादेय-भूत वस्तु परम-विशुद्ध, टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक-स्वभावी, परम-पारिणामिक भगवान् आत्मा है।

कषाय परम-तत्त्व आत्मा एवं परमात्मा दोनों के ही स्वरूप-ज्ञान को चित्त में ग्रहण नहीं करने देती, जैसे— नीले रंग से रंगे हुए वस्त्र में कौंकुमी-रंग दुराधेय है, यानी चढ़ना कठिन है। उसीप्रकार अशुभ-भाव कषाय-परिणाम, चिद्-रूप पर-भाव से भिन्न आत्मा के स्वभाव-प्राप्ति में बाधक हैं।

ज्ञानियो! निजभाव से परभाव तथा जो तेरे विभाव के साधन हैं, स्त्री पुत्रादि, गुरु-शिष्यादि —ये भी तेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, कषाय के वश हों, इसलिए समझ नहीं पा रहे, ये दोष तेरे कषाय-भाव हैं। तेरे पड़ौसी के पुत्र-पुत्री तेरे नहीं हैं। अन्य परम्परा तेरे से भिन्न है, विश्वास रखो, तेरी स्व-गुरु परम्परा भी तेरे अखण्ड-आदि अन्त-रहित ज्ञायक-भाव से भिन्न है, क्यों राग में रँगकर अपने अशरीरी सहज परम-पारिणामिक भाव से निज भाव को भिन्न करता है। अहो प्रज्ञ! “आत्म-स्वभावं पर-भाव-भिन्नम्” का ध्यान कर। १७।।

विशुद्ध-वचन

* पूजी जाती उनकी वाणी
जो साधते
मौन में
और
जिन की वाणी
खिरती.... सर्वांग से....।

* होता नहीं मोक्ष
केवल मुद्रा से
होता वह तो
साधना से....तप से....।

श्लोक-18

उत्थानिका— गुरु-चरणों का अनुरागी, मुक्ति-कन्या का रागी अन्तेवासिन् स्व-कल्याणार्थ पृच्छना करता है— भगवन्! तत्त्व-ज्ञानी को कैसा बनना चाहिए?.....

समाधान— आचार्य-भगवन् शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करते हैं—

ततस्त्वं दोषनिर्मुक्त्यै, निर्मोहो भव सर्वतः।

उदासीनत्वमाश्रित्य, तत्त्वचिन्तापरो¹ भव ॥

अन्वयार्थ— (ततः) इस कारण, (दोषनिर्मुक्त्यै) राग-द्वेष, क्षोभ, व्याकुलता, क्रोधादि दोषों से छूटने के लिए, (सर्वतः) समस्त इष्ट-अनिष्ट विषयों से, (त्वं) तू, (निर्मोहो) मोह-ममता-रहित, (भव) होकर, (उदासीनत्वम् आश्रित्य) शरीर से, संसार के विषय-भोगों से उदासीन बनकर, (तत्त्वचिन्तापरः) आत्म-तत्त्व के चिन्तन में तत्पर, (भव) हो जाओ ॥१८॥

परिशीलन— आचार्य-देव अकलंक स्वामी ममत्व-भाव-रहित शून्य-स्वभाव की ओर मुमुक्षुओं को प्रेरित कर रहे हैं। शून्य का अर्थ जड़ नहीं समझना, शून्य का अर्थ-आत्मा पर-भावों से भिन्न है, पर-भाव-अपेक्षा शून्य है एवं निज-भाव-अपेक्षा अशून्य है। यह ध्रुव आत्म-द्रव्य परिपूर्ण आदि-अनन्त-रहित एक है, जिसमें हर्ष-विषाद की तरंगें नष्ट हो चुकी हैं, शुद्ध-चित्त ज्योति-भूत उद्योतमान है। प्रमाण-नय-निक्षेप के विकल्प भी जहाँ विलय को प्राप्त हो चुके हों, वह अखण्ड द्रव्य है अशरीरी भगवन् आत्मा, जिसका निज चैतन्य-रस-पान ही परम अमृत-भूत भोजन है, परम उदासीनता है, जिसमें घृत-पूरित मोदक हैं, —ऐसा परम-संवेग स्वभाव-रूप शून्य-भाव है, जड़ता-शून्य, ज्ञान-गुण में परिपूर्ण, संकल्प-विकल्प से रिक्त उद्योतमान विशद आत्म-तत्त्व है, जो-कि अन्य पर-द्रव्यों से अत्यन्त भिन्न है।

ज्ञानियो! लोक में जितने भी पदार्थ दृष्टिगोचर हैं, उन सभी पदार्थों में एक-मात्र जीव-द्रव्य एक चैतन्य-स्वभावी है, अन्य द्रव्यों से जीव-द्रव्य का अत्यन्ताभाव है, इतना ही नहीं; ज्ञानी! प्रत्येक जीव का अन्य जीव की अपेक्षा से भी अत्यन्ताभाव है, प्रत्येक जीव स्व-चतुष्टय में है, पर-चतुष्टय में नहीं है। न माता-पिता का अंश पुत्र है, जगत्

1. कुछ विद्वानों ने 'तत्त्वचिन्तापरो' के स्थान पर 'तत्त्वचिन्ता परो' पाठ भी दिया है, पर वह अर्थ व बहु-पाठ-उपलब्धता की दृष्टि से संगत नहीं बैठता।

के एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के किसी भी जीव में ईश्वर-अंश भी नहीं है, जो ईश्वर-अंश स्वीकारता है, वह प्रत्येक जीव की स्वतंत्र-सत्ता के ज्ञान से अनभिज्ञ है। प्रत्येक जीव का शुभाशुभ, दुःख-सुख स्वतंत्र रूप से प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है। दो संतानें एक पिता की हैं, फिर-भी दोनों में भिन्न-पना दिखता है, ज्ञान में, श्रद्धान में, आचरण में, धन-वैभव में, सभी क्रियाओं में पृथक्त्व भाव है, यदि ईश्वर अंश होते, तो सभी अवस्था सम होती, पर ऐसा नहीं है, अतः ध्यान रखो— प्रत्येक जीव स्वतंत्र ही है, कण-कण स्वतंत्र ही है, द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता को जाने बिना भेद-विज्ञान की भाषा अधूरी है, भेद-विज्ञान का अर्थ है— प्रत्येक द्रव्य को अन्य-अन्य द्रव्य से अन्य ही स्वीकारना, यह स्वतंत्रता कहने का मेरा आग्रह नहीं, पन्थवाद-सन्तवाद नहीं, अपितु वस्तु का स्वभाव ही है, कोई विपरीत आस्था कर भी ले, परन्तु वस्तु-व्यवस्था कभी विपरीत हो नहीं सकती, यह ध्रुव भूतार्थ है। ज्ञानियो! स्व-प्रज्ञा का सहारा लेकर ही तत्त्व का चिन्तन करना, तत्त्व-चिन्तन के लिए पर-प्रज्ञा का सहारा नहीं ले लेना, जो भी साक्षात्-अनुभूत होता है, वह स्व-प्रज्ञा का ही सत्यार्थ होता है, अन्य की प्रज्ञा से जो चलता है, वह कई जगह भ्रमित होता है, जो लोक-शास्त्रों में लौकिक जनों ने लिखकर रखा है, उसे स्वीकार नहीं कर लेना, सत्यार्थ की कसौटी पर कसकर ही तत्त्व के प्रति जिह्वा हिलाएँ, अन्यथा मौन रखना ही सर्वोपरि श्रेयस्कर है। स्वयं के अंदर क्या इतनी विचार-शक्ति नहीं है, जो-कि साक्षात् दिखायी दे रही है, पुत्र के द्वारा किया गया भोजन पिता के उदर को नहीं भरता, दोनों को अर्थात् पिता-पुत्र को पृथक्-पृथक् ही भोजन करना पड़ता है, यदि अंश-रूपता घटित होती, तो-फिर पिता के द्वारा किये गए भोजन से पुत्र की क्षुधा उपशमन को प्राप्त होनी चाहिए थी। व्यर्थ के क्लेश को क्षणार्ध में समाप्त करो, प्रत्येक जीव द्रव्य-स्वभाव से परिणत है, अन्य के द्वारा परिणत स्वीकारना जैन-दर्शन के विरुद्ध है, ऐसा कहें अथवा वस्तु स्वरूप से ही भिन्न है। कुछ अल्पधी संयम-साधना के मार्ग पर स्थित होकर भी, यों कह उठते हैं कि मिथ्या-राग के वश होकर, गुरु-शिष्य व कुटुम्ब के शरीर भले दो दिखते हों, पर हम-दोनों की आत्मा एक है। अहो! **“एक-माँहि अनेक राजत”** सूत्र का स्मरण करो, जब सिद्ध भगवान् एक में अनेक विराजते हैं, तब भी वे शुद्ध सिद्ध भगवान् कभी भी पर-रूप नहीं होते, वे स्व-चतुष्टय में ही विराजते हैं, फिर भिन्न-भिन्न देहों में रहने वाले जगत्-प्राणी एक ईश्वर-अंश किसी भी अवस्था में नहीं हो सकते। न पिता की आत्मा पुत्र में हो सकती है, ऐसे ही पुत्र पिता का अंश नहीं है, दोनों ही स्वतंत्र जीव-द्रव्य हैं, जनक-जननी के सम्बन्ध से जीव ने जन्म नहीं लिया, जीव तो

आयु-कर्म के अनुसार उत्पन्न हुआ, माता-पिता की भूमिका मात्र शरीर-निर्माण में साधन है, निमित्त-भूत है, उपादान तो संतान का आयु-कर्म तथा कर्म-नोकर्म वर्गणाओं का संघात है, अन्य कोई पुरुष विशेष का कर्त्ता नहीं है। भोले जीवो! मिथ्या भोलेपन का अब तो विसर्जन कर ही देना चाहिए। विवेक-पूर्वक प्रज्ञा का प्रयोग करो, व्यर्थ के राग के अंगारे में क्यों निज ध्रुव अखण्ड समरसी-भाव का संघात कर रहा है, प्रत्येक जीव की परिणति स्वाधीन है, पर के कर्माधीन नहीं है। स्व-कृत कर्मोदय ही फलित होता है, अन्य का अन्य में कर्म-विपाक नहीं होता, जो जिसप्रकार का बन्ध कर लेता है, उसका उदय भी स्व-कर्मानुसार ही होता है, भिन्न पुरुष का कर्त्तापन तेरे शुद्ध आत्म-द्रव्य में प्रवेश नहीं कर सकता, तेरा कर्माश्रय ही तेरे शुभाशुभ का कारण है, अन्य किसी को किञ्चित् भी स्वीकारता है, तो ध्यान रखना— तू तो घोर मिथ्यात्व की निद्रा में निमग्न है। ज्ञानी! सब-कुछ छूटने के उपरान्त भी मिथ्यात्व को नहीं छोड़ सका, तो जीवन में कुछ भी नहीं छूटा। तत्त्व-बोध में स्वात्म की बोधि करो, व्यर्थ के राग-द्वेष के दोषों से भगवती आत्मा को दूषित करते हो, तू तो चिद्-रूप प्रभुत्व-शक्ति में सम्पन्न ध्रुव भगवान् आत्मा है, तेरा अन्य से कोई भी प्रयोजन नहीं है, स्वभाव से तेरे लिए पर-पदार्थ अभूतार्थ हैं, पर के लिए तू भी अभूतार्थ है। स्व-तत्त्व ही स्व के लिए भूतार्थ है, सहज भाव से निज स्वयंभू की पहचान करो। “अहमिदम्” भाव को निजभाव से भिन्न देखो, —“अहमिदं ममेदं” भाव ही संसार के साधन हैं। न संघ निज स्वभाव है, न साथी, गृह, दारा, पुत्रादि गृहस्थ-अपेक्षा पर हैं, शिष्य-शिष्याएँ, भक्तों की भीड़ भी निज-धर्म से भिन्न हैं। भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी के शब्दों पर ध्यान दो—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेवको ।

इदि जो ज्ञायदि ज्ञाणे सो अप्पाणं हवदि ज्ञादा ।।

—प्रवचनसार, गा. 203

अर्थात् मैं दूसरों का नहीं हूँ और न दूसरे मेरे हैं, एक ज्ञान-स्वभाव वाला हूँ। इसप्रकार जो ध्यान में आत्मा को ध्याता है, वही आत्मा का ध्याता है।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि ।

इदि णिच्छिदो जिदिदो जादो जधजादरूपधरो ।।

—प्रवचनसार, गा. 204

अर्थात् न मैं दूसरों का हूँ और न ये लोग मेरे हैं, इसप्रकार भाव करने वाला जितेन्द्रिय यथा-जात-रूप को धारण करने वाला होता है।

यथा-जात-रूप का आनन्द तभी आता है, जब जीव तन के नग्न होने के साथ-साथ राग-द्वेष दोष से निज अन्तःकरण को भी स्व-पुरुषार्थ से नग्न कर लेता है, बिना अन्तःकरण की नग्नता के तन की नग्नता किंशुक-पुष्पवत् सुगन्ध-शून्य सुंदरता है, —ऐसा समझना। सर्वप्रथम पुरुषार्थ मोक्ष-मार्ग में राग-द्वेष का अभाव करने का होना चाहिए, द्रव्य-लिंग प्राप्त होते ही भीतर के बोध पर शोध प्रारंभ कर देना चाहिए। तन-साधना में तीव्रता दिखने लगी, लेकिन मन के अंदर उत्पन्न होने वाली राग-द्वेष की लहरें बराबर स्फुटित हो रही हैं, उन पर कोई नियंत्रण का विचार भी यदि नहीं आ रहा, तो समझना मैं उभय-मार्ग से च्युत हो गया, गृही-मार्ग, मुनि-मार्ग से। राग-द्वेष के सद्भाव में सहज-भाव का अभाव रहता है, राग-भाव सोपाधिक भाव है, सहज-भाव निरुपाधिक भाव है, पर-भावों से भिन्न जो सत्यार्थ-स्वरूप वस्तु का है, वह तो सहज-भाव है, जो अन्य में अन्य का निमित्त-भाव है वह औपाधिक दशा है। निरुपाधिक दशा ही पारिणामिक-भाव है, जो-कि छहों द्रव्यों में विद्यमान है। औपाधिक जो दशा है, वह औदयिक दशा है, अज्ञानी जीव सम्यग्रूप से सत्य की गवेषणा किये बिना, प्रवचन का अध्ययन किये बिना प्रवचन देना प्रारम्भ कर देता है। यह स्व-पर का शत्रु-भाव समझना, जो वक्ता अर्हद्वचनों का ज्ञाता नहीं, वह अर्हत्-सूत्र पर क्या व्याख्यान करेगा, अर्हत्-सूत्रों का सतत अभ्यास करने वाला ही सत्यार्थ-मार्ग का प्रतिपादक होता है, वह स्व-पर का कल्याण करता है। जो तत्त्व-ज्ञान-शून्य पुरुष हैं, वे भूतार्थ-आत्म-तत्त्व का बोध नहीं दे सकते।

आचार्य-प्रवर अकलंक स्वामी ने बहुत सुंदर कथन किया है कि वक्ता स्व-पर का कल्याणकारी होता है, वह जगत् के कल्याण में परम-सहायक होता है, यदि श्रुताराधना-पूर्वक वचन बोलता है, तो अवश्य ही वह ज्ञान भी फल-रूप चारित्र, चारित्र के फल-रूप निर्वाण-दशा को प्राप्त करता है, जैसा-कि कहा भी गया है—

प्रवचनपदान्यभ्यस्यार्थास्ततः परिनिष्ठितान्-

असकृदवबुद्धेद्वाद्बोधाद् बुधो हतसंशयः।

भगवदकलङ्कानां स्थानं सुखेन समाश्रितः

कथयतु शिवं पन्थानं वः पदस्य महात्मनाम्॥

—लघीयस्त्रय, श्लो. 78

अर्थात् प्रवचन के पदों का अभ्यास करके तथा प्रवचन में वर्णित जीवादि पदार्थों को संकर-व्यतिकर आदि दोषों से रहित निर्मल ज्ञान के द्वारा पुनः-पुनः चिन्तन करके संशय रहित हुआ यह ज्ञानी भगवान् अरहन्तों के स्थान को प्राप्त होकर आप-सब-को

महात्माओं (सिद्धों) के पद को प्राप्त कराने वाले मोक्ष-मार्ग का सुख-पूर्वक उपदेश करे। आगम को प्रवचन भी कहते हैं, प्रवचन के पदों का अभ्यास करने से ज्ञानी जीव प्रवचन में प्रतिपादित तत्त्वों को अपने निर्मल ज्ञान के द्वारा सम्यक् रीति से जान लेता है और इससे उसका सब प्रकार का संशय दूर हो जाता है। इसतरह प्रवचन के पदों का अभ्यास करने से ज्ञानी जीव श्रुत-ज्ञान में पारंगत हो जाता है, तदनन्तर मोक्ष-मार्ग में क्रमशः आगे बढ़ता हुआ शुक्ल-ध्यान के द्वारा चार घातिया कर्मों का क्षय करके निष्कलंक अरहंत परमात्मा बन जाता है। इसके अनन्तर अरहन्त परमात्मा (केवली जिन) समागत भव्य-आत्माओं को मोक्ष-मार्ग का उपदेश देते हैं, आगम के अभ्यास का यह परार्थ-सम्पत्ति-रूप फल है।

मुमुक्षुओ! सम्यक्-तत्त्व-ज्ञाता सत्यार्थ-तत्त्व का उपदेशक श्रेष्ठ पुण्य का संचय करता है, स्व-पर उपकारी होता है, जो पुरुष तत्त्व-ज्ञान-शून्य आत्म-साधना भी कर ले, पर तब भी वह साधक स्वयं का कल्याण भी नहीं कर पाता, न पर के कल्याण में सहकारी हो सकता है। कुछ ऐसे जीव हैं, जो आत्म-तत्त्व से युक्त हैं, परंतु पर को उपदेश देने की सामर्थ्य नहीं रखते, वे अपना कल्याण तो कर लेते हैं, परंतु श्रमण-संस्कृति के उत्थान में उनका कोई स्थान नहीं होगा, वे स्वार्थी ही होंगे। परमार्थ से जो अच्छा है, लेकिन व्यवहार-तीर्थ के लिए एवं निश्चय-तीर्थ के लिए दोनों ही तीर्थों की प्रवृत्ति में उनका ही सहकारी-पना है, जो तत्त्व-ज्ञान सम्पन्न होकर श्रेष्ठ तत्त्वोपदेशक भी हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा ही श्रमण-संस्कृति पूज्यता को प्राप्त हुई है, ज्ञानी-जनों के प्रति बहुमान अनिवार्य है तथा सच्चे मौन-साधकों की आराधना भी कर्म-निर्जरा का कारण है, ज्ञानियों को साधकों का बहुमान रखना अनिवार्य है, साधकों को भी ज्ञानी-जनों का बहुमान रखना चाहिए। एक निश्चय-तीर्थ की वृद्धि में है, तो एक व्यवहार-तीर्थ, दोनों तीर्थों की प्रवृत्ति ही मोक्ष-मार्ग है, एक के बिना दूसरे की सिद्धि नहीं होती, —ऐसा समझना चाहिए। सरिता तो दो तटों के बीच ही प्रवाहित होती है, एक-एक तट से कभी भी किसी भी देश, काल, क्षेत्र में सरिता का बहाव नहीं देखा जाता है, यह बात आगम-प्रमाण के साथ लोक में प्रत्यक्ष दृष्टित्गोचर भी है। उभय नय ही तत्त्व-बोध के साधन हैं, एकान्त में दूषण है। वक्ता को चारों अनुयोगों का ज्ञान रखना अनिवार्य है। एक अनुयोग की रुचि कभी भी तत्त्व के पूर्ण ज्ञातापन की पहचान नहीं है। चारों के अध्ययन होने पर फिर भले ही एक पर रुचि रहे, परंतु ज्ञान चारों का होने से किसी भी अनुयोग को स्व-स्व-लक्षण से अभूतार्थ तो नहीं कहेंगे। चारों अनुयोग स्व-विषय की अपेक्षा से भूतार्थ ही हैं, जिस अनुयोग का जो

विषय है, वह अनुयोग उसी की प्ररूपणा करता है, पर भिन्न अनुयोग का निषेध नहीं करता, पर अज्ञ जीव एक अनुयोग विशेष पर दृष्टि करके, दूसरे अनुयोग के विषय पर विपरीत अभिप्राय करके, श्रुत का अवर्णवाद करके दर्शन-मोहनीय कर्म आस्रव को प्राप्त होते हैं। संसार की दीर्घा में अपना नाम स्वयं अंकित करा लेते हैं, जब विपाक-काल आता है, तब गंगा-यमुना-जैसी नयनों में अश्रु-धारा बहाते हैं, आस्रव-काल में ही स्वयं को सँभालकर रखते, तो-फिर क्यों व्यर्थ में अश्रुपात करना पड़ता। पूर्व पुण्योदय के मध्य जीव सत्य-स्वरूप को भूल जाता है, अनागम को आगम की श्रेणी में रखने का कुप्रयास करता है, पर जब अन्तिम समय जीव का आता है, तब हाय-हाय करके श्वास निकलती है, तब मालूम चलता है कि अनागम के कथन में कितना कष्ट होता है, असमाधि-पूर्वक मरण होता है और दुर्गति में गमन होता है, फिर याद आती है कि मैंने स्व-प्रज्ञा के बल पर श्रुत का विपर्यास किया था, उसी का परिणाम आज प्रत्यक्ष में अनुभूत हो रहा है।

ज्ञानियो! विश्वास रखना श्रुत का अवर्णवाद करने वाला आत्म-शान्ति को प्राप्त नहीं होता। साम्य-भाव से समाधि तो उसकी संभव ही नहीं है। सर्वप्रथम वक्ता को चाहिए कि शब्द-माधुर्य के साथ अर्थ की भूतार्थता पर दृष्टि रखे; अन्यथा वक्ता के सम्पूर्ण शब्द किंशुक (टेशु) के फूल समान ही रहेंगे। मनीषियो! जो किंशुक पुष्प हैं, वे देखने में बहुत सुंदर लगते हैं, परन्तु सुगन्ध-विहीन होते हैं। इसीप्रकार कुछ वक्ता, कवि शब्द-सौष्ठव तो अच्छा करना जानते हैं, पर अर्थ-शून्य होते हैं। शब्दागम अर्थागम के लिए है, जिस शब्दागम में अर्थागम नहीं है, वह शब्दागम चैतन्यता-रहित शरीर के सदृश समझना चाहिए।

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने ग्रन्थों में वस्तु स्वरूप का कथन करते हुए सर्वत्र यह कहा है कि द्रव्यों का परिणमन सहज है, सहज स्वभाव पदार्थ का है, अतः व्यर्थ के राग-द्वेष का त्याग कर परम-उदास-भाव का आश्रय लो। पर अज्ञ प्राणी सहज स्वरूप के स्वरूप को ही नहीं समझ पाये और स्वच्छन्द प्रवृत्ति में प्रवृत्त हो गए, अहो! छद्म प्राणियों ने कैसे जिन-वचन के साथ स्व-वचनों की पुष्टि कर निज प्रज्ञा के व्यभिचार का विचार किया है। अर्थ की वंचना कोई क्या करेगा, स्वयं की, पर की ही वंचना होगी, शब्द का स्वयं के अनुसार अर्थ कर लेने से वस्तु वैसी तो नहीं होती, न सत्यार्थ-भूत शब्द का अर्थ ही वैसा होता है। शब्द, अर्थ और पदार्थ का स्वरूप जैसा है, वैसा ही रहेगा, किसी के द्वारा अन्यथा कहने से पदार्थ अन्यथा-रूप नहीं होता, वह तो जैसा रहता है, वैसा ही रहता है, किसी के अन्तःकरण

में एक प्रश्न खड़ा हो सकता है कि बार-बार इस विषय को क्यों कहा जा रहा है? ज्ञानियो! ध्रुव सत्य तो यह है कि जीव के अंदर असत्यार्थ के संस्कार अनादि से विद्यमान हैं, उन्हें बार-बार कहने पर ही निकाला जा सकता है, पर के विपरीत अभिप्राय को बदलना पुरुषार्थ-साध्य कार्य है। एक घन से पत्थर नहीं टूटता, शिल्पकार बार-बार चोट मारता है, संस्कार पड़ते-पड़ते कठोर-पाषाण भी टुकड़े-टुकड़े होकर टूट जाता है। कोमल रस्सी के पुनः-पुनः घर्षण से शिला पर भी निशान आ जाते हैं, उसीप्रकार अनेक भवों के विपरीत अभिप्राय को परिवर्तन कराने के लिए पुरुषार्थ तो करना ही पड़ता है। एक भव में कोई नहीं संभल पाया, तब भी दुःखित होने की आवश्यकता नहीं, तब भी यह विचार नहीं करना कि पुरुषार्थ व्यर्थ गया। ज्ञानी! पुरुषार्थ व्यर्थ नहीं गया, कठोरता में निशान आने के संस्कार में भी समय लगता है, उसीप्रकार जिन जीवों ने अनादि मिथ्यात्व को ही पूजा है, उन्हें बदलने में समय तो लगता है, पर अपने सम्यक् पुरुषार्थ में न्यूनता नहीं लाना, वीरों का कार्य तो होकर ही रहता है, अनादि की अविद्या का नाश होने में समय तो लगेगा, पर आवश्यकता है बार-बार सम्यग्-उपदेशों की, इसलिए बार-बार वस्तु-स्वतंत्रता का ध्यान दिलाना ही चाहिए, साथ ही यह ग्रन्थ अध्यात्म-शास्त्र है, जिसे आगम में भावना-ग्रन्थ भी बोला जाता है। भावना का अर्थ ही यह है कि जिसे बार-बार भाया जाए, इसलिए यहाँ पर बार-बार वस्तु-स्वतंत्रता का कथन करने का उद्देश्य है, जिससे अनादि के पर-भावों में निजभाव के मनाने की परम्परा का नाश हो जाये और निज सत्यार्थ-भाव पर ही जगत् का लक्ष्य स्थिर रहे। परम सत्यार्थ की चर्चा प्रारंभ करते हैं, लोक का ज्ञान मोह-बद्धता से युक्त है, उसकी कर्म-बन्धता पर दृष्टि नहीं है, नीति की बात कर लेता है, जीव क्या कहता है? मेरा भी भाग है? अमुक वस्तु में से, आपको मुझे देना चाहिए, —ऐसा कहकर विसंवाद करता है, राग-द्वेष की वृद्धि करता है, ...पर ज्ञानियो! ध्यान दो— जो हिस्से की बात करते समय नीति की भूतार्थता को तो देख रहा था, लेकिन विसंवाद के कारण जो अशुभ भाव हो रहे थे, वे अत्यन्त हेय-भाव थे, उनकी अभूतार्थता पर दृष्टि नहीं गई, स्वयं को कुशल स्वीकारता रहा कि मैं अन्य से अपना हिस्सा लेने के लिए स्व-प्रज्ञा का कितना सुन्दर प्रयोग करना जानता हूँ, पर मुमुक्षु भूल गया कि हिस्सा तो लाभान्तराय-कर्म के क्षयोपशम से मिलेगा, यदि वह नहीं है, तो विश्वास रखो कि विसंवादों से द्रव्य मिलता होता, तो-फिर सभी लड़ने वाले सम्पन्न ही होते और व्यर्थ में अर्थ के लिए पुरुषार्थ क्यों करते?

अहो! क्या अज्ञानता है, कषाय से द्रव्य मिलता है कि पुण्योदय से?.....मोही की वृत्ति भी विचित्र होती है, गंभीरता से विचार करो— राग-द्वेष के हेतु से निजात्मदेव की रक्षा करो, सत्यार्थ स्वरूप की भाषा से असत्यार्थ-विषय-कषाय की पुष्टि करके तत्त्व का विपर्यास नहीं करो। सहज-भाव का अर्थ सहज-भाव से ही करो, सहज-भाव को असहज-भाव करने का प्रयास नहीं करो।

ज्ञानियो! अब निर्मल एवं स्थिर चित्त से सहज-भाव पर विचार करो, जो त्रैकालिक ध्रुव वस्तु का स्वभाव है, वह सहज है, पारिणामिक-भाव जो-कि छहों द्रव्यों में अनादि व अनन्त रूप से विद्यमान है, वही किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं कराया गया है, वह सहज-भाव है। जीव-द्रव्य की अपेक्षा से ही समझें, तो जीवत्व-भाव, भव्यत्व-भाव, अभव्यत्व-भाव इन भावों का न तो उदय होता है, न उपशम, न क्षय, क्षयोपशम होता है, पारिणामिक-भाव औदयिक-भाव नहीं हैं, जितने भी औदयिक-भाव हैं, वे कर्म-सापेक्षता से देखें, तो सहज-कर्म भी विपाक है, —ऐसा कहा जाता है, परन्तु कर्म-निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के आश्रय से कथन करेंगे, तो वही भाव असहज दिखेगा। ज्ञानियो! यहाँ विशेष बात तो यह समझना कि पानी की शीतलता सहज है, परन्तु उष्णता सहज नहीं है, चाहे खुले आकाश में आदित्य की किरणों से उष्ण हुआ हो, लेकिन सहजता में नहीं रहा, गर्म जल असहज है, कारण क्या है? वह उष्णता सूर्य व अग्नि के सापेक्ष है, पानी की उष्णता सोपाधिक है, पानी की शीतलता निरुपाधिक है, जो सोपाधिक है, वह सहज कैसे?.....वह तो पर के आधार से भिन्नत्व-भाव से युक्त है, उष्णता अग्नि-द्रव्य की है, पानी तो स्पर्श मात्र से उष्ण हो गया, अग्नि के उष्ण-धर्म से पानी उष्णता को प्राप्त हुआ है, अग्नि-संयोग के पृथक् होते ही पानी अपने सहज-भाव में शीतलता को प्राप्त हो जाता है, उसीप्रकार जीव-द्रव्य में क्षमादि-भाव त्रैकालिक सहज भाव हैं, क्रोधादि विकारी-भाव सहज-भाव नहीं हैं। जो भाव आकर नष्ट होते हैं, वे सभी भाव असहज हैं, जो त्रिकाल विद्यमान रहें, वे ही मात्र सहज संज्ञा को प्राप्त हो सकते हैं तथा पर-उपाधि से निरपेक्ष-भाव ही सहज भाव हैं। सहजानन्दी भगवान् आत्मा ध्रुव, ज्ञायक-स्वभावी, अविकारी, शुद्ध, चिद्रूप, निरुपराग व सहज-भाव है, परन्तु लोक कितना तत्त्व-ज्ञान से विमूढ़ है आत्म-तत्त्व को नहीं जानने वाले अज्ञ प्राणी अपने-आपको दर्शन-शास्त्री कहने वाले भी बिना नय-विवक्षा के सम्यग् बोध को प्राप्त नहीं हो पाते, उन्हें कर्म-लिप्त अशुद्ध आत्मा में ही सम्पूर्ण आत्मा का धर्म दिखायी देता है। इतना ही नहीं, जहाँ तत्त्व की गंभीर भूल है, उसे सर्व-प्रथम समझो— लोक कितना भ्रम में लिप्त है, द्रव्य-मिथ्यात्व

त्याग करने की बात तो सभी ज्ञानी-जन करते हैं, पर भाव-मिथ्यात्व के बारे में भी विचार करो— कोई गुरु-कृपा से सभी कार्य की सिद्धि करा रहे हैं, तो कोई प्रभु-कृपा से कार्य पूर्ण करा रहे हैं, स्वयं के किये कर्म कहाँ जाएँगे?... भक्ति की भाषा तो हो सकती है, परंतु सिद्धान्त नहीं है; ये कहना "जैन-सिद्धान्त" के विरुद्ध है कि गुरु-कृपा से सहज-कार्य हो रहा। कार्य लौकिक हो या पारमार्थिक, —ये दोनों कार्य कर्त्ता के पुरुषार्थ एवं पूर्व-कृत शुभाशुभ, पुण्य-पाप के उदय की अपेक्षा रखते हैं, अज्ञ-प्राणी शुभ को भी सहज कह रहा है और अशुभ को भी सहज कह रहा है। यह अविज्ञता की चरम सीमा है। एक हिंसक कुशील सेवी भी कहने लगा, मैं तो कुछ करता नहीं, जैसे— मकड़ी जाला सहज बनाती है, उसीप्रकार विषय-कषाय-रत-जन्य-अवस्था सहज है और प्रभु-कृपा से भोग्य-सामग्री भी सहज प्राप्त है, इसलिए मैं स्त्री आदि का भोग-कर्त्ता नहीं, सहज-वेद व्यवस्था है। हाय! हाय! हाय! ये घोर ईश्वरवादी एवं चार्वाकवादी के तुल्य ये सहजवादी मिथ्यात्व कहाँ से प्रकट हो गया। शील, संयम, तप के धातक ये वचन-समूह उदासीनता का आश्रय दिला पाएँगे क्या? ...और उदासीनता के अभाव में क्या दीनता से विमुक्त हो पाओगे? अब्रह्म सहज-भाव हो गया, तो ब्रह्मचर्य असहज हो जाएगा, सहज-स्वभाव से मुक्ति मिलती है, फिर-तो लोक में हिंसक, चोर, असत्यभाषी, कुशील-सेवी, परिग्रही उसी भव से सिद्ध-गति में गमन करेंगे, —यह एक प्रश्न है?.....नरक जाने वाले कौन हो सकते हैं, स्वयं विचार करें?.....आपके कुटिल सिद्धान्तों में और ईश्वरवादी के कर्त्तापने में कोई भेद नहीं दिखता। ईश्वर-कर्त्ता-वादी कुछ भी करे, सभी कार्य ईश्वर के नाम पर छोड़ देता है, वह कहता है कि सभी ईश्वर की कृपा से हो रहा है, इसीप्रकार सहज-वादी कुछ भी कर ले, सब सहज है, ज्ञानी! पाप का बन्ध कर क्यों दुर्गति का भाजन बनता है, क्या एक सौ अड़तालीस कर्म-प्रकृतियों के आस्रव, बन्ध एवं अनुभाग का ज्ञान नहीं है?.....जो भी वेद आदि विकार उत्पन्न हो रहे हैं, वे सहज-भाव से नहीं हैं, कर्म-कृत भाव-कर्म का विपाक है, कर्म-बन्ध का कर्त्ता जीव स्वयं है, यदि वेदादि विकार सहज-भाव हो गये, तो वह जीव का स्वभाव कहलाएगा, स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता, वह तो त्रैकालिक होता है, फिर अनन्त शुद्ध सिद्ध परमात्मा में भी स्वीकार करना होगा, यदि सिद्ध में विभाव-भाव विद्यमान है, तो-फिर परमात्मा कैसे? और परमात्मा है, तो विभाव-भाव कैसे? दोनों अवस्थाओं में विरोध-भाव है, अतः ध्यान दो कि विकारी-भाव सहज-भाव नहीं, असहज विभाव ही राग-द्वेष की अवस्था है, जो-कि साधु-स्वभाव भी नहीं है। विकारी-भाव को सहज-भाव कहकर

संतुष्ट हो गया, तो कभी शील-संयम का पालन नहीं होगा, 'साधु' शब्द शब्दकोश से समाप्त हो जाएगा, व्यभिचार की सीमा नहीं होगी, लोग जैसे भोजन करना व्यक्ति का सामान्य धर्म मान बैठे हैं, वैसे ही अब्रह्म को भी सामान्य मान बैठेंगे। जबकि जैनदर्शन भोजन करने को भी असाता-कर्म की उदीरणा ही मानता है, भोजन करना भी विभाव-भाव है, भोजन भी छोड़ा जा सकता है, कोई अनिवार्य धर्म नहीं है। कवलाहार मोहनीय-कर्म के सद्भाव में ही संभव है। मनीषियो! यों कहें कि— प्रमत्तदशा तक ही भोजन है, अप्रमत्तदशा में आहार-संज्ञा का ही अभाव है। वहाँ कथञ्चित् आहार करते-करते साधक अप्रमत्त दशा को भी प्राप्त कर सकता है। जहाँ निर्विकल्प-ध्यान दशा है, वहाँ न भोजन का विकल्प, न पानी का। जहाँ ध्यान-ध्याता-ध्येय का विकल्प नहीं, वहाँ योगी रोटी के टुकड़ों में अपने उपयोग को कैसे ले जाएगा? धन्य है अप्रमत्तयोगी की दशा, ...जहाँ राग-द्वेष विकल्पों के सविकल्प-भाव का अभाव है। ममत्व-परिणाम का विसर्जन कर दिया है, सारे विश्व के राग-द्वेष का मूल कारण ममत्व-परिणाम है, जो जीव ममत्व-भाव का त्याग-कर देता है, तो वह परम पारिणामिक भावों की ओर अग्रसर हो जाता है, जहाँ ममत्व-भाव है, वहाँ समता की बात करना अग्नि में कमल-वन का देखना समझना चाहिए। अहो प्रज्ञ! राग-द्वेष दोष से रहित होकर निर्मोह दशा को प्राप्त करो, मोह-भाव भले नहीं है, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव भी मोह के मद में उन्मत्तवत् देखे गये हैं। सर्व-प्रथम देखो चक्री-भरत को, जिन्होंने चक्र के मद में आकर अहो! बाहुबली-जैसे महायोगको धारण करने वाले अनुज पर सुदर्शन-चक्र चला दिया था, भैया! चक्री यह भी भूल गये कि चक्र कुटुम्ब पर नहीं चलता, चक्रवर्ती भरतेश आवेश में विवेक छोड़ बैठे और भाई पर चक्र चलाने के कलंक से प्रथम चक्रवर्ती कलंकित हो गया।

ज्ञानियो! दोनों भाई कर्म-कलंक से तो रहित हो गये पर भाई ने भाई पर द्वेष-भाव की आँख खोली थी, वह कलंक इतिहास के पृष्ठों पर अमिट हो गया है, उसे समाप्त करने की शक्ति किसी के अन्दर नहीं है, मान-कषाय के राग ने ऐसा द्वेष उत्पन्न किया कि एक श्रेष्ठ भ्राता ने अपने ज्येष्ठपने को ही नहीं श्रेष्ठपने को भी छोड़ दिया। एक क्षण भरतचक्री के उस क्षण के भावों को देखा जाय, तो कितने कालुष-भाव रहे होंगे, कषाय की तीव्रता का इससे बड़ा दृष्टान्त क्या होगा?..... दूसरी ओर राग की चरम-सीमा देखो— श्रीराम एवं लक्ष्मण का भ्रातृ-प्रेम कि भाई की मृषा-मृत्यु के समाचार सुनने मात्र से ही नारायण लक्ष्मण ने अपने प्राणों का त्याग कर दिया, अनुज के राग में बलभद्र राम, लक्ष्मण के मृत शरीर को अपने कन्धे पर रखकर

छः माह तक भ्रमण करते रहे, कोई उन्हें समझाए भी तो उसे अशुभ मानते थे, जब कषाय-मोह का उपशमन हुआ, तब देखो— चक्री भरत एवं बलभद्र श्रीराम दोनों उग्र तपस्वी हुए एवं कैवल्य प्राप्त कर परम-निर्वाण-दशा को प्राप्त कर सिद्ध हो गये। मन-वचन-काय तीनों से ही ममत्व का त्याग करो, अल्प-राग भी दीर्घ संसार का कारण है, ऐसा समझना, मोह-सहित दीर्घ श्रुताभ्यास भी संसार की संतति को न्यून करने में सहायक नहीं होता। मुमुक्षु! निर्मोही का अल्प-श्रुताभ्यास भी मोक्ष का कारण है, इसलिए आत्म-हितैषी को चाहिए कि वह नित्य ही एकत्व-विभक्त्य निज आत्मा को वेदे, अन्य पदार्थों को हेय-उपादेय-ज्ञेय रूप से ही देखे, किन्तु यथार्थ परम-उपादेय एकमात्र विशुद्ध आत्मा ही है।

आचार्य-प्रवर आगे कहते हैं कि उदासीनता का आश्रय लो; ज्ञानी! लोक विचित्र है, उदासीनता का सत्यार्थ बोध न करके, उदासीनता का अर्थ मुख फुलाकर बैठना समझ बैठे, धर्म-धर्मात्माओं को देखकर भी जिनके चेहरों पर प्रमुदित भाव नहीं आ रहे, काषायिक भाव, अहं-भाव, ईर्ष्या-भाव का नाम उदासीनता-भाव नहीं हैं, निज की सहजता को खो देना भी उदासीनता नहीं है। नवीन साधक विचार करते हैं, कहीं लोग मुझे चंचल-स्वभावी न मान लें, इसी कारण वे अप्राकृतिक उदासीनता को धारण कर लेते हैं, पर विश्वास रखना कि वह उनकी प्रकृति चन्द्र दिनों की ही है, शीघ्र उस उदासीनता की मृत्यु हो जाती है और पुनः हास्य-कषाय अपना स्थान स्थापित कर लेता है, देखने वाले भी आश्चर्य-चकित हो जाते हैं— अहो! गंभीर साधक यकायक मुखर कैसे हो गया? जबकि वे गंभीर हुए ही नहीं थे, वे तो उदासी के कवच को धारण किये थे, जैसे शीत-मौसम में व्यक्ति कोट को धारण कर लेते हैं, परंतु ग्रीष्म-काल में उसे उतार देते हैं, वैसे ही जो जीव उदासीनता के अर्थ को नहीं जानते, वे भावुकता के मौसम में गंभीरता के कवच को धारण कर लेते हैं, भावुकता शीघ्र समाप्त हो जाती है, भावुकता गई, गंभीरता भी उनकी गई। यथार्थ में गंभीरता एवं उदासीनता दोनों में सहजता होती है, भावुकता का कार्य नहीं है, चंचलता से रहित जो स्वाभाविक अवस्था है, वह गंभीरता है और वात्सल्य-अनुराग के साथ विषय-कषायों एवं उनके कारणों से निजात्मा की रक्षा करना, धन एवं धरती के राग से पूर्ण पृथक् जीवन जीना। साधकों का जो जीवन है, वह श्री एवं स्त्रियों दोनों से दूर है, प्राणी मात्र के प्रति साम्य-भाव रखने वाला है, उदासीन-भाव रूप है। अग्नि, विष, सिंह, अजगर आदि मृत्यु के मुख से भयभीत होता है, वैसे-जैसे कोई उदासीन-स्वभावी साधक ही मोक्ष-मार्ग में राग-वर्धक विपरीत-वस्तुओं से भयभीत

रहता है। अहो! आज देखकर आश्चर्य होता है, साधना की चरम सीमा के भेष को प्राप्त करने के उपरांत भी उदासीनता की छाया में नहीं बैठ पा रहे, संस्थाओं के राग में ब्रह्मचारी एवं यति-मुद्रा को याचकपने में लगाते देखकर लगता है कि अहो! बेचारों ने त्रैलोक्य-दुर्लभ जिन-मुद्रा एवं ब्रह्मचर्य-मुद्रा को प्राप्त किया और सेठों-धनिकों के पीछे ऐसे लगे हैं, जैसे वे ही भगवान् हों। मनीषियो! उभय-भेषों में ये कार्य शोभा नहीं देते, सामाजिक, राजनैतिक गृहस्थ जनों के कार्यों से निज को पृथक् करना ही उदासीनता है, आगम के तत्त्वों को यथार्थ कहना चाहिए, आगामी पीढ़ी यह नहीं समझने लगे कि नाना मठों की स्थापना ही साधु की परिभाषा है। ज्ञानी! सच्चे साधु की परिभाषा तो पर-भावों से अपने को भिन्न रखना और आरंभ-परिग्रह से पृथक् रखकर ज्ञान-ध्यान में लीन रहना है।

अहो मुमुक्षुओ! बहुत ही वात्सल्य-भाव-पूर्वक आपसे कहना चाहता हूँ कि जिन-लिंग और ब्रह्मचारी के श्वेत वस्त्रों की जो महिमा है, उसे उत्साह-शक्ति के साथ निर्दोष रहने दिया जाय, अन्य भेषों में 'श्री' पर दृष्टि रखें, परंतु धर्मात्मा के भेष में इससे बचना ही श्रेष्ठ है, यही सत्यार्थ मोक्ष-मार्ग है, अन्यथा द्रव्य-तीर्थ तो दिखते रहेंगे, परंतु भाव-तीर्थ देखने को नहीं मिलेगा।

धर्मायतन भी आवश्यक हैं, पर उनकी वृद्धि न रक्षा के लिए आशीष मात्र रखें, शेष कार्य समाज करे, समाज को ही शोभा देता है। आप तो स्वयं तीर्थ हैं, रत्नत्रय-धर्म से युक्त आत्मा ही उत्तम तीर्थ है। वह तीर्थ सुरक्षित हो, सभी तीर्थों की शोभा है, यदि रत्नत्रय-तीर्थ को नष्ट करके जो व्यवहार-तीर्थ की रक्षा की बात करे, वह तो ऐसे ही समझना, जैसे— पति-विहीन नारी (विधवा) का शृंगार, जब पति ही नहीं, तो-फिर शृंगार का कोई अर्थ नहीं है। ज्ञानियो! आत्म-तीर्थ की रक्षा किए बिना मात्र पत्थरों के भवनों में लीन रहना जैनी वृत्ति नहीं है। जैनी वृत्ति तो राग-द्वेष-रहित, निर्मोही, उदासीनता से युक्त तत्त्व-चिन्तन में लीन और मोक्षमार्ग में परम-उत्साही रहना है निश्चय-व्यवहार-तीर्थ में निज-परिणामों को अनवरत लीन रखना, विषयों-कषायों के निमित्तों पर भी कषाय नहीं करना, पाप से भी द्वेष-बुद्धि का परिहार करना, फिर पापियों से एवं धर्मात्माओं से द्वेष कहाँ! यही सम्यक् तत्त्व-बोध है। ॥१८॥

श्लोक-19

उत्थानिका— भगवन्! किस प्रकार की स्वरूप-निष्ठा होनी चाहिए?

समाधान— आचार्य-देव समाधान करते हैं—

हेयोपादेयतत्त्वस्य, स्थितिं विज्ञाय हेयतः ।

निरालम्बोभवान्यस्मादुपेय¹ सावलम्बनः ॥

अन्वयार्थ— (हेयोपादेयतत्त्वस्य) हेय और उपादेय तत्त्व के, (स्थितिं) स्वरूप को, (विज्ञाय) जान करके, (अन्यस्मात् हेयतः) अन्य पदार्थ रूप हेय अर्थात् त्याग देने योग्य तत्त्व का, (निरालम्बः भव) आश्रय लेना छोड़ दो और, (उपेय) उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य अपने आत्म-तत्त्व का, (सावलम्बनः) (भव) आश्रय ग्रहण करो ॥19॥

परिशीलन— आचार्य भगवन् अकलंक स्वामी इस श्लोक में मुमुक्षुओं पर करुणा करके ग्रहण-योग्य व त्यागने-योग्य तत्त्व की बात कर रहे हैं, दो प्रकार के तत्त्व हैं— हेय एवं उपादेय । जो मोक्षमार्ग में साधक हैं, वे उपादेय-तत्त्व हैं एवं जो मोक्षमार्ग में बाधक हैं, वे हेय-तत्त्व हैं, परन्तु ज्ञेयभूत तो दोनों ही हैं, ज्ञाता को गुण एवं दोष दोनों का ज्ञान होना अनिवार्य है, दोष का ज्ञान हेय-रूपता के लिए एवं गुण का ज्ञान उपादेय-रूपता के लिए, परन्तु राग एवं द्वेष दोनों के प्रति नहीं रखना अपेक्षित है, —यही सर्वोदयी तत्त्व है । ज्ञानियो! तत्त्व अग्रांकित तीन तरह से भी जाना जाता है— हेय, उपादेय व उपेक्षा । सात तत्त्वों में अजीव, आस्रव, बन्ध इत्यादि हेय-तत्त्व हैं, जीव, संवर एवं निर्जरा मोक्ष में उपादेय-तत्त्व हैं, यही इनकी विशेषता है । सामान्य की अपेक्षा से यह कथन किया है । यही सातों तत्त्वों में हेय-रूपता एवं उपादेय-रूपता है, जब तत्त्वों को सम्यक्त्व की उत्पत्ति का साधन बनाते हैं, तब सातों ही उपादेय-भूत हैं, सातों ही तत्त्वों में से एक तत्त्व पर अनास्था-भाव है, तो सम्यक्त्व-भाव नहीं है । ज्ञानियो! इन तत्त्वों को सरिता के दो तट में निहारो, जैसे— नर्मदा के दोनों तटों के मध्य नीर बह रहा है, जिसके ऊपर नौका चल रही है, उसीप्रकार निश्चय से एक तट शुद्धात्म-तत्त्व है, दूसरे व्यवहार से सातों तत्त्व हैं, जिसके मध्य श्रद्धा का नीर प्रवाहित

1. कुछ विद्वान् निरालम्बोऽन्यतः स्वस्मिन्नुपेय¹ पाठ स्वीकारते हैं, पर वैसा-पाठ स्वीकारने में आज्ञा-वाचक क्रिया-रूप 'भव' की श्लोक में अनुपलब्धता होगी, जिसकी अपेक्षा निरालम्बः और सावलम्बनः आदि दोनों पदों के साथ है, एक में उपस्थिति रूप और दूसरे में अध्याहार रूप; अतः 'भव' वाला पाठ ही वरेण्य है ।

होता है, जिस पर सम्यक्चारित्र की नौका चल रही है और नय-प्रमाण की दो पतवार सम्यग्ज्ञान हैं, आत्म-धर्म नाविक है, जिस पर आत्म-पुरुष सवार है, मोक्ष-तत्त्व जिसका मार्गी है, रत्नत्रय-मार्ग है। ज्ञानियो! अहा परम-शान्त-स्वभावी आत्मपुरुष से उभय तटों को निहारते हुए आज तत्त्व-चर्चा कर लें, आत्मा एक विशाल सरिता है, जिसमें हेय-उपादेयता की लहरें उठ रहीं हैं, स्वात्मानुभूति-रूपी राजहंस नन्दित हो रहा है, आत्मानन्द-कन्द ज्ञान-घन का कमल खिल रहा है, ऐसी आत्मा-नदी में निमग्न हो जाओ। हेय-उपादेयता की चिन्तवन-धारा में मग्न हो जाओ, अज्ञ प्राणी हेय में ही उपादेय-दृष्टि बनाकर चल रहे हैं, लोक में मोह की क्या विडम्बना है! जो अर्थ-अनर्थ की जड़ है, वह पाँचवाँ पाप-परिग्रह है, जो-कि सम्पूर्ण पापों में प्रवृत्ति का कारण है, जिसे योगी-जन शीघ्र छोड़ते हैं। ज्ञानियो! धन के नाम मात्र लेने से साधु पुरुष की साधना में वैसे ही कलंक लगता है, जैसे— ब्रह्मचारी के मुख से किसी कुलटा स्त्री के नाम-उच्चारण मात्र से, लोक में उसके शील पर शंका खड़ी हो जाती है, उसीप्रकार अर्थ के राग को समझना, परम-योगीश्वर 'श्री' एवं 'स्त्री' दोनों से निज आत्मा की रक्षा करते हैं, उन्हें हेय अग्राह्य ही मानते हैं। किसी भी अवस्था में वे निर्ग्रन्थ योगी परिग्रह को उपादेय-दृष्टि से नहीं देखते, पल-पल में आत्म-स्वभाव से भिन्न द्रव्यों को पृथक्भूत को ही नहीं, अपितु आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले कर्म नो-कर्म को भी हेय ही मानते हैं, तिल-तुष-मात्र को भी परिग्रह-भाव वाले मुनिराज होते हैं, विश्व में ऐसा शुद्ध निःसंगता का मार्ग कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। सर्वत्र संन्यासी का भेष बनाकर भी धन-धरती के राग में लिप्त देखे जाते हैं और कर्मों के द्वारा सताये जाते हैं, जैसे— एक रोटि के टुकड़े के पीछे एक श्वान अनेक श्वानों से सताया जाता है, उसीप्रकार धन का लोभी अनेक लोगों से और कर्मों से सताया जाता है, पीड़ित होता है, फिर भी अज्ञ प्राणी उसी में लिप्त होता है और अनेक प्रकार से उस धनार्जन में अपने को सुखी समझता है; जबकि ज्ञानी-जन उसे हेय कहते हैं; पाँचों ही पाप हेय हैं, परन्तु अज्ञ-मूढ़ परिग्रह को उपादेय-भूत स्वीकारता है, यही संसार-वृद्धि और भ्रमण का कारण है, क्या कहें— यह जीव लोक की तीव्र राग-मिश्रित अज्ञानता को बन्ध के कारणों को संतुष्टि-पूर्वक करता है, सूक्ष्म एवं भूत-नय से देखें, तो अग्नि को जानने वाला अग्नि है, उसीप्रकार जो त्यागी, व्रती समाज के भोजन को ही नहीं धन को देखते हैं, तो ज्ञानी उनका हृदय धन-मय है, तत्काल में आयुबन्धका अपकर्ष-काल आ जाए, तो मुमुक्षुओ! बहु-आरंभ-परिग्रह का परिणाम नरक-गति का बन्धक होता है, सभी परिग्रह को हेय-बुद्धि से पिता जी के यहाँ से

छोड़कर चला जीव, पर अहो! क्या माया की माया है, यहाँ समाज के धन के टुकड़ों में संतुष्ट होने लगा, क्या साधना के मार्ग में धन भी आवश्यक है? नहीं, साधना तो आकिञ्चन भाव में है, तन-धन का राग तो हेय ही है। साधु-पुरुष जिसे हेय कहते हैं, रागी उसे ही उपादेय मानकर लिप्त हो रहे हैं, जिस दिन जीव ध्रुव ज्ञायक-भाव को अन्तःकरण से समझ लेगा, फिर तन-धन का राग स्वयमेव चला जाएगा। ज्ञानियो! यथार्थ बात तो यह है कि त्याग-मार्ग के पूर्व त्यागी स्वरूप का बोध होना चाहिए, क्या करूँ?.....संस्कार कर्त्तापन के हैं, वे ही दिख जाते हैं, जब-तक कर्त्ता का भाव हृदय में निवास करेगा, तब-तक एकमेव विभक्त भगवान् आत्मा का बोध नहीं हो सकता, पुण्य-क्रियाओं के कर्त्ता-पन से, समय ही नहीं है, निज में ध्रुव-ज्ञायक-भाव के लिए विश्वास रखना— अर्थ-व्यवस्था और आत्म-धर्म-व्यवस्था अत्यन्त भिन्न है। जो शुद्ध जैन-दर्शन है, वह तो अति-सूक्ष्म है, शान्त-चित्त से स्थिर होकर समझना— आपको लगेगा, कहीं भ्रमित तो नहीं हो रहे। इसलिए पूर्व में ही संकेत किया है, आत्म-धर्म की ओर निहारो और जगत् के प्रपंचों को भी देखो, दुग्ध से दधि, दधि से तक्र कितना होता है और तक्र से मक्खन, मक्खन से शुद्ध-घृत बहुत ही कम होता है, पर सर्व-श्रेष्ठ गो-रस की पर्याय है, जिसे आयुर्वेद में जीवन कहा है, आयु कहा है, शीतल-धर्मी बुद्धि-वर्धक रसायन है— हाँ, स्पष्ट समझना गो-रस की पूर्व-पर्यायों के अभाव में घृत पर्याय की उत्पत्ति संभव नहीं है, लेकिन परम-उपादेय तो घृत-पर्याय ही है, यहाँ विषय को एकान्त से नहीं, अनेकान्त से समझते चलना; निश्चय-वाद व व्यवहार-वाद दोनों से आत्म-रक्षा करना, यहाँ दोनों की आवश्यकता दिखा दी है, यदि घृत-पर्याय परम-उपादेय है, तब शेष पर्यायें हेय दिख रही हैं, लेकिन प्रथम पर्याय गो-रस की दुग्ध है, यदि वे न होतीं, तो घृत-पर्याय कैसे होती? इसलिए भविष्य-पर्याय के पूर्व वर्तमान-पर्याय उपादेय है, भूत-पर्याय हेय हो गई, अपने-अपने समय पर सभी पर्यायें उपादेय हैं। ज्ञेय तो प्रति-समय प्रत्येक पर्याय है, होता ये है, जब शुद्ध-कथन करते हैं, तब एकान्त से अशुद्ध का अभाव करने लग जाते हैं, वे वक्ता वस्तु-स्वरूप को नहीं समझते। होना यह चाहिए कि अशुद्ध-पर्याय को गौण करके शुद्ध-पर्याय का कथन करें, अशुद्ध-पर्याय की सापेक्षता से ही शुद्ध-पर्याय का सत्यार्थ-कथन होता है, शुद्ध में अशुद्ध का मिश्रण नहीं करना, अद्वैत-भाव पर-भाव से भिन्न रहता है। अद्वैत-भाव अन्य से अत्यन्ताभाव है, अ-द्वैत की साधना ही श्रेष्ठ साधना है, द्वैत-साधना है, साधना का कारण है, परन्तु कार्य-भूत साधना अ-द्वैत ही है, योगीश्वर

द्वैत से अद्वैत की ओर रत रहते हैं। दुग्ध में घृत द्वैत-भाव से रहता है, परन्तु घृत का स्वाद नहीं आता, शुद्ध घृत का स्वाद तभी आता है, जब दुग्धादि पर्यायों को निज से पृथक् कर लेता है, तब अर्घ्यवान्-घृत अपनी स्वतंत्र सत्ता में पहुँचकर स्वतंत्र-संज्ञा को भी प्राप्त होता है, जब-तक दुग्ध में घृत रहता है, तब-तक कोई विज्ञ दुग्ध में रहने वाले घृत को घृत कहकर नहीं पुकारता, दुग्ध ही कहता है?..... अहो! क्या विडम्बना है, गो-रस में सर्व-शक्तिमान् घृत दुग्ध के संयोग में होने से कभी भी स्वतंत्र संज्ञा को प्राप्त नहीं होता, अधिक हुआ तो, इतना अवश्य कहा जाता है कि दुग्ध में घृत अच्छा है, परन्तु घृत अच्छा तभी कहलाता है, जब सभी विशेषों का अभाव हो जाता है, तब शेष होता है शुद्ध-घृत। अद्वैत का आनन्द ही कुछ-और है, उसे द्वैत में लीन क्या समझ पाएगा?.....एकान्त स्थान हो, अद्वैत-भाव हो, वहाँ भवातीत की अनुभूतियाँ प्रारंभ हो जाती हैं। भवातीत की अनुभूति उसी परम-योगी को होती है, जो विषय-कषाय, आर्त्त-रौद्र, राग-द्वेष, मान-कषाय, लोभ, काम, क्रोध, जाति, लिंग, पन्थ, सम्प्रदाय, गण-गच्छ, संग, संघ, दक्षिण-उत्तर, पूर्व-पश्चिम, संघ-उपसंघ, गणी-गणाचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, गणधर, नगर, महानगर, जनपद, ग्राम, श्मसान, भवन, जंगल, स्त्री-पुरुष, बाल-युवा-वृद्ध, श्वेतवर्ण-श्यामवर्ण, छोटा शरीर, बड़ा-शरीर, वंश-परवंश इत्यादि अशुभ संसार-वृद्धि की कारण-भूत भावनाओं से अतीत हुए बिना भवातीत की अनुभूति स्वप्न में भी होने वाली नहीं है, निर्भर चाहे वह ग्रहीलिंग हो, चाहे जिनलिंग हो। लिंग तो देहाश्रित है, भवातीत होने के लिए आत्माश्रित भावनाओं को विशुद्ध करना होगा, भावनाओं की निर्मलता पर सम्पूर्ण मोक्ष-मार्ग स्थित है। शरीराश्रित धर्म करते-करते अनन्त भव धारण कर लिये, फिर भी भवातीत नहीं हुआ; पर सत्य तो यह है कि धर्म का फल कभी भी विफल नहीं होता, शरीर से धर्म दिखा-दिखा कर बहुत अच्छे से किया था, उसका परिणाम वर्तमान में सुंदर शरीर मिल गया, यह भी भावना-शून्य धर्म का परिणाम है, अधर्म से सुंदर शरीर मिलने वाला नहीं है।

अहो ज्ञानियो! जब तन से किया धर्म भी पुण्य के रूप में फलित होता है, तो-फिर स्वयं स्व-विवेक से शान्त-चित्त होकर चिन्तवन करो कि भावना-पूर्वक अन्तःकरण से किया गया सम्यग्धर्म क्या इस भगवान् आत्मा को भगवान् नहीं बना देगा! अवश्य ही बनाएगा, इस विषय पर किञ्चित् भी शंका नहीं करना। ज्ञानियो! जैसे तन से पुरुषार्थ के साथ धर्म किया करते हो, वैसे ही मन से भी धर्म करना प्रारंभ करो, तेरा

क्या जाता है?... तन से किया गया धर्म मन के अभाव में तो मात्र अकाम-निर्जरा का ही कारण बनता है, मोक्ष-मार्ग में साक्षात् कारण-भूत संवर-पूर्वक होने वाली अविपाक-निर्जरा का कारण नहीं बन सकता। अहो विद्वानो! किञ्चित् स्व-कल्याण के बारे में भी विचार तो कर लिया करो, आप-लोग समाज, देश, राज्य, श्रावक यहाँ-तक कि श्रमणों की चिन्ता में भी श्रम कर रहे हो, पर तुम्हारा श्रम थकान के लिए ही दिखता है, यदि स्वयं के लिए श्रम करते होते, तो एक श्रेष्ठ श्रमण बनकर भगवत्ता को प्राप्त हो गये होते। मेरे मित्र! इतना तो स्वीकार कर लो कि पर के लिए किया गया उपादेय-भूत चिन्तावन भी परमार्थ से तेरे लिए तो हेय ही था, अभूतार्थ ही था, उससे स्वयं के लिए पुरस्कार में अभिनव कर्माश्रय प्रचुरता से बन्ध ही है, किञ्चित् शुभाश्रय भी हो सकता है, पर वह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, आप-जैसे ज्ञानी पुरुष आत्म-उपादेयता को न समझ सके, तो अब अन्य पर विचार क्या करें?... इस बात पर सिद्धान्त परम-सत्य-पूर्वक अपना निर्णय दे रहा है कि शास्त्र-ज्ञान एवं आत्म-ज्ञान दोनों भिन्न हैं, आत्म-ज्ञानी उसी दिन होता है, जिस दिन विषय-कषायों को परिपूर्ण-हेय स्वीकार कर परम-उपादेय-भूत जैनेश्वरी दीक्षा के लिए अग्रसर हो जाता है, जब लोक अति-हेय-भूत विषयों की नाली का कीड़ा बनकर उसी में मग्न था, जिसप्रकार नाली में पूँछ वाले कीड़े होते हैं, उसीप्रकार ये भोगी नर-विषय की नाली में मान की भूख रखने वाले बिना पूँछ वाले कीड़े-जैसे हैं। अहो! धिक्कार हो, हाय-हाय! क्या कहूँ! कहने पर, लिखने पर मुख एवं कलम को तो लज्जा आने लगती है, पर रागी के अन्दर जब विषयों की ज्वाला स्फुटित होती है, तब इसे किञ्चित् भी लज्जा का भान नहीं होता, हाय-हाय! अकरणीय कृत्य को भी कैसे कर-बैठता है?... फिर जाति-वंश-कुल-पद-मान-प्रतिष्ठा को भी भूल जाता है, अनेक वर्षों की अर्जित साधना एवं प्रतिष्ठा क्षण-मात्र में नष्ट कर-बैठता है, विज्ञता, दक्षता कहाँ चली जाती है?... जो प्रज्ञा अनेकों के लिए हेय-उपादेय की परिचारिका थी, उस समय कहाँ भेज दी थी, जब स्वयं हीन जड़-बुद्धि वस्तु के तुल्य पर के सामने अपने शील-धर्म को ध्वंसकर अब्रह्म-भाव को प्राप्त कर भवातीत दशा को ठोकर मारकर भव-भ्रमण को निमंत्रण दिया, वह भी बुद्धि-पूर्वक?... लोक-प्रतिष्ठा से सत्य की पहचान तो नहीं हो सकती, यश-कीर्ति नाम-कर्म के उदय से यश भी प्राप्त हो जाय, परन्तु यशःकीर्ति से पूर्व-बद्ध-कर्म का अभाव और अभिनव कर्मों के आगमन का अभाव तो नहीं होता। पर-पीठ का माँस-भोजी-जैसा होता है, कोई आत्म-ज्ञानी नहीं हो सकता। यानी पर-निन्दा करने वाले की आत्म-प्रशंसा भी मोक्ष-मार्ग में उपादेय नहीं है। ज्ञानियो! वात्सल्य-भाव-पूर्वक

कहना चाहता हूँ, तत्त्व-उपदेश के अनुसार पर को हेय-उपादेय की मीमांसा का त्याग करते हुए एक क्षण निज-चिन्तवन पर चित्त लगाओ— क्या यह आपका मोक्ष-मार्ग है, क्या यह विकल्प पर-भाव नहीं है?...क्या आत्म-स्वभाव से भिन्न-भाव नहीं है?... क्या आपकी आत्मा यह नहीं कहती, क्या विश्व-सुधार आप कर पाएँगे?... जो स्वयं के अंदर पर का चिन्तवन कर रहा है, वह स्वयं का कल्याण नहीं कर पा रहा है। विश्वास रखना— कलम चलाकर कागज ही भर पाएँगे, पर आपके द्वारा अन्य का सुधार नहीं हो सकता, सुधार के निमित्त भी वे ही बन पाते हैं, जो स्वयं सुधरे होते हैं। विद्वानो, ज्ञानियो, मुमुक्षुओ! क्या आप जैन नहीं हो, जैन-दर्शन-पोषित परिवार में जन्म लेने वाला कर्म-सिद्धान्त के विपाक पर प्रति-क्षण ध्यान रखता है। ध्यान दो— साक्षात् सत्यार्थ-धर्म का व्याख्यान जहाँ से प्राप्त हुआ, वे तीर्थेश परमात्मा जगत् का कल्याण नहीं कर पाये, मात्र कल्याण-मार्ग ही बतला पाये हैं, यदि उनके उपदेशों से ही मात्र कल्याण होता, तो-फिर आप स्वयं पंचम काल में कैसे आ गये?... प्रश्न का कोई उत्तर कर्म-सिद्धान्त से पृथक् हो, तो बतलाएँ?... अन्त में आपको कहना ही पड़ेगा कि स्वावरण कर्म का क्षयोपशम ही जीव के हिताहित का साक्षात् कारण है, अन्य तो मात्र कारण के कारण हैं। अहो प्रज्ञा! तत्त्व-देशना स्वात्म-मुखी होकर ही करो। प्रज्ञा का उपयोग हेय-भूत कषायों में व्यय मत करो, जब पर के बारे में लिखा जाता है, तब सूक्ष्म एवं भूत नय से तो तद् अवगुण-रूप ही है, स्व-वंचना मत करो।

जिस रूप से ज्ञान का परिणमन चल रहा है, उस समय जीव तन्मय होता है, उपयोग जैसा होगा, भाव वैसे ही होगा, इसलिए तत्त्वज्ञानी! सर्वप्रथम स्व-हित की कामना होना अनिवार्य है, हित तभी संभव दिखता है, जब नाना प्रकार के विकल्पों की ज्वाला को तत्त्व-चिन्तवन के शीतल नीर से शान्त कर दिया जाएगा। अन्य को अनन्य बनाना कठिन है। अहो मनीषी! जीव के स्वयं के परिणाम तो एक-जैसे नहीं रहते, अल्प समय के लिए निज-भावों से बात कर लो, जो-कि भव-भव में रुला रहे हैं, पवित्र वीतराग धर्म में जन्मा प्राणी वीतरागता से दूर क्यों हो रहा है?... पर पर्यायों में लिप्त हो रहा है, निज ब्रह्म-धर्म का घात कर रहा है, अन्य के बारे में लिखना बहुत सरल है, निज में निज को लिखना अति-कठिन कार्य है, जिनवाणी पढ़ते-पढ़ते पर-वाणी में चित्त दौड़ रहा है, क्या यही उपादेयता है?...

जिनवाणी का कार्य सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रति आस्था एवं उनका आचरण करना एवं संयम के लिए ही श्रुत धारण किया जाता है। अहो आश्चर्य! कारण-कार्य

विपर्यास क्यों? जो श्रुत आत्मस्थ होने के लिए था, उसका प्रयोग पर की आलोचना और स्व-प्रशंसा के व्यय में किया जा रहा है। यह तो ध्रुव सत्य है, श्रुतवान् हो, तो आप पुण्यवान् भी हैं, जो-कि जिनवाणी का बोध प्राप्त है, पर उसे व्यर्थ में नष्ट न करके आत्म-हित में उसका प्रयोग करो। जिस पर कलम चलाते हैं आप, वह भी भावी भगवान् हैं और आप चित्-चैतन्य-शक्ति-सम्पन्न भगवान् आत्मा हैं, यदि भव्य हैं, तो दोनों भगवान् बनेंगे।

अहो हंसात्मन्! हेय-उपादेय की स्थिति को ठीक से पहचानो, पर-भावों में जो कुशलता समझ रहे हैं आप, वह भूतार्थ से देखें, बन्ध-व्यवस्था पर विचार करो, क्या इससे आप बन्ध को प्राप्त नहीं होंगे?... क्या-कर्म-सिद्धान्त के साथ आपकी कोई मित्रता है?... जिससे वह आपको छोड़ देगा, ...मेरे मित्र! मेरी बात मान लो, मरण के पूर्व मान कषाय को समाप्त कर स्वानुभव पर ध्यान दो, यह तेरा ज्ञान-धन वैभव है। हे प्रज्ञ! तेरे-सा अहो! भाग्यशाली कौन होगा, जो माँ भारती की गोद में खेला हो, पर साधु-पुरुषों की आलोचना करके भगवती माँ जिनवाणी की गोद को कलंकित नहीं करना, परम उपादेय-भूत टंकोत्कीर्ण ज्ञायक-भावी भगवती की आराधना करो। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग ये पाँच प्रत्यय हेय-तत्त्व हैं, जो-कि आस्रव व बन्ध तत्त्व में निहित हैं। शोक, भय, जुगुप्सा, हास्य, रति, अरति, स्त्री-वेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ, —ये पच्चीस कषाय हैं, इन्हें हेय समझो। सारा विश्व इनके कारण ही संसार-सागर में डूब रहा है, यदि ये जीव कषाय करने वाले की ही खोज करने लगें, तो कषाय समाप्त हो जाए। कषाय-काल में जीव पर के ऊपर दृष्टि रखता है, निमित्तों पर अग्नि उगलता रहता है, जबकि उनका कुछ न भी बिगड़े, पर कषायवान् तो जल ही रहा है, अध्यात्म यह भी कहेगा कषाय काल में तू अग्नि है, स्वयं को जला रहा है, तुझे क्या प्रज्ञावान् कहें या अज्ञानी, ध्रुव क्षमा-धर्म तेरा कहाँ गया?... अहो मुमुक्षु! अकषाय, अप्रमाद, व्रत-परिणाम, सम्यक्त्व-भाव, योग की निर्मलता, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य-भाव-चारित्र के पालन की परिणति ही उपादेय-तत्त्व है। व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, परीषह-जय, अनेक चारित्र जो कि भाव-संवर तत्त्व हैं, वे परमार्थ-भूत परम-उपादेय हैं, संवर के अभाव में निर्जरा भी कार्यकारी नहीं होती, संवर-पूर्वक होने वाली निर्जरा ही मोक्ष-तत्त्व की सिद्धि कराने वाली है। तत्त्व-ज्ञान, तत्त्व-निर्णय करना अनिवार्य है, जो जीव मोक्षमार्ग

पर चल भी दे, द्रव्य-भेष भी धारण कर ले, द्रव्य-साधना में चर्या करते हुए समय निकल जाएगा, आयु भी पूर्ण हो जाएगी, परन्तु जो तत्त्वानुभूति होनी चाहिए, वही नहीं हो, सारा जीवन एक अलौकिक परमानन्द से रहित निकल जाता है, स्वानुभूति को नहीं जानने वाला सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता होने पर भी अज्ञानी है, वह कैसा ज्ञानी?... जो जानने वाले को ही नहीं जानता। जगत् में सम्पूर्ण तत्त्वों को जानने की बात करने वाला अज्ञ दिखता है, क्योंकि जगत् का ज्ञाता क्या क्षयोपशम ज्ञानी परोक्ष ज्ञान से जान सकता है?... परोक्ष ज्ञान की प्रवृत्ति द्रव्यों की कुछ पर्यायों में होती है, समस्त विश्व-ज्ञाता केवली भगवन्त होते हैं। केवली की वाणी को यथार्थ समझने वाला तत्त्व-ज्ञानी जीव तत्त्व की समीचीन स्थिति का ज्ञाता होता है और लोक एवं परमार्थ व्यवस्था जानकर माध्यस्थ हो जाता है, जगत् के पर-पंच से तटस्थ दशा को प्राप्त होता है, न किसी के प्रति राग-भाव, न द्वेष-भाव; लोग नाना चर्चाएँ करें, तब भी वह ज्ञानी शान्तचित्त से स्वरूप के बोध में डूबकर बोधि-समाधि-स्वात्मोपलब्धि में लीन रहता है, न सुख में हर्षभाव, न दुःख में विषाद, जो भी हर्ष-विषाद के निमित्त दिखते हैं, उन्हें वह पर-भाव समझकर उदास रहता है, जितने भी पर-द्रव्य हैं, उनके प्रमाता बनना, क्योंकि प्रमेय हैं, पर उनके कर्त्ता-भोक्ता नहीं बनना।

ज्ञानी ज्ञाता-दृष्टा तो होता है, पर राग-द्वेष का कर्त्ता नहीं होता, शुभ द्रव्य हो अथवा अशुभ द्रव्य हो, इष्ट हो अथवा अनिष्ट हो, सभी के प्रति ज्ञाता-दृष्टा-भाव बनाना, आत्म-सुख का सागर तेरे अन्दर स्फुटित हो जाएगा, —इसमें संशय नहीं है। अतः ग्रन्थकर्त्ता के अंतःकरण को समझो, आचार्य-प्रवर अंतरंग में बैठकर स्व-संवेदन के साथ तत्त्वोपदेश कर रहे हैं, अकलंकता की प्राप्ति के लिए। हेय और उपादेय तत्त्वों को जानकर अपने से भिन्न हेय-तत्त्वों से आलम्बन रहित होकर उपादेय-भूत ग्रहण करने योग्य अपने स्वरूप में आलम्बन-सहित हो जाओ, यानी पर-भावों से भिन्न निजात्म-तत्त्व में लीन रहो ॥१६॥

* बात करते हैं
योगी
सकारण.....
और भोगी
अकारण.....।

विशुद्ध-वचन

* नहीं बनते
जितेन्द्रिय
इन्द्रियों के
छेदन-भेदन से
बल्कि बनते
मन के दमन से.....।

श्लोक¹-20

उत्थानिका— यहाँ पर शिष्य आचार्य-भगवन् से प्रार्थना करता है कि हे भगवन्! शिव-प्राप्ति का सहज उपाय क्या है?.....

समाधान— आचार्य-देव कहते हैं—

स्वपरञ्चेति वस्तु त्वं वस्तुरूपेण भावय ।

उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते शिवमाप्नुहि ।।

अन्वयार्थ— (त्वं) तू (स्वं) अपने आत्म तत्त्व को, (च) और, (परं) अन्य वस्तु को, (वस्तुरूपेण) वस्तु स्वभाव से, (भावय) भावना कर, (इति) इसप्रकार, (उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते) उपेक्षा यानी राग-द्वेष-रहित-पना-भाव की पूर्ण वृद्धि हो जाने पर, (शिवम्) मोक्ष को, (आप्नुहि) प्राप्त कर ।।20।।

परिशीलन— मुमुक्षुओ! आचार्य-प्रवर इस कारिका में परम उपेक्षा-भाव की प्रधानता से तत्त्वोपदेश कर रहे हैं। उत्कर्ष-मार्ग ज्ञानियो! उपेक्षा-भाव है, जहाँ-जहाँ उपेक्षाएँ होती हैं, वहाँ-वहाँ ज्ञानियो! व्यवहार से कहें, तो उपेक्षाएँ होने लगती हैं।

मनीषियो! ध्रुव भगवद्-स्वरूप पर यदि लक्ष्य है, तो ध्यान से समझना, यह गम्भीर तत्त्व का विषय है। निश्चय नय एवं व्यवहार नय दोनों पक्षों से समझना अनिवार्य है, जहाँ जीव की पर-पदार्थों में अपेक्षा होती है, वहाँ संयम-मार्ग में उपेक्षा दिखती है। उपेक्षा का एक अर्थ पृथक्/भिन्नत्व द्वेष-दृष्टि से देखना, दूसरा अर्थ माध्यस्थ भाव है, यानी राग-द्वेष का अभाव और पक्षपात से रहित वृत्ति। प्रथम अर्थ की अपेक्षा से सर्वप्रथम कथन करते हैं— ज्ञानियो! लोक-दृष्टि से भी देखा जाय, तो जो व्यक्ति जहाँ अधिक परिचय को प्राप्त होता है, वहाँ अपमान का भी वरण करता है, जहाँ अपेक्षा प्रारंभ हुई, वहीं उपेक्षा होने लगती है, अधिक परिचय में अवज्ञा का होना सहज है, जहाँ चंदन अधिक होता है, वहाँ के लोग शीत निवारण हेतु चंदन की लकड़ी को जलाकर तापते हैं, जहाँ अभाव है, वहाँ सुगन्ध के लिए एक टुकड़ा भी सुरक्षित रखते हैं। ध्यान दो— जो वस्तु कठिनता से प्राप्त होती है, वह आदर को

1. कुछ विद्वान् इस बीसवें श्लोक को स्वरूप-सम्बोधन का हिस्सा नहीं मानते हैं, पर इसके बिना भाव की दृष्टि से पंचविंशतिका नहीं बनती, अतः भावात्मक रूप में इस श्लोक का होना अनिवार्य है।

प्राप्त होती है और जो सरलता से मिल जाती है, उसकी कीमत लोग कम आँकते हैं और अधिकता से मिलने लगे, तो द्वेष-भाव भी उत्पन्न होने लगता है। ज्ञानियो! निज की कीमत चाहते हो, तो जन-संपर्क अल्प कीजिए, अन्यथा साधना नष्ट होती है एवं समय भी नष्ट होता है, आयु-कर्म भी व्यर्थ में क्षीण होता ही है, शेष सम्पूर्ण शुभ-प्रवृत्तियों का अभाव होता है और महान् पुण्य से प्राप्त समय के (आगम) अध्ययन का काल भी व्यर्थ जाता है, इन सभी के साथ सम्मान भी चला जाता है, विद्वज्जनों से उपेक्षा मिलती है, यह है फल अधिक परिचय का। मनीषियो! विश्वास रखना—लोक में कहा जाता है कि कुत्ते के पिल्ले को भी अधिक स्थान दें, तो वह भी गाल चाटने लगता है। उसीप्रकार पर में अधिक राग रखोगे, तो ध्यान रखना—आत्मा-रूपी पुरुष के अन्तःकरण के गाल को कर्म चाटने लगते हैं, यानी कर्म-बन्ध को प्राप्त होने लगते हैं। ज्ञानी! बन्ध-मोक्ष, मान-अपमान आदि ये अवस्थाएँ, विश्वास रखो, पराधीन नहीं, बल्कि आत्माधीन हैं, प्रत्येक कार्य स्वाधीन होता है, जीव व्यर्थ में पराधीनता को स्वीकारता है, सर्वप्रथम तो हमें यह समझना चाहिए कि कण-कण स्वतंत्र है, अन्य अन्य के अधीन नहीं है, प्रत्येक द्रव्य स्वभाव के अनुसार ही परिणमन करता है, फिर-भी मोह से युक्त प्राणी राग-द्वेष-भाव करके स्वयं ही बन्ध को प्राप्त होता है। निज स्वतंत्रता का अनुभव हो जाय, तो पर से संबंध बनाने का राग ही समाप्त हो जाए। पर से राग-द्वेष समाप्त हो जाए, कर्मास्रव की धारा बन्द हो जाए। हे जीव! पूर्व धारणा को अब छोड़ दे, तू बार-बार कहता है कि क्या करूँ?.....कर्म-संसार में भ्रमण करा रहे हैं, कर्म दुःख दे रहे हैं, जो भी अशुभ घटित हुआ कि सीधा पहुँचा कर्म पर, वह भी द्रव्य कर्मों पर लक्ष्य होता है, जैसे— ईश्वरवादी सम्पूर्ण शुभाशुभ, सुख-दुःख ईश्वर के माथे पर रखता रहता है, उसीप्रकार आप मुझे दिखते हो, जो-भी अच्छा-बुरा हुआ कि कर्म पर रखा, अच्छा-बुरा कुछ होता नहीं; बस, राग की पूर्ति होती है, तो अच्छा लगता है और राग की पूर्ति जिससे न हो, वही बुरा लगता है, जिसका राग-द्वेष ही गया, उसके लिए न कोई अच्छा, न कोई बुरा, वहाँ तो उदासीनता का भाव है अपनी निज-स्वतंत्रता का अभाव कर रहा है। जबकि कोई भी द्रव्य-कर्म किसी भी जीव को स्वयमेव कभी भी सुख-दुःख नहीं देते, वे द्रव्य-कर्म तो जड़ हैं, वे चैतन्य को बिना कारण कैसे कष्ट देंगे? लोक में भी तो देखो— निरपराधी को जेलर क्या जेल में डाल सकता है, बाल-अवस्था में जब पुलिस-थाने की दीवार पर बैठे रहते थे, तब क्या किसी ने पकड़ा, नहीं पकड़ा न, उसी प्रकार कर्म-रूपी पुद्गल-वर्गणाओं के मध्य रहते हुए भी वे किसी को स्वयमेव आकर नहीं बाँधती, बन्ध तभी होते हैं— जब

जीव स्वयमेव राग-द्वेष-रूप भाव-कर्म करता है। भाव-कर्म जीव का ही राग-द्वेष-रूप परिणाम है, अन्य के द्वारा की गई कोई अवस्था नहीं है। यह विषय भिन्न है कि द्रव्य-कर्म के बिना भाव-कर्म नहीं होते, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है पर जब द्रव्य-कर्मों से आत्मा स्वतंत्र होगी, तब भाव-कर्म को ही निर्मल करना होगा, बिना भाव-कर्मों के अभाव किये द्रव्य-कर्मों का अभाव नहीं होता, जैसे ही भाव विशुद्धि को प्राप्त होते हैं, द्रव्य-कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं। ज्ञानी! भाव-कर्म ज्ञान की ही धारा है, आत्मा की ही परिणति है, प्रत्येक अवस्था स्वाधीन है, कर्माधीन नहीं, यहाँ पर विचार करो— कर्माधीन कहकर वस्तु-व्यवस्था को भंग करने का प्रयास मत करो, कर्म-वर्गणाएँ स्वतंत्र रूप से स्व-चतुष्टय में विराजती हैं, जीव स्वयं ही राग-द्वेष-भाव करता है, तभी वे कर्म-रूप परिणत होती हैं। विचार करो— जीव कर्माधीन हैं कि परिणामों के अधीन हैं, मान-अपमान, लाभ-अलाभ, जो-भी-कुछ हो रहा है, वह भी सर्वथा कर्माधीन है— कहना बंद करो, उत्तम कर्मों के साधन की बात करो, जो आज मान-सम्मान प्राप्त हो रहा है, वहाँ भी सर्वथा इस मान्यता को निकाल दो कि मैंने ऐसा किया, सो मुझे सम्मान प्राप्त हो रहा है, जैसा वर्तमान में सम्मान के लिए आप कार्य कर रहे हैं, वैसा तो अन्य लोग भी कर रहे हैं, फिर तुझे सम्मान प्राप्त हो रहा है, दूसरे को अपमान ही प्राप्त होता है, क्या कारण है? ज्ञानी! पूर्व पुण्योदय कार्य कर रहा है, —ऐसा क्यों नहीं बोलता, एक जन्म से कष्ट को प्राप्त होता है, एक जन्म से सुखमय जीवन जी रहा है, सुकृत के काल में पाप का विपाक भी शुभ से फलित होते देखा जाता है और तीव्र पाप-कर्मोदय के काल में पुण्य-द्रव्य का फल भी दुःख-रूप फलित होता है, ऐसा आगम-वचन है, प्रत्येक कार्य आत्माधीन ही दिखता है, व्यवहार-नय से पराधीन भले ही कह दिया जाये। आत्मा जैसा भाव करता है, वैसा ही द्रव्य-कर्म फलित होता है, अन्य स्वतंत्र रूप से स्वतः कोई भी कर्म-बन्ध को प्राप्त नहीं होता। ज्ञानियो! स्व-ज्ञान से चिन्तवन करो, आत्माधीन हुए बिना जीव कभी भी कर्माधीनपने को प्राप्त नहीं होता, जो भी अभिनव कर्माश्रय हैं, वे-सब आत्मा के स्व-परिणामों के माध्यम से आस्रवित होते हैं। यदि आत्मा को त्रैकालिक ध्रुव, ज्ञायक-स्वभावी स्वरूप से निहारना चाहता है, तो कर्मों के ऊपर शक्ति का व्यय करना छोड़कर भावों की विशुद्धि में पुरुषार्थ करो, आत्मा कर्मातीत अवस्था को शीघ्र प्राप्त हो जाएगा। पर-भावों से निज भावों को विभक्त कर देखो, 'शुद्धोऽहं' के स्थान पर सर्वाधिक 'रूपभिन्नोऽहं' का ध्यान करना अनिवार्य है, बिना भिन्नत्व-भाव को समझे हुए शुद्धात्म-स्वरूप की

उपलब्धि त्रैकालिक संभव नहीं है, —ऐसा ध्रुव सत्य समझो, जिसने भी ध्रुव-ज्ञायक-स्वभाव को प्राप्त किया है, वे-सब भिन्नत्व-स्वभाव के ध्यान से ही प्राप्त हुए हैं। त्रिकाल, त्रिजगत् में बिना एकत्व-विभक्त-स्वभाव के ध्यान के आत्मा शुद्ध, ध्रुव, भूतार्थ, अशरीरी-स्वभाव को प्राप्त नहीं हो सकता। अशरीरी-भगवान् बनने के लिए पर-भावों की अपेक्षा को उपेक्षा-भाव से देखना होगा, जहाँ भिन्न भावों से अपेक्षा-भाव रखा नहीं कि निज स्वभाव से उपेक्षा हो जाती है। ज्ञानी! तेरे पास दो उद्यान हैं— 1. निज आत्म-भाव का, 2. पर-भाव का, आम्र-वन एवं निम्ब-वन के तुल्य, आम्रवन को खाद-पानी देता है, विशिष्ट ध्यान रखता है तो निम्ब-वन सूखता है और निम्ब-वन को पानी देते हैं, तो आम्र-वन सूखता है, आम्र-वन निज आत्म-द्रव्य, निम्ब-वन पर-द्रव्य है, एक मधुर-रस-प्रधान है, दूसरा कटुक, अब स्वयं पुनः चिन्तन करो— क्या श्रेष्ठ है, मधुर रस या कटु?..... दोनों के मध्य तू है। कटु-रस-सेवी की वर्तमान में ही मुख-मुद्रा विकृत देखी जाती है। मधुर-रस-सेवी का मुख-मण्डल प्रमुदित दिखता है, उसीप्रकार कटु-रस स्थानीय पर-भावों की अनुभूति है, मधुर-रस स्थानीय स्वानुभूति है। आत्म-द्रव्य की, स्वानुभूति ही ज्ञानानुभूति है, ज्ञानानुभूति ही आत्मानुभूति है, स्व-समय की प्राप्ति का सहज-मार्ग ज्ञानानुभूति में लीन रहना है, पर-भाव राग-द्वेष के उत्कृष्ट साधन हैं। निजानुभूति परम निर्वाण-श्री की श्रेष्ठ-हेतु है। दोनों मार्ग आपके नयनों के सामने प्रत्यक्ष दिख रहे हैं। अब आप स्वयं स्व-विवेक से निर्णय करें कि करना क्या है?... अपनी सुगति या दुर्गति?... यह स्वयं के हाथों में ही है, अन्य कोई कुछ-भी करने वाला नहीं है। एक ध्रुव आत्मा ही स्वयं का कर्त्ता-भोक्ता है।

अहो प्रज्ञा! स्व-प्रज्ञा को ब्रह्म बनाओ, उसे व्यभिचारी नहीं बनाओ, शरीर का गुण-दोष नहीं होता, प्रज्ञा में ही गुण-दोष के दर्शन हैं, तन न गुण-दाता है, न दोष-प्रदाता है, प्रज्ञा निर्मल रहे, —ऐसा ही पुरुषार्थ प्रतिक्षण होना चाहिए। जब भी भगवद् चरणों में जाए, चाहे निर्ग्रन्थों के पाद-मूल में पहुँचे, चाहे अर्हन्-मुख-कमल-वासी सर्वज्ञ के मूल में विराजे, सर्वत्र एक ही भावना भाना, अहो भगवद् सर्वज्ञ देव, निर्ग्रन्थ गुरु! वीतरागी-कथित जिनवाणी में एक इच्छा लेकर आया है, मेरी प्रज्ञा में दोष न लगे, अन्तिम श्वासों तक प्रज्ञा प्रशस्त रहे, तन नष्ट हो भी जाए, पर प्रज्ञा नष्ट न हो। आत्मा की प्रधान-शक्ति प्रज्ञा है, जितने पुरुष बन्ध को प्राप्त हुए हैं, वे-सब प्रज्ञा के विपर्यास से ही हुए हैं और जितने भी सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, वे-सब प्रज्ञा की सम्यक् प्रवृत्ति से ही हुए हैं। विश्वास रखना— मुमुक्षुओ! छल, कपट, मायाचारी, वंचक-वृत्ति,

काषायिक भावों से निर्वाण की प्राप्ति कब किसको हुई है? मेरे मित्रो! चाहे आप श्रावक हों, चाहे श्रमण; जिन-शासन में मायाचारी को मोक्ष-तत्त्व की प्राप्ति में कोई स्थान नहीं है, माया-धर्म तिर्यञ्च-पर्याय की प्राप्ति का ही उपाय है, न कि मोक्ष का उपाय है। मोक्ष का उपाय तो उत्तम आर्जव, मार्दव धर्म है, जो उभय-धर्मों से शून्य हैं वे मोक्षमार्ग के निकट ही नहीं हैं, वे मोक्ष-तत्त्व के शब्द-ज्ञान से भी अनभिज्ञ हैं, उन्हें अभी शान्त भाव से बैठकर चिन्तवन करना होगा, भेष का धर्मात्मा तो बन चुका, पर भाव के धर्मात्मा तभी बन पाएँगे, जब माया-धर्म को निज चैतन्य-भवन से भिन्न कर पाएँगे। ज्ञानी! ध्यान रखो— जब-तक माया-धर्म का पलायन नहीं होगा, तब-तक सत्यार्थ मोक्ष-मार्ग पर भी श्री-पाद नहीं रख सकेगा। निकट-भव्य-जीव ही सहज मार्दव-आर्जव-भाव को प्राप्त होता है, अन्य कोई कारण जिन-शासन में परिलक्षित नहीं होता, जिससे कि मायाचारी का अन्तरंग से गमन हो जाए और शिव-सुंदरी के श्री-मुख को स्व-वक्षु से निरख सकें, फिर अन्यत्र नेत्रों के गोलक नहीं घूमेंगे, यह ध्रुव सत्य है, आगम-वचन में शंका को स्थान कहाँ? शंका-शील का मोक्ष-मार्ग कहाँ?..... मोक्ष-मार्गी ध्रुव, निःशंक जीवन जीता है। अपने प्राणों से प्रिय, तत्त्व-बोध-ज्ञाता, कुशल-पुरुष, आगम-वचन को आत्म-वचन मानता है, अन्य वचनों में उसे किञ्चित् भी राग-भाव नहीं आता! ऐसा भव्यतर पुण्डरीक जीव ही स्व-पर भेद-विज्ञान को प्राप्त होता है, तत्त्व-बोध से शून्य-बुद्धि वाला पुरुष क्या स्व-भाव व पर-भाव के भेद को प्राप्त कर सकेगा? अहो ज्ञानियो! आपको तो अच्छी तरह से मालूम है कि क्षीर से नीर को पृथक् करने की कला तो हंस पक्षी के अंदर ही होती है। क्या क्षीर-नीर का भिन्नत्व भाव कौआ के अंदर भी होता है? मल-पिण्ड पर बैठने वाला क्या भिन्नत्व-भाव की विद्या का ज्ञाता होगा? काक-वृत्ति भोग-वृत्ति है, विषयों के मल-पिण्ड में अनुरक्त चित्त वाले पुरुष वस्तु-स्वरूप के सत्यार्थ-भाव को प्राप्त नहीं होते। अहो भव्य! जो भावी भगवान् होते हैं, वे ही शिव-सुंदरी-प्रदाता शिव-मार्ग पर उपेक्षा-भाव से जी पाते हैं, आनन्द-कंद, ज्ञान-घन, चिद-पिण्ड चैतन्य-भगवान् आत्मा को प्राप्त करने वाले पुरुष अनोखे ही होते हैं, जिसके अंदर स्वप्न में भी विषयों के स्वप्न नहीं आते, कषाय पर भी कषाय नहीं आती, फिर वह अन्य कषायी पर क्या कषाय करेगा?.... अहो! जो विरागियों से विरागी रहता है, वित्त पर ही नहीं, जो वित्त-रागी के चित्त पर भी चित्त नहीं डालते, वे तो मात्र ज्ञानानुभूति, आत्मानुभूति में समय निकालते हैं, समय से उन्हें समय ही नहीं मिलता, वे-तो

ज्ञान-स्कन्ध समयसार हैं। शुद्ध लवण की डली के तुल्य वे शुद्धात्मा के रस का पान करते हैं, जहाँ अन्य पदार्थों का मिश्रण नहीं है। एक-मात्र ज्ञायक-भाव ही ध्रुव ध्यान है, अन्य ध्यान-ध्याता के विकल्प का जहाँ अभाव है, परिपूर्ण एकत्व-भाव का मात्र सद्भाव है। सत् का अभाव नहीं है, अज्ञ प्राणी सत् को नहीं समझ पा रहे, जो-कि भूतार्थ-वस्तु के धर्म हैं, वे अन्य में अन्य का धर्म खोजते हैं, स्व-पर में एवं अपने और अन्य की वस्तु में भेद नहीं कर पाते। आप और पर का भेद होना अनिवार्य है, जहाँ पर्याय में निज-पर्याय-बुद्धि है, वहीं ज्ञानी पर-समय है, पर-समय में लीनता बहिरात्म-पना है। बहिरात्मा जब-तक मन्द कषाय के साथ मृदुता को प्राप्त नहीं होता, तब-तक सम्यक्त्व-दशा भी नहीं बनती, बिना सम्यक्त्व के उपेक्षा-भाव का जन्म नहीं होता। उपेक्षा उत्कृष्ट-साधना है, जहाँ न तो किसी से राग का पक्ष रहता है, न द्वेष का ही पक्ष रहता है, सम्पूर्ण पक्षपातों से रहित-अवस्था मुमुक्षु जीव की होती है, वही परम-उपेक्षा है, अपेक्षा में राग-मोह रहता है, अपेक्षा पराधीनता से युक्त दशा है, उपेक्षा स्वतंत्र तथा मोह-राग-रहित अवस्था है, उसे ही माध्यस्थ-भाव कहते हैं, सम्पूर्ण अशुभ विकल्पों का ही नहीं, बुद्धि-पूर्वक शुभ भावों के विकल्पों से परे की अवस्था है। पन्थ, सन्त, आम्नाय, संघ, वादों में पड़े जीवों की यह उपेक्षा अपेक्षा ही करती है, यानी उत्कृष्ट साधना-भूत अपेक्षा, उदासीनता प्रमाद-जन्य उपेक्षा की अपेक्षा करती है। माध्यस्थता-रूप जो उपेक्षा है, वही मोक्ष-मार्ग में प्रयोजन-भूत है, कुशल-कर्तव्य में उदास होना मोक्ष-मार्ग नहीं है, मोक्ष-मार्ग तो संवेगी-भाव है, धर्म-धर्मात्माओं को देखते ही हर्षित-भाव होने लगे जिसके, वही जीव संवेगी है। शिवत्व की प्राप्ति उत्कृष्ट उपेक्षा-भाव से ही होगी। अहो मुमुक्षुओ! भाषण समाप्त कर भावों को पर-भावों से भिन्न करो और निज ध्रुव ज्ञायक-भाव में लीन हो जाओ।।२०।।

विशुद्ध-वचन

* नहीं बन पाओगे ब्रह्मचारी
पाबन्दी लगाने से
संतान की उत्पत्ति पर....
यदि लगाना है तो लगाओ
वासना पर....
तभी बनोगे
सही मायने में ब्रह्मचारी....।

* जो
पर की करता
उपेक्षा
और रमता
निज में
वही
लीन होता
अकिंचन में.....।

श्लोक¹-21

उत्थानिका— शिष्य गुरुदेव से प्रार्थना करता है— भगवन्! निज शुद्धात्म-स्वरूप की प्राप्ति के लिए और-क्या करना होगा? स्वयं प्राप्ति की तृष्णा करने से क्या स्वरूप प्राप्त हो पाएगा?.....

समाधान— आचार्य-भगवन् समाधान करते हैं—

तथाप्यतितृष्णावान् हन्त! मा भूस्त्वमात्मनि।

यावत्तृष्णा प्रभूतिस्ते तावन्मोक्षं न यास्यसि।।

अन्वयार्थ— (हन्त!) हे आत्मन!, (तथापि) ऐसा आत्म-चिन्तन होने पर भी, (त्वम्) तुम, (आत्मनि) अपने विषय में भी, (अति-तृष्णावान्) अत्यन्त तृष्णा से युक्त, (मा भूः) मत होओ, क्योंकि, (यावत्) जब-तक, (ते) तुम्हारे/अन्तस् में, (तृष्णा प्रभूतिः) तृष्णा की भावना उत्पन्न होती रहेगी, (तावत्) तब-तक (तुम्) (मोक्षं) मोक्ष, (न यास्यसि) नहीं पा सकोगे।।21।।

परिशीलन— तृष्णा एक ज्वाला है, जो ईंधन-रूपी घृत के डालने से शान्त नहीं होती, अपितु वृद्धि को ही प्राप्त होती है, नदियों से जिसप्रकार समुद्र तृप्त नहीं होता, उसीप्रकार वस्तु की प्राप्ति से तृष्णा शान्त नहीं होती, अपितु वृद्धि को ही प्राप्त होती रहती है, वह पदार्थ चाहे परमार्थभूत हो, चाहे लौकिक। जीव की इच्छा कभी पूरी नहीं होती, एक के बाद एक वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। ज्ञानियो! लहरें चाहे खारे समुद्र में हों, चाहे क्षीर-सागर में, पर लहरों के मध्य सागर में पड़ा मोती दिखायी नहीं देता, उसीप्रकार तृष्णा चाहे विषयों की हो, चाहे स्वानुभव की, पर तृष्णा के काल में चित्त में चैतन्य की झलक प्राप्त नहीं होती, स्थिर पानी में ही मोती दिखायी पड़ता है, स्थिर चित्त में ही भगवती आत्मा का दर्शन होता है। चित्त की लहरों का स्तम्भन करो, जैसे— एक मंत्रवादी रक्त-नयन काले नाग को अपने मंत्र से क्षण-मात्र में स्तम्भित कर उसे पकड़ लेता है और उसके अंदर से मणि को निकाल लेता है, उसीप्रकार आत्म-साधक विषयों में लगे हुए नयनों अर्थात् रक्त-नयन वाले इस चित्त-रूपी

1. इस श्लोक का पाठान्तर निम्न प्रकार है—

तथाप्यतीव तृष्णा वा, हन्त! मा भूत् तवात्मनि।

यावत् तृष्णा प्रसूतिः स्यात्, तावन्मोक्षं न यास्यसि।।

कालिया-नाग को भेद-विज्ञान-रूपी मंत्र के द्वारा स्तंभित कर इसके अन्तरंग में निहित रत्नत्रय-धर्म की मणि को प्राप्त कर लेता है। तृष्णा चित्त को ऐसे विकृत करती है, जैसे— मधुर-दुग्ध को नीबू की एक बूँद क्षण में ही विकृत कर देती है, उसीप्रकार तृष्णा चैतन्य-धर्म की मधुरता को क्षार-क्षार कर देती है, सुख वहीं है, शांति भी वहीं है, जहाँ तृष्णा का वास नहीं है, तृष्णा एवं आत्म-शान्ति में सौत का सम्बन्ध है, दोनों एक-साथ एक-दूसरे को देखना पसंद नहीं करते, लोक-इतिहास में सर्वत्र प्रसिद्ध है सौत की ईर्ष्या-दाह। नारी पर्याय में तीव्र कष्ट का कोई कारण है, तो वह सौत की ईर्ष्या है। स्वयं के सामने यह महीषी-जैसा पद भी क्यों न हो, पर सौत की ईर्ष्या उस पद का आनन्द-पान नहीं करने देती, ज्ञानियो! जैसे— किसी व्यक्ति के मुख में अंदर के विकार से फोले आ जावें, फिर देखो— मधुर-भोजन भी उसे शूल लगने लगता है, यहाँ तक कि कभी-कभी शीतल नीर भी उसे कष्ट देता है, वह पुरुष किञ्चित् भी साता का वेदन नहीं कर पाता, जबकि सम्पूर्ण सुख-सामग्री सामने है, उसीप्रकार तृष्णा और ईर्ष्या के फोले जिसके अन्तःकरण में आ जाते हैं, उसे वर्तमान में प्राप्त भोग-सामग्री, राज्य-सम्पदा, चक्री-जैसे पद, शीतल चंदन के छीटे, शीतल समीर, चन्द्र की चाँदनी भी जलाती है, उस व्यक्ति को कहीं दूर-दूर तक साता नहीं दिखती। अहो! तृष्णाग्नि! तेरी शक्ति विचित्र है। तूने भिखारी से लेकर महाराजा तक को कष्ट में डाला है, अणुव्रती से महाव्रती तक को तू अपना रूप दिखा देती है। अहो! मुमुक्षुओ! जब स्वानुभव की इच्छा भी स्वानुभूति में बाधक है, तो वह मोक्ष की साधिका कैसे हो सकती है? साधक-भाव तो पर-भाव की भावना का अभाव है, पर-गत-तत्त्व की भावना भी परमार्थ से स्व-गत-तत्त्व में बाधक है। उन जीवों को आज चिन्तवन करना होगा, जो दिन-रात पर-पदार्थों में अपनी पर्याय को नष्ट कर रहे हैं, अति-तृष्णा में आकर करणीय-अकरणीय में कुछ भी ध्यान नहीं रखते। अहो! तृष्णा के वश होकर संसार में कितने जीवों ने अपनी गति को विकृत किया है, एक-एक इन्द्रिय की तृष्णा के वश होकर हाथी, मछली, भ्रमर, पतंगा, मृग आदि अपनी आत्म-स्वतंत्रता एवं प्राणों तक का घात करा बैठते हैं, फिर इन नरों का क्या होगा, जो-कि पाँचों ही इन्द्रियों के विषयों में तृष्णातुर हैं, न पर्व के दिन देखते, न रात-दिन देखते, यदि ये मनुष्य कम-से-कम दिन में विषय-सेवन अर्थात् दिवा-मैथुन का त्याग करें, तो पंद्रह दिन के ब्रह्मचर्य-व्रत का फल अपने-आप प्राप्त हो जावे, सत्पुरुष विवेकी दिन में परिपूर्ण-शील का पालन करते हैं, दिवा-मैथुन-सेवी को नरों में अधम समझो। तृष्णा कितनी गहरी होती है कि जीव धन एवं तन के राग में धर्म

को ही भूल जाता है, जिसके प्रसाद से उत्तम देह, देश-धर्म एवं धर्मात्माओं का संयोग प्राप्त है। नाना प्रकार के असत्य-भाषण भी तृष्णा के ही कारण होते हैं, शील-धर्म के घात का कारण विषय-तृष्णा ही तो है। तृष्णातुर द्रव्य की प्राप्ति में दुःखी रहता है, यदि नियोग-वश प्राप्त हो भी जाये, तो उसके रक्षण में दुःखी होता है, द्रव्य कोई भी कमा ले, पर भोग तो भाग्यवान् ही करता है, आगम-इतिहास साक्षी है। शंभूकुमार ने एक धान्य का नियम लेकर चंद्रहास खड्ग-सिद्ध किया, सिद्ध भी हो गया, परन्तु देखो— लाभान्तराय एवं भोगान्तराय का तीव्र उदय कि घोर साधना के उपरान्त सिद्ध हुआ खड्ग प्रबल-पुण्यात्मा नारायण-लक्ष्मण के हाथ लगा और जिसने सिद्ध किया था, उसके ही सिर को अलग कर दिया, यानी शंभूकुमार के घात का ही कारण हो गया, यह हुआ न्याय। ज्ञानियो! ध्यान दो— तृष्णा से अर्थ-संग्रह करने का लाभ तीव्र राग, क्लेश, नरक-आयु का आस्रव ही समझो, व्यक्ति पर के लिए कमा कर रख जाता है और विशेष कुछ नहीं है, जिस संतान के राग में कमा रहा है, उस संतान का स्वयं का भाग्य होगा कि नहीं, फिर राग के वश होकर पिता तो व्यर्थ में अशान्ति का अनुभव कर रहा है, जीव को उतना ही मिलता है, जितना पुण्योदय होता है, बिना पुण्य के अन्य के द्वारा कोटि-कोटि द्रव्य भी सौंप दिया जाय, परन्तु मालूम नहीं चलता— कब और कहाँ चला गया?... राग करके मात्र बन्ध ही प्राप्त हुआ, ज्ञानियो! फिर क्यों बन्ध की भेंट को स्वीकारते हो, उपहार ही लेना है, तो रत्नत्रय-धर्म का लो। तृष्णा के गर्त अति-विशाल हैं, जिसमें सारे विश्व के पदार्थ परमाणु-जैसे दिखते हैं, अब स्वयं ही विचार करें, क्या किसी की तृष्णा को आप पूरा कर सकते हैं?... तृष्णा का संताप गंगा के शुद्ध नीर से शान्त होने वाला नहीं है, न ही मलय-चंदन से। अहो! जो संताप अग्नि को ज्वाला नहीं देता, वह संताप तृष्णा (नैरन्तर्य) की ज्वाला देता है, दिन में चैन नहीं, रात को नींद नहीं, भोजन में भूख नहीं, पानी की प्यास नहीं, यह है तृष्णा की महिमा, एकान्त में जाकर तल्लीन हुआ मिलता है, अप्राप्त में प्राप्ति की तृष्णा से युक्त-जैसे कोई महा-तपस्वी योगीन्द्र आत्म-ध्यान में निमग्न हो गये हों। योगीन्द्र को सारा जगत् असार दिखायी देता है, पर तृष्णावान् को इस दुःख-मय लोक में सुख ही सुख दिखलायी पड़ता है, तभी परमात्मा एवं निज शुद्ध स्वभावी भगवान् आत्मा को छोड़कर जड़ पुद्गल पिण्डों में निज-ध्रुव स्वभाव-चैतन्य-प्रकाश को आशा में बुझा रहा है।

अहो! तृष्णातुरों से बोल देना, आज ही ध्यान से सुनना— क्या बोलना है कि क्या मोक्ष की तृष्णा से किसी को मोक्ष प्राप्त हुआ है?... मोक्ष तो निर्दोष मायाचारी-रहित

शुद्ध मार्दव-आर्जव-भाव के साथ आगम-प्रणीत रत्नत्रय धर्म की निःकाक्षित विशद आराधना से होता है और धन-सम्पदा की प्राप्ति ज्ञानियो! लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती है, यदि लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम नहीं है, अलाभ का तीव्र उदय ही उदय है, तो कोई कितनी ही तृष्णा कर ले, कर्मास्रव एवं बंध ही कर लेगा, पर बाह्य वैभव को भी प्राप्त नहीं कर सकेगा। मेरे मित्र! जब अशुभ-औदयिक-भाव चल रहा हो, उस काल में निज परिणामों को शान्ति-पूर्वक स्थिर रखते हुए क्लेश से भयभीत होकर, संक्लेश से अपने मन को मुक्त रखते हुए समय को जिनदेव, श्रुत और गुरु के पाद-मूल में बिताना चाहिए, कारण समझना— अशुभोदय तो चल ही रहा था, अशुभोदय के काल में तृष्णातुर रहोगे, तो और-अशुभ ही होगा, विश्वास रखना— पापोदय में उल्टा ही उल्टा होता है, श्रेष्ठ तो यही है कि अशुभ दिनों को शुभ में लगाएँ, पाप-समय को पुण्य में फलित करने की कला शान्त-भाव है। शुभ से अशुभ कर्मोदय क्षण मात्र में संक्रमित हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। यह पंच-परमेष्ठी एवं शुद्ध-भावों की दशा की परिणति का परिणमन है। मिट्टी में भी धान्य उगते हैं, उपसर्गों में आत्मा भी कुन्दन बनती है, जो कष्टों एवं उपसर्गों से भयभीत होते हैं.., वे मोक्ष-मार्ग में अनुत्तीर्ण हो ही जाते हैं।

ज्ञानियो! उत्तीर्णता तभी मिलती है, जब पूर्णांक होते हैं, अपूर्णांक से कभी भी पूर्ण-उत्तीर्ण नहीं होते, उसी प्रकार निर्वाण-प्राप्ति तृष्णा से रिक्त पुरुष को ही होती है, तृष्णातुर पुरुष को निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती, समग्र चारित्र धारण करने वाला, तृष्णा की अनल से आत्म-रक्षा करने वाले, भव्यवर पुंडरीक जीव ही मोक्षमार्ग में उत्तीर्ण होते हैं, जो विषयों की तृष्णा में सामायिक संयम को खो रहे हैं, निर्माण एवं नाम-पट्टिका... पर निर्वाण-मार्ग को दूषित कर रहे हैं, वे उत्तीर्ण कैसे होंगे? अहो ज्ञानियो! राग-विषय का विसर्जन करते हुए परिपूर्ण शान्त-भाव से विषय को आत्म-विषय बनाइये। जल में खिलने पर कमल जल-रूप नहीं होता, जल में तो है, पर जल-मय नहीं है, जल जल ही है, कमल कमल ही है, कमल चाहे भी कि मैं जल-मय हो जाऊँ, तो भी नहीं होता, उसी प्रकार जीव पर-पदार्थों की तृष्णा करते रहें, अज्ञान से मोहित होकर बद्ध-अबद्धों के प्रति, तो भी वे पर-पदार्थ स्व-धर्म का परित्याग कर जीव रूप नहीं हो जाएँगे, वे तो स्व-धर्म में ही निवास करते रहेंगे और जीव व्यर्थ में राग के पाश में बँधकर भव-भ्रमण करता रहेगा, शब्दों में मोक्ष-प्राप्ति की बात करता रहेगा। बुद्धि संसार-बुद्धि में वर्धमान है, अब क्या कहें— स्वयं चिन्तवन भी करो— क्या हम स्वात्मा की वंचना नहीं कर रहे?... धर्मात्मा का भेष धारण कर क्या अधर्म नहीं कर रहे?...

किञ्चित् भी निज ब्रह्म-भाव से यदि पर-भावों में परिणति ले जाते हो, तो ध्यान रखना— चित्त चारित्रवान् तो रह सकता है, पर क्या भाव-चारित्रवान् रह पाओगे, जब चारित्र ही गया, तब अन्य जाने को क्या बचा?... योगी की सम्पत्ति तो चारित्र ही है। भोगी के पास में बाह्य पर-पदार्थों की सम्पत्ति बहुत हुआ करती है, वे मोह-वश भिन्न द्रव्यों के संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद करते हुए दिखते हैं, जबकि ध्रुव सत्य यह है, यह राग-मोह का योग है, ये दोनों समाप्त हो जाएँ, तो भोग-सामग्री के संग्रह-रक्षण की मूर्च्छा समाप्त हो जाएगी, जब मूर्च्छा चली जाएगी, तब विश्वास रखना— सम्पूर्ण पर-पदार्थों की तृष्णा चली जाएगी, तृष्णा गई, यानी कि संसार-भ्रमण भी गया। लोक में भिन्न पर-द्रव्यों के कारण पिता-पुत्र, पति-पत्नी, माता-पुत्री में भी विसंवाद देखा जाता है, आत्म-न्याय को भूलकर सगे-संबंधी न्यायालय में एक-दूसरे के प्रति अन्याय की बात करते हैं, कोई समझदार वहीं पूछ ले कि ये कौन हैं? तो ज्ञानी! आँख नम हो जाएगी, है कौन?... जन्म देने वाली माँ है, अहो अर्थ! तुझे धन्यवाद है, जो-कि तूने अपने राग में जननी-जैसे संबंध को दुग्ध में नीबू की बूँद के सदृश क्षार-क्षार कर दिया, क्या है तृष्णा की महिमा, जो-कि मैत्री-भाव को पूर्ण नष्ट करा देती है। तृष्णा का उदर बहुत विशाल है, धन की तृष्णा, सम्मान की तृष्णा, पद-प्रतिष्ठा की तृष्णा, उपलब्धियों की तृष्णा, परिवार-वृद्धि की तृष्णा, संघ-वृद्धि की तृष्णा, संग-वृद्धि की तृष्णा, ज्ञानियो! ये तृष्णाएँ भव-भ्रमण में कारण हैं। तृष्णा करने से नियम से संसार-वृद्धि को प्राप्त होगा, संसार की वृद्धि होगी, तो जीव कहाँ रहेगा? नियम से भव-भ्रमण होगा। जिन जीवों को संसार की अनुभूति दीर्घ काल तक लेना हो, वे स्वप्न में भी तृष्णा का त्याग नहीं करें। कारण कि तृष्णा कम-होने से कषाय में मंदता आती है, काषायिक मन्दता होते-होते क्षीण-कषाय-अवस्था तक जीव का प्रवेश हो जाता है, जो जीव क्षीण-कषाय-गुणस्थान में पहुँच जाता है, वह अब पुनः नीचे गुणस्थान में नहीं आएगा, नियम से संसारातीत अवस्था को प्राप्त कर अशरीरी परमात्मा बन जाएगा और तब सम्पूर्ण नाना रूपताएँ (संसार की) नाश को प्राप्त हो जाएँगी, दीर्घ-संसार-नीर चुल्लु-प्रमाण हो जाएगा, फिर वह शाश्वत-धाम में प्रवेश कर जाएगा, जहाँ अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अलिङ्गी-दशा सहज प्रकट हो जावेगी, फिर आत्मा टंकोत्कीर्ण, ज्ञान-घन, आनंद-कन्द, ज्ञायक-भाव में त्रैकालिक लवलीन होगी, सम्पूर्ण विकल्प-जाल के कारण जो कर्म-बन्ध था, जब वही समाप्त हो जाएगा, फिर सदा-सदा के लिए दुःख-संतति का वियोग हो जाएगा, अखण्ड चिद्रूप

भगवान् आत्मा अब कभी भवांकुर को प्राप्त नहीं होगी, सदा-सदा के लिए दग्ध-बीजवत् कर्म-बीज की शक्ति से रहित हो जाएँगे; पर जब-तक तृष्णा की तपन है, तब-तक भव-बीजों का अंकुरण अनवरत है, —इसमें शंका नहीं करना, शुद्ध निश्चय-नय से ज्ञायक-भाव मात्र इस ध्रुव आत्म-द्रव्य का स्वभाव है, पर से अस्पर्श असंयुक्त-भाव है, ज्ञानानुभूति ही आत्मानुभूति है, आत्मानुभूति से भिन्न कोई ज्ञानानुभूति नहीं है, पर अज्ञ प्राणी तृष्णातुर हुआ शुद्धात्मानुभूति का आनन्द प्राप्त कर भी कैसे पाता है?... निज ज्ञान-गुण को विषयों की तृष्णा में लगाकर चिदशक्ति से अपरिचित हो रहा है। अहो! अहो! तत्त्व की गहराई में उतरकर चिन्तवन करो, जब विषय-तृष्णा में चित्त लीन होता है, तब तन्मय हो जाता है, उस समय आत्मा की ज्ञान-धारा विषयासक्त हो जाती है, जैसे— रज से आच्छादित दर्पण में चेहरा दिखायी नहीं देता, उसीप्रकार विषयों की रज से आच्छादित चित्त में निज स्वानुभूति का दर्शन नहीं होता, जो आत्मा का सत्यार्थ-धर्म है, उसे ही जीव भूल रहा है। जब जीव विषयासक्त होता है, तब ऐसा लीन होता है कि जगत् के अन्य संबंधों को भूल जाता है, ऐसी लीनता स्वात्मा में हो जाती, तो क्यों विषयों की पंक में निज धर्म को धूमिल करता। अहा, हा हा! क्या राग की महिमा, जो जन्मदात्री जननी को भी छोड़ देता है, शरीर का ध्यान नहीं, धर्म का ध्यान नहीं, जाति, कुल, परम्परा सबको भूल कर नाली के कीड़े के तुल्य मल-मूत्र के लिए बड़े जघन्य निम्न स्थान पर रमण को प्राप्त होता है, जिन्हें स्वयं अविकारी भाव से देखना तो ठीक, नाम लेना भी लज्जा को उत्पन्न कराता है। ज्ञानी! जो विषय-तृष्णा है, वह इतनी संताप देती है कि उसके संताप को दूर करने के लिए चन्दन के छींटे, निर्मल शीतल नीर, सुगंधित समीर, कोमल शय्या भी कारगर नहीं है, चंद्रमा की चाँदनी भी उसे दग्ध कर देती है। यह काम की व्यथा भी विकराल है, वह न मनुष्यता रहने देती है, न देवत्व को, सत्यता तो कामी के पास अपना मुख भी दिखाने नहीं आती, कामी के पास कोई सत्यता नहीं रहती। कारण यह है कि जब काम की बाधा से व्यक्ति पीड़ित होता है, तब वह जीव अपने सम्पूर्ण पवित्र-मार्ग की मर्यादाएँ तोड़े हुए होता है और अपवित्र मार्ग से हटना चाहता नहीं है, पिता के द्वारा पुत्री पर, भाई के द्वारा भगिनी पर एवं पुत्र-वधु पर ससुर की कुदृष्टि के दृष्टान्त जब लोक में सुनते हैं, तब समझ में आता है कि अहो! तूने जगत् में कोई पवित्र स्थान नहीं छोड़ा, पर कुदृष्टि डालने वाले पुत्री से पुत्री का ही व्यवहार कर रहे हैं, क्या यह सत्यता है? भाव-ब्रह्म की खोज की जाये, तो ज्ञानी! जगत् में महामारी-जैसी

दिखेगी, जैसे महामारी के होने पर नगर के नगर जन-मानस से शून्य हो जाते हैं, सारे नगर में कहीं एक-दो नर ही जीवित हों, मानों शेष मृत हो चुके हों, उसी प्रकार लोक में भाव-ब्रह्मचारी एक दो ही होंगे, यानी अत्यन्त अल्प होंगे, —ऐसा समझना, द्रव्य (तन) से कितनी निर्दोषता से युक्त जीव रहता है, अहो मनीषी! चार अंगुल की रसना इन्द्रिय, चार अंगुल की स्पर्शन-इन्द्रिय —ये दोनों काम-इन्द्रिय हैं, इन आठ अंगुल पर नियंत्रण जिसका हो गया है, वे ही भव्य-पुरुष अष्टम वसुधा के स्वामी हुआ करते हैं, अन्यथा नीचे की सात भूमियाँ तो असाधारण प्राप्त होती हैं, वे हैं सात नरक! विषय-तृष्णा में आतुर पुरुष सम्पूर्ण विवेक-बोध तथा बोधि का ध्यान भूल जाता है, सूर्य की दिव्य ज्योति में भी उसे दिखायी नहीं देता, सत्यता तो है, जिसके जीवन में चारित्र का प्रकाश विनष्ट हो गया हो, उसके सामने तो अन्धकार ही अन्धकार है, अब बाहर का प्रकाश क्या करेगा?..... चिद्-ज्योति का आलोक ही परम प्रकाश है। सम्पूर्ण बाह्य साधना एक ओर, शील-व्रत एक ओर। ज्ञानी! शील के अभाव में कोई व्रत ही नहीं है, सम्पूर्ण व्रतों की प्रामाणिकता शील-व्रत से ही है, शील गया, तो समझो—सब-कुछ गया, शेष व्रत तो ऐसे मानना— जैसे-कि गेहूँ के अंदर घुन का कीड़ा, अन्दर ही अन्दर गेहूँ को खोखला कर देता है, पर ऊपर की चमक फिर-भी दिख रही है, उसीप्रकार जिसके हृदय में काम-कीड़ा लग गया है, उसके व्रतों की चमक घुने गेहूँ के सदृश है। ज्ञानियो! खोखले संयमी उभय-रूप पापास्रव कर रहे हैं, एक तो अब्रह्म महापाप, दूसरा मायाचार। गृहस्थ होते, एक भवन होता, परिवार चलता, सभी के सामने दाम्पत्य-जीवन जीता, तो उभय-पाप का आस्रव तो नहीं होता। अहो मुमुक्षुओ! संयम-मार्ग तो संयम का ही है, असंयम का नहीं है। त्रैलोक्यपूज्य शील-व्रत जो धारण किये होते हैं, ऐसे महाव्रतियों के चरणों की रज भी वन्दनीय है, —ऐसे योगियों के दर्शन जहाँ प्राप्त हों, वहाँ शीघ्र चरणों में शीश झुका देना, शिव-सुख के साक्षात् पथिक की वंदना भी बन्धन को तोड़ देती है। ज्ञानियो! अखण्ड, ध्रुव, ज्ञायक-भाव का आलम्बन लेने से निर्दोष शील-धर्म का पालन होता है, ज्ञान से ज्ञेयों को भी जानना जहाँ विराम ले लेगा, वहीं ज्ञानानुभूतियाँ प्रारंभ हो जाएँगी, यह तो ज्ञानानुभूति है, वही आत्मानुभूति है, जो परम-योगीश्वरों के निश्चय ध्यान का विषय है, वही परम ब्रह्म-धर्म है, यहाँ पर सम्पूर्ण विषय-तृष्णा का वियोग हो जाता है, एक-मात्र निजात्म-रमणी का ही संयोग रहता है, पर-पदार्थों से परिणति परिपूर्ण पृथक् हो जाती है, मुनि बनने का आनन्द यहीं से प्रारम्भ होता है, इसके पूर्व मात्र बाह्याचरण था, जो-कि कषाय की

मन्दता में स्वर्ग मात्र का साधन था, परम निर्वाण का जनक अतृष्णा-रूप आत्म-वैभव ही है, जहाँ ध्यान-ध्याता, ज्ञान-ज्ञाता का भी भेद समाप्त हो जाता है, विश्वास रखना— जैसे भोगी के लिए पर-रमणी का रमण व्यभिचारी बना देता है, वैसे ही योगी को पर की चिन्ता और वन, भव, भक्त व समाज का राग ही निजात्म-रमणी से पृथक् कर देता है। जहाँ निज-स्वभाव से योगी किञ्चित् भी भिन्न हुआ नहीं कि आत्म-ब्रह्म का अभाव हुआ और प्रज्ञा का व्यभिचार हुआ, निर्वाण के लिए जगत् निर्माण का विकल्प भी अब्रह्म-भाव है। अर्थ-दृष्टि से योगीश्वरों को पूर्ण पृथक् रहने की आवश्यकता है, “स्त्री-श्री” दो से त्यागी जितना सुरक्षित रहेगा, उतना ही धर्म सुरक्षित रह सकेगा, अन्यथा शरीर-लिंग तो बना रहेगा, पर अलिङ्गी आत्म-धर्म नष्ट हो जाएगा। सम्पूर्ण अनर्थों की जड़ विषय-तृष्णा को समझो, आगम में धन-श्री नाम की नारी का वर्णन आता है, उसने विषयाशा में आकर अपने लड़के के ही टुकड़े कर दिए थे, यह तो आगम-दृष्टान्त है; आज तो इस तरह के प्रति-दिन के दृष्टान्त दिख रहे हैं, माँ ही एक भव में अनेक लालों के रक्त को बहा देती है, गर्भपात-जैसे निकृष्ट कर्मों को कर मातृ-भाव को कलंकित कर दुर्गति का बन्ध कर लेती है, क्या पंचेन्द्रिय को मारने वाला स्वर्ग-मोक्ष जाएगा? अहो! जनक-जननियो! चाहे आप नन्दीश्वर पर्व कर लें, चाहे दसलक्षण पर्व करें, कितने ही व्रत पाल लो, पर लाल को न पाल के गर्भ में नष्ट कराना घोर पाप है और जब-तक आप प्रायश्चित्त नहीं ले लेते, तब-तक यह घोर पाप नष्ट होने वाला नहीं है, यह-सब विषय-तृष्णा का कुफल है।

धन की तृष्णा तो त्यागियों को त्याग से च्युत कर रही है, जो झोपड़ियों में रहते थे, वे बेचारे सत्य-वैराग्य के अभाव में खण्ड पर खण्ड, भवनों के बनाने में मोक्ष खोज रहे हैं, जबकि सभी को ज्ञात है कि भवनों का नष्ट होना निश्चित है, तो-फिर आत्म-भवन को क्यों नष्ट कर रहे हैं, वनों में रहने वाले साधक द्वारा भवन-निर्माण! चिन्तवन का विषय अवश्य है। जिन-दर्शन में योगीश्वर अहिंसा महाव्रती होते हैं, कृत-कारित-अनुमोदना से षट्काय के जीवों की रक्षा करते हैं, वे सर्पवत् अनगारी होते हैं, निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय मात्र जिनका लक्ष्य है, अन्य नहीं, अन्यथा नहीं, वित्तराग-वीतरागता का साधन किञ्चित् भी नहीं है, —यह निश्चय कर जानो। उपाधियों की तृष्णा महातृष्णा है, जो साधक की साधना में महामारी रोग है, तात्पर्य समझना— तृष्णा से साध्य सिद्ध नहीं होता। आत्म-प्राप्ति की तृष्णा भी आत्म-तत्त्व की प्राप्ति नहीं होने देती, फिर भी रागी तृष्णातुर हैं, खेद है कि जीव आत्म-विवेक को खोकर तृष्णा में लिप्त हो रहे हैं, मेरे मित्र! यदि असार संसार पार होना चाहते हो, तो अब तृष्णा का त्याग करो॥२१॥

श्लोक-22

उत्थानिका— शिष्य आचार्य-भगवन् से प्रार्थना करते हुए पृच्छना करता है— भगवन्! मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी? भावना भाते-भाते ही क्या मोक्ष मिल जाएगा?.....

समाधान— अहो ज्ञानी! ध्यान से सुनो—

‘यस्य मोक्षेऽपि नाकाङ्क्षा स मोक्षमधिगच्छति ।

इत्युक्तत्वाद्वितान्वेषी काङ्क्षां न क्वापि योजयेत् ।।

अन्वयार्थ— (यस्य) जिसके, (मोक्षे अपि) मोक्ष की भी, (आकाङ्क्षा) अभिलाषा, (न) नहीं होती, (सः) वह भव्य मनुष्य, (मोक्ष) मोक्ष को, (अधिगच्छति) प्राप्त कर लेता है, (इति) ऐसा, (उक्तत्वात्) सर्वज्ञ-देव द्वारा अथवा आगम द्वारा कहा गया है, इस कारण, (हितान्वेषी) हित की खोज में लगे हुए व्यक्ति को, (क्वापि) कहीं भी, (कोई भी) (आकाङ्क्षा) आकाङ्क्षा/इच्छा, (न योजयेत्) नहीं करनी चाहिए।।22।।

परिशीलन— आचार्य-प्रवर नव-नव माणिक्यों की माला बनाते चले जा रहे हैं, भव्यो! यही भाग्य मानकर चलना, अन्य भाग्य की बात नहीं करना, जो आज खोटे पंचम काल में भी जिन-मुद्रा-धारियों के दर्शन एवं जिनवाणी श्रवण, पाठन करने को प्राप्त हो रही है। उन जीवों से पृच्छना कर लेना कि आपको कैसा लगता था, जो-कि न जिन-मुद्रा के दर्शन कर पाये, न ही सिद्धान्त-शास्त्रों को पढ़ पाए, वे पूर्व विद्वान् अपने कक्ष में वस्त्र उतार-उतार के विचार करते थे— अहो! कैसी होगी, वह वीतरागी निर्ग्रन्थों की मुद्रा?... आज अहोभाग्य है! सर्वत्र सिद्धान्त-ग्रन्थ एवं निर्ग्रन्थों के दर्शन-प्रवचन हो रहे हैं। सत्यार्थ-मार्ग का दिग्दर्शन कराने वाले गुरुओं की देशना प्राप्त हो रही है। वे बड़भागी हैं, जो तत्त्व को रुचि-पूर्वक सुनते एवं सुनाते हैं, उनका ही जीवन पावन है, वे वचन, मन, तन पुण्य-रूप हैं, जो देव-शास्त्र-गुरु के प्रति उत्साह से पूर्ण हैं। वाग्गंगा में निमग्न होने वाले भोगों की वैतरणी में कौन निमग्न

1. कुछ विद्वान् ‘यस्य मोक्षेऽपि’ के स्थान पर ‘मोक्षेऽपि यस्य’ पाठ मानते हैं, पर बहु-प्रति-उपलब्धता के आधार पर व रचनाकार की सीधे कहने की प्रवृत्ति के आधार पर यस्य मोक्षे पाठ ही समीचीन लगता है, अर्थ की दृष्टि से दोनों पाठों में कोई अन्तर नहीं है।

होगा?... सुधी-जन विषयों की ज्वाला से आत्म-रक्षा किया करते हैं, वहीं मूढ़ विषयों की अभिलाषा में जला करते हैं। क्या करें? विधि विचित्र है, जीव की भवितव्यता पर भाव भी निर्भर करते हैं, होनहार जिसकी बिगड़ चुकी है, उसकी भावना भी बिगड़ जाती है, अशुभ कर्मोदय के काल में पुरुष का पुरुषार्थ भी अशुभ-रूप ही चलने लगता है, सोच-विचार भी शुचिता को छोड़ देता है, क्या आश्चर्य की बात है! विपाक अशुभ तो है ही, विचार भी अशुभ होने लगते हैं, सत्यार्थ-मार्ग तो उसे दृष्टिगोचर ही नहीं होता। पुण्य की क्षीणता में विचार भी विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। सत्यार्थ-बोध, तत्त्व-निर्णय, तत्त्व-चिन्तन पुण्योदय पर घटित होता है। ज्ञानियो! पापोदय में प्रज्ञा ही कार्य नहीं करती, तो चिन्तन क्या करेगा, जब सम्यक् पुरुषार्थ के साथ सम्यक् तत्त्व-श्रद्धान होगा। तभी बोध, बोधि और समाधि तीनों की प्राप्ति होगी, मुमुक्षुओ! तत्त्व-श्रद्धान तभी घटित होगा, जब तत्त्व-प्रतीति होगी, बिना प्रतीति के आस्था बन ही नहीं सकती। जब जीव के पूर्व का कुशलोदय पुण्योदय होता है, तभी वर्तमान में कुशल कार्यों में मन स्थिर होता है, जिसका अशुभोदय चल रहा है, उसका शुभ कार्यों में भी भाव नहीं लगता, अन्य किसी से प्रश्न करने की आवश्यकता नहीं है कि मेरा भव कैसा होगा?... अरे! वर्तमान का भाव ही तो भविष्य का भव है, प्रत्येक जीव का भव उसके भावों में दिखता है, शान्त-भाव से स्वयं ही वेदन करे, तो उसे स्वयं ज्ञात भी हो जाता है कि मेरा आगामी भव क्या हो सकता है?..... कषाय-अंश, लेश्या-स्थान कैसे चल रहे हैं, —यह वेदन करो, न यहाँ जिन-लिंग देखना, न ग्रही-लिंग, दोनों देहाश्रित हैं, आत्म-धर्म एवं भव-परिवर्तन भावाश्रित हैं; भाव की विशुद्धि के लिए लिंग स्वीकार किया जाता है, पर लिंग से भाव विशुद्ध हो ही जाते हैं, —ऐसा नियम नहीं है— पर भाव-विशुद्धि का प्रतीक भी लिंग ही है, बिना लिंग धारण किये तद्रूप विशुद्धि भी नहीं बनती, परंतु अंतरंग-उपादान भी निर्मल होना अनिवार्य है, उपादान के सहचर-रूप लिंग की आवश्यकता है।

श्रेष्ठ-लिंग धारण करके भी प्रवृत्ति एवं परिणति यदि दोनों में विपर्यास है, तो लिंग वैसे ही स्वीकारना है, जैसे— शिकारी के लिए जंगल में झाड़ी, शिकार करने में आलम्बन है, शिकारी झाड़ी में छिपकर मृग पर तीर चलाता है अथवा जाल डालता है, वैसे ही स्व-वंचक त्यागी-व्रती जिन-लिंग धारण कर उसे झाड़ी रूप से उपयोग करता है, यदि भावों में चारित्र्य पालन रूप परिणाम नहीं हैं, तो भेष में छिपकर पापाचार में लिप्त होता हुआ वीतराग-धर्म-रूप शान्त-परिणाम-भूत मृग पर काषायिक

भावों के बाण मार रहा है। क्यों मनीषियो! मृग-घातक का भी मोक्ष होता है क्या?... यदि होता है, तो-फिर नरक किसका होगा?... प्रश्न करो— जैसे— मृगघाती का तद्भव मोक्ष नहीं, जब-तक घात का त्याग नहीं करता, उसीप्रकार विशुद्ध आचार-विचार व परिणामों के घाती का मोक्ष नहीं होता है, बगुला धवल होता है, दिन-भर शीतल सरोवर में रहता है, फिर-भी मछली-भक्षण नहीं छोड़ता, उसीप्रकार ढोंगी जीव धवल वर्ण को प्राप्त करके भी शुभ-भावों का नाश करते हैं, वक्वृत्ति मोक्ष-दायिनी नहीं होती। निर्वाण-श्री की इच्छा है, तो दृष्टि को हंस बनाना पड़ेगा, जो कि क्षीर-नीर को भिन्न करता है, सम्यक्त्व-भाव में लीन पुरुष निज चैतन्य-भगवान् आत्मा को अत्यंत भिन्न निहारता है, हंसात्मा ही परमात्म-पद को प्राप्त होता है। ध्रुव परमात्मा, जो-कि त्रैलोक्य-पूज्य, परिपूर्ण, विशुद्ध, अमल, विमल, अनुपम है, की प्राप्ति कैसे होगी?... इस बात पर चिन्तन करने के लिए आचार्य-प्रवर सहज प्रेरित कर रहे हैं, परम पारिणामिक, टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक-स्वभाव की उपलब्धि आकांक्षा से नहीं होगी, वह परम-निरीह-वृत्ति से होगी, बिना निस्पृहता के निर्विकल्प-ध्यान नहीं घटित होता और निर्विकल्प-ध्यान के अभाव में क्षपक-श्रेणी का आरोहण नहीं होता, श्रेणी-आरोहण के बिना निर्वाण भी नहीं होता, अहो ज्ञानियो! मोक्ष की आकांक्षा से जब मोक्ष नहीं मिलता, तो-फिर उन विषयान्धों से पृच्छना करो— आकण्ठ-निमग्न विषयों की कामना में रात-दिन एक ही भाव है कि कैसे इन्द्रिय-विषयों की पुष्टि हो, उन्हीं के योग्य सामग्री की खोज चल रही है, अर्थ-काम-पुरुषार्थ में ही सम्पूर्ण पुरुष की शक्ति का व्यय चल रहा है।

कामाभिलाषा में मदोन्मत्त हुआ न दिन देखता है, न रात; न संबंधों की पवित्रता का विवेक और न क्षेत्रों की निर्मलता का ध्यान, न कर्म-बन्ध से भय है, न लोक-मर्यादा का डर! विषय-सेवन कितना कर पाता है, जबकि विषयाभिलाषा कितनी है?... ज्ञानियो! कामाभिलाषी जाति, कुल, धर्म का भी विवेक खो-बैठता है। कमल-नयनी जिसके नेत्रों में वास कर रही हो, वहाँ पर-ब्रह्म, अद्वैत-शुद्धात्म दृष्टिगोचर होगा क्या?... ऊसर भूमि में अंकुरण नहीं होता, विषयाकांक्षी के वीतरागता का अंकुरण नहीं होता। काम-दृष्टि एवं अर्थ-दृष्टि दोनों ही अनर्थ-दृष्टियाँ हैं। लोक में जितने भी संघर्ष हुए हैं और हो रहे हैं एवं भविष्य में भी होंगे, वे सब काम-दृष्टि के कारण हुए और होंगे। वीतराग-मार्ग से पतित होने का कारण भी आकांक्षा है, इच्छा करने से संसार-सुख भी प्राप्त नहीं होते, वे भी अन्तराय-कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होते हैं,

बिना स्वावरण-कर्म के क्षयोपशम के किसी वस्तु की भी प्राप्ति नहीं होती। आत्म-गुण एवं अन्य पदार्थ सभी में स्वावरण-कर्म का क्षय व क्षयोपशम अथवा उपशम का होना अनिवार्य है। अज्ञ प्राणी! वस्तु-स्वतंत्रता, वस्तु-व्यवस्था को जाने बिना व्यर्थ में क्लेश को प्राप्त हो रहे हैं और अभिनव कर्मास्रव-बन्ध कर संसार को बढ़ा रहे हैं, निजात्मा पर उन्हें करुणा ही नहीं है। क्या करें?... मोह से आवृत-ज्ञान स्वभाव को प्राप्त नहीं होता। आकांक्षाएँ इतनी विशाल हैं कि सुमेरु-पर्वत भी छोटा दिखायी देता है, सम्पूर्ण लोक का द्रव्य भी एक पुरुष की आकांक्षा की पूर्ति नहीं कर सकता, फिर इस लोक में नाना जीव हैं, उनकी इच्छाओं की ज्वाला कैसे शान्त हो सकती है?... आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए जो द्रव्य संगृहीत किया गया है, वह ऐसे मानकर चलना, जैसे—जलते हवन-कुण्ड में घृत का क्षेपण किया गया है, घृत अग्नि को शांत करता है या-कि ज्वाला को तेज कर देता है?... अज्ञ प्राणी ही ऐसा सोच पाएगा कि घृत डाल दो, अग्नि शान्त हो जाएगी, पर विज्ञ तो यही समझता है कि वृद्धि को ही प्राप्त होगी, इच्छाओं से इच्छाएँ बढ़ती ही हैं, न-कि शान्त होती हैं, जब-जब आकांक्षाओं की पूर्ति होना प्रारंभ हो जाती है, तब-तब आकांक्षाएँ उग्र रूप में होती हैं, आकांक्षाओं को सीमित करना ही आकांक्षाओं को शान्त करने का उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है। बड़े-बड़े दिग्गज योगीश्वर भी संज्ञाओं में संज्ञान खो-बैठे, मान-प्रतिष्ठा की कामना में चारित्र की कमर टेढ़ी कर ली, पर ध्यान रखना—आकांक्षाएँ तो पूरी नहीं हो सकीं, परंतु धर्म-ध्यान के स्थान पर ईंट-चूने के ध्यान में आयु पूर्ण अवश्य हो गई। वीतराग सत्यार्थ-मार्ग को प्राप्त करके भी जीव कुछ-भी प्राप्त नहीं कर सका, आकाश की नित्यता को जानते हुए भी अनित्य-भवनों में नित्यता खोजनी चाही, मनीषियो! अनित्य-भवन नित्य-आकाश में खड़े तो अवश्य किए जा सकते हैं, पर उन्हें नित्यता की प्राप्ति नहीं होती, आयु हजार-पाँच-सौ वर्ष तक मान लो, जितनी उनकी आयु है, फिर-तो नित्य-आकाश ही अवशेष रहता है, आप शोक करने को भी नहीं बच पाते, जब स्वयं की पर्याय नष्ट हो जाती है, फिर अन्य की पर्याय स्थिर कैसे रहेगी?... ध्रुव तो आकाशवत् जीवद्रव्य ही है, वह न कभी उत्पन्न होता है, न नष्ट ही होता है, पर्याय ही बदलती है। अहो चैतन्य! तू ध्रुव व ज्ञायक-भाव का ज्ञाता है, व्यवहार-धर्म की प्रवृत्ति की दृष्टि से तीर्थ आदि रचना आवश्यक तो है, पर वह श्रावक-धर्म है, उपदेश-मात्र देना सराग-चारित्र की दशा है, पर निर्देशन-करना राग-दशा है। ज्ञानियो! निश्चय तीर्थ की ओर भी लक्ष्य करना चाहिए, बिना निश्चय का आलम्बन

लिये आत्म-तीर्थ फलित नहीं होगा, भवनों की आकांक्षा का त्यागकर आत्मा को ही तीर्थ देखना है। आकांक्षा संसार-वृद्धि का सुन्दर बीज है, मुमुक्षुओ! ध्यान रखो—आचार्य योगीन्दुदेव ने भी कहा है कि आकांक्षाओं की आकांक्षा से मोक्ष मिलने वाला नहीं है—

मोक्खु म चिंतहि जोइया, मोक्खु चिंतउ होई।

जेण णिवद्धउ जीवड्डउ, मोक्खु करेसइ सोई।।

—परमात्मप्रकाश, 2/188

अर्थात् हे योगी! मोक्ष की भी चिंता मत करो, क्योंकि मोक्ष चिंता से नहीं होता है, जिनसे जीव बँधा है, वे ही उसका मोक्ष करेंगे अर्थात् उनके अभाव का नाम ही मोक्ष है।

कर्म-बन्ध के कारणों से दूर रहना चाहिए और कर्म-हानि के कारणों में संलग्न रहना चाहिए। बन्ध को छेदने के लिए प्रति-क्षण अप्रमत्त रहना चाहिए, प्रमादी तो बँधता है, आत्म-पुरुषार्थी छूटता है, सत्यार्थ-पुरुषार्थ को जीव भूल रहा है, नाना प्रकार के प्रपञ्चों में लोग मोक्ष की खोज कर रहे हैं, क्या वे मोक्ष के कारण हैं? अरे ज्ञानी! वे मोक्ष के कारण नहीं हैं, वे तो मोह के कारण हैं, —ऐसा समझो। मोक्ष का कारण तो रत्नत्रय-धर्म है, उसी की आराधना करना मुमुक्षु का कर्तव्य है। भव्य-तत्त्व-ज्ञानी जीव ने विषयों की लिप्सा तो पूर्व में ही छोड़ दी है व राग-द्वेष के निमित्तों से अपनी आत्म-रक्षा के साथ प्रति-पल कल्याण-मार्ग पर अग्रसर रहता है।

ज्ञानियो! विषयों की आकांक्षा तो दूर है, मोक्ष की अभिलाषा भी मोक्षदायिनी नहीं है, जहाँ मोक्ष की इच्छा भी समाप्त हो जाती है, वहीं मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिए जो सत्यार्थ में हितान्वेषी जीव है, उसे किसी भी प्रकार की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। आकांक्षा मोक्षमार्गी के लिए अमर-बेल-जैसी है, जो कि हरे-भरे वृक्ष पर चढ़ती है, स्वयं हरी-भरी रहती है, परंतु वृक्ष को सुखा देती है, उसीप्रकार आकांक्षा आत्म-धर्म को सुखा देती है और स्वयं हृदय-पटल में निवास करती है तथा साधक को वीतराग-मार्ग से च्युत करा देती है, इसलिए हे भव्य जीव! आकांक्षा का त्याग करो।।२२।।

श्लोक-23

उत्थानिका— शिष्य गुरुदेव के चरणों में अपनी भावना रखता है— हे भगवन्! माध्यस्थ्य-भाव स्वात्माधीन है कि पराधीन?.... और मुझे इसकी प्राप्ति के लिए क्या करना चाहिए?.....

समाधान— आचार्य-प्रवर समझाते हैं—

सापि च स्वात्मनिष्ठत्वात्सुलभा यदि चिन्त्यते ।

आत्माधीने सुखे¹ तात, यत्नं किन्न करिष्यसि ।।

अन्वयार्थ—(सा अपि) वह इच्छा भी, (यदि) यदि, (स्वात्मनिष्ठत्वात्) अपने आत्मा में ही केन्द्रित होने के कारण, (सुलभा) सुलभ, (चिन्त्यते) समझते हो, तो, (तात!) हे तात! (आत्माधीने) स्वाधीन होने पर प्राप्त होने वाले, (सुखे) सुख के पाने में, (यत्नं) प्रयत्न, (किं न करिष्यसि) तुम क्यों न करोगे?.... यानी अवश्य करोगे ।।23।।

परिशीलन— आचार्य-भगवन् मुमुक्षुओं को वात्सल्य-पूर्ण भाव से सम्बोधित कर रहे हैं कि वाणी की माधुर्यता लोक में श्रेष्ठ है, जो आनन्द अमृत-पान में नहीं है, वह आनन्द वाणी के माधुर्य-गुण में है, काले विष-धर को भी बीन के स्वर की मधुरता वश में कर लेती है। व्यक्ति कितना ही कठोर व नास्तिक क्यों न हो, पर वह भी वश में हो जाता है, समझाने वाले की वाणी में मधुरता का मंत्र होना चाहिए, वचनों की मधुरता के अभाव में मित्र भी शत्रु-भाव को प्राप्त हो जाते हैं, वचनों की मिठाई में शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, जीवन में वचनों का प्रयोग कैसे करना है, समय को देखकर वह भी एक विषय है। ज्ञानियो! विद्या की प्राप्ति पुण्य के अभाव में नहीं होती, पुण्यवान् को ही विद्याएँ फलित होती हैं, जिनके प्रसाद से व्यक्ति सारे विश्व में जाना जाता है, ज्ञान सर्वत्र यश-कारी होता है। मनीषियो! क्षीर्ण-पुण्यात्मा-व्यक्ति के साथ विद्या की उपलब्धि नहीं देखी जाती। यहाँ पर यह बात समझ लेना चाहिए कि पुण्य-हीन को वाणी की मधुरता नहीं मिलती, सुस्वर नामक कर्म पुण्य-प्रकृति है, वह तद्-जन्य पुण्य के क्षयोपशम से प्राप्त होती है, सुस्वर नाम कर्म का उदय होने पर सभी को वचन अच्छे लगते हैं, परंतु सुस्वर नाम-कर्म का उदय नहीं है, तो कितना ही अच्छा

1. कुछ विद्वान् 'सुखे' के स्थान पर 'फले' पाठ मानते हैं, पर अतीन्द्रिय-सुख की दृष्टि से सुखे वाला पाठ सीधा तत्त्व-स्पर्शी व मर्म-स्पर्शी लगता है।

क्यों न बोले, पर किसी को अच्छा नहीं लगता, यह भी कर्म-विपाक है, इसमें भी हर्ष-विषाद करने की आवश्यकता नहीं है। अभिनव-कर्मों को आमंत्रण नहीं देना, जीर्ण-कर्मों को पृथक् अवश्य करना, —यही ज्ञानी की प्रज्ञा का सम्यक् प्रयोग है।

तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति बहुत ही दुर्लभ है, लोक में अनेक प्रकार की विचार-धाराएँ हैं, सभी के अपने-अपने सिद्धान्त हैं, बुद्धियों के विकार हैं, चिन्तन हैं, सम्यक् भी हैं, विपरीत भी हैं, विपरीत तत्त्व को ग्रहण करने में सरलता है, क्योंकि अधो-गमन शीघ्र होता है, कठिन तो ऊर्ध्व-गमन है, अपनी बुद्धि एवं शक्ति का ऊर्ध्व-गमन करना चाहिए, विचारों की निर्मलता एवं चारित्र की पवित्रता ऊर्ध्व-गमन के साधन हैं। विचार जितने निर्मल होंगे, चारित्र उतना ही पवित्र होगा, विचारों का पतन ही चारित्र का पतन कराता है, इन दोनों में जन्य-जनक-भाव है। सम्यक् तत्त्व-बोध से मण्डित प्रज्ञा ही विश्व-पूज्यता को प्राप्त होती है, यही प्रज्ञा प्रज्ञावान् को लोक के शिखर का शिखर (मुकुट) बना देती है। विपरीत-प्रज्ञा अधो-लोक की सात भूमियों की निर्बाध यात्रा करा देती है। मुमुक्षु स्व-प्रज्ञा को सँभाल, अन्यथा भावों का परिणमन विपरीत हो जाएगा, भावों का विपरीत परिणमन ही विपरीत भव-गमन का कारण है। ज्ञानियो! कारण-कार्य-भाव सर्वथा घटित होता है, कारण निर्मल होंगे, तो कार्य भी निर्मल होगा। सत्यार्थ-कारणभूत जिस धान्य का आटा होगा, रोटी भी उसी धान्य की बनेगी, यदि धान्य बाजरा है, तो रोटी का वर्ण तद्रूप ही होगा, व उससे चावल के आटे-जैसी सफेद रोटी तो नहीं ही बन सकती! उसीप्रकार जिसके परिणाम काले होंगे, तो उनकी भाषा भी काली होगी, यानी अशुभ, कर्कश, ग्रामीण, कर्णभेदी, हृदय पर प्रहार करने वाली ही होगी, जिसके अन्तःकरण में वात्सल्य-भाव विद्यमान है, उसकी भाषा भी मधुर, अमृतभूत, कर्णप्रिय, हृदय को आह्लादित करने वाली, जगत् हितकर, सुखद, संशय को विच्छेद करने वाली, सम्यक् मार्ग का उद्योतन करने वाली आगम-रूप होगी। वक्ता के प्रशस्त-अध्यवसाय-भाव की परिचायक शुभ-भाषा है, कोयल एवं काक की पहचान वर्ण से नहीं होती, दोनों की पहचान वाणी से होती है, ज्ञानी एवं अज्ञानी की पहचान वाणी से होती है, इतिहास साक्षी है, अगाध जैन वाङ्मय के ज्ञाता आचार्य-प्रवर **जिनसेन स्वामी** शरीर से बहुत सुंदर तो नहीं थे, पर ज्ञानियो! **महापुराण** की भाषा से उनका परिचय मिला, भगवन् **जिनसेन स्वामी** के श्री-मुख एवं कण्ठ में सरस्वती विराजमान थी, जिसने कि प्रथम तीर्थेश आदीश्वर स्वामी के जीवनवृत्त पर विशद काव्य लिखकर विश्व-वाङ्मय में जैनत्व के मस्तक को ऊँचा किया है। आचार्य **जिनसेन स्वामी महापुराण**-जैसे चौबीस पुराण लिखना चाहते थे, पर क्या किया जाए, आयु-कर्म पर किसी का बस नहीं चलता और आचार्य

महाराज की सम्यक् समाधि हो गई, तब शेष तीर्थकरों के जीवन-वृत्त का वर्णन आचार्य गुणभद्र स्वामी ने उत्तरपुराण में किया, जो-कि आचार्य जिनसेन स्वामी के ही शिष्य थे, यहाँ पर वैशिष्ट्य यह समझना कि गुरु के अधूरे ग्रन्थ को पूर्ण करने की हमारी निर्मल परम्परा रही है, वे शिष्य धन्य हैं, जो-कि गुरु के कार्य को पूर्णता प्रदान करते हैं। आचार्य वीरसेन स्वामी की षट्खण्डागम की शेष टीका को आचार्य जिनसेन स्वामी ने ही पूर्ण किया था, जिनसेन स्वामी के महापुराण को गुणभद्र स्वामी ने पूर्ण किया। यह निर्मल गुरु-भक्ति ही थी, अपूर्व उदाहरण हैं गुरु के अधूरे कार्य को पूर्ण करने के, धन्य है गुरु-भक्ति। मनीषियो! ये श्रुत-वचन हैं, जिसके हृदय में गुरु-चरणों के प्रति आस्था एवं भक्ति परिपूर्ण होती है, वही साधक सम्यक् समाधि को प्राप्त होता है और जो श्रुत एवं गुरु के प्रतिकूल प्रवृत्ति करता है, वह एकान्त-सेवी नियम से समाधि-मरण को प्राप्त नहीं होता है, सम्यग्-बोधि के फल अर्थात् समाधि को प्राप्त करना है, तो अंतःकरण को विशुद्ध एवं सरल बनाना होगा, जगत्-सम्बन्ध राग, मोह या द्वेष के कारण ही होंगे, समाधि का साधन तो माध्यस्थ्य-भाव ही होगा। ज्ञानियो! ध्यान दो प्रसंगों पर—‘वाणी बाण भी बनती है, वाणी वीणा भी बनती है, वाणी रुलाती भी है, वाणी आनन्द भी दिलाती है, तत्त्व-बोध भी वाणी से प्राप्त होता है।’ ज्ञानियो! मधुर वाणी भी पुण्य से प्राप्त होती है और पुण्य-वर्धनी भी होती है, स्व-पर को सुख प्रदान करती है, कर्कश वाणी स्व-पर को क्लेश प्रदान करती है, स्वयं बोलने वाला भी जब एकान्त में अपनी वाणी पर विचार करता है, तब खेद को प्राप्त होता है; जो उसे सुनता है, वह भी क्लेश को प्राप्त होता है। एक बार वाणी का घात लगने पर मधुर से मधुर संबंध क्षण-मात्र में नष्ट हो जाते हैं। ज्ञानियो! कभी वह घात ठीक नहीं हो पाता, अंतरंग में शूल-जैसी चुभती रहती है। विष से भी महा-विषकारी कर्कश वाणी है, करुणा-शील पुरुष को चाहिए कि वह किसी भी जीव के प्रति मर्म-भेदी शब्दों का प्रयोग न करे; तत्त्व-देशना भी करे, तो वह भी वात्सल्य-भाव से करे; किसी भी पुरुष के प्रति कटाक्ष-कारी एवं निन्दा-पूर्ण भाषा का प्रयोग न करे, सत्यार्थ-वक्ता श्रुत की भाषा में ही श्रुत का प्रयोग करता है, ग्रामीण-भाषा का प्रयोग करने में हिंसा-भाव मानता है, —ऐसा समझना चाहिए, तत्त्व-ज्ञान इतना विशाल है कि किसी भी भिन्न पुरुष व विषय को लिये बिना भी कहा जाये, तब भी पूर्ण नहीं हो सकता। वक्ता को तत्त्व-चिन्तक होना चाहिए। बिना चिन्तवन के तत्त्व-उपदेश अन्तरंग में प्रवेश नहीं करता; प्रत्येक शब्द वक्ता के हृदय से स्फुटित हो और श्रोता के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाये, तभी हृदय आर्द्र होते हैं, साहित्य की भाषाओं की ऊँचाई इतनी श्रेष्ठ नहीं है, जितनी-कि भावों की निर्मलता है, मोक्ष-मार्गी के भावों में

विशुद्धि की वृद्धि सहज-भाषा वाले वक्ता के उपदेशों से होती है, अनार्य को अनार्य की भाषा में ही समझ में आता है, परन्तु आर्यों के सामने भी अनार्य-भाषा का प्रयोग करना उचित नहीं है, आर्यों के सामने तो आर्य-भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए। कुशल वक्ता का यह गुण है कि जो-जैसा श्रोता है, उसे उसी की भाषा में सम्बोधन देता है। भाषा को करण ही बनाएँ, कर्ता व कर्म न बनाएँ, भाषा तत्त्व-बोध के लिए साधन है, साध्य नहीं है। अज्ञानी जीव स्व-प्रांतीय भाषा के राग में लाखों जीवों का घात कर कर्म-बन्ध को प्राप्त हो रहे हैं, न साधु को देखते हैं, न असाधु को। साधु-भेष को प्राप्त करके भी, सम्पूर्ण राग के कारण अन्य द्रव्यों से रहित होकर भी जब-तक प्रान्त, देश, राष्ट्र, नगर, जनपद-भाषा का राग भी स्वात्म-तत्त्व की प्राप्ति का साधन नहीं बनता, परम-पद की सिद्धि चाहिए है, तो मुमुक्षुओ! व्यर्थ के अप्रयोजन-भूत-तत्त्वों से अपनी दृष्टि हटाओ, एक भगवती आत्मा पर दृष्टि डालो, आचार्य-देव इसी बात का संकेत कर रहे हैं। तत्त्व-देशना करते हुए भव्यों को परम-वात्सल्य भी प्रदान कर रहे हैं, यह है अन्तरंग-संवेग-भाव, धर्म के मर्म को भव्यों को कैसे प्रदान करना चाहिए?... कभी माँ बनकर, तो कभी जनक बनकर; कभी गुरु बनकर, तो कभी मित्र बनकर। भव्य की जैसी-योग्यता होती है, गुरु उसे उसी भाव से तत्त्व-बोध देते हैं, सभी जीवों का कल्याण हो, —ऐसी भावना से युक्त साधु-पुरुष होते हैं, ज्ञानी-जन किसी भी जीव को दुःखी-हृदयी बनकर देखना पसंद नहीं करते, क्योंकि उनके मन में स्व-पर-हित निहित रहता है।

अज्ञानी लोग दो प्रकार के होते हैं— एक वे, जो पर-हित की बात करते हैं, जो स्व-हित नहीं कर पा रहा है, वह पर-हित क्या करेगा?... जो स्वयं गिर रहा है, वह गिरते हुए को क्या हस्तावलम्बन देगा?... जिसके अंदर स्व-कल्याण ही नहीं दिखता, वह अज्ञ पर-कल्याण की क्या बात करेगा? आत्म-कल्याण स्वाधीन मार्ग है?... पर-जन बाह्य-निमित्त-मात्र तो हो सकते हैं, पर कल्याण नहीं कर सकते। दूसरे अज्ञ वे हैं, जो स्व-कल्याण के नाम पर परिपूर्ण स्वार्थी हैं, शरीर एवं मन की तुष्टि में सुख-सुविधाओं का जीवन जी रहे हैं, पूर्व-पुण्य के नियोग से भक्त-गणों से सेवा करा रहे हैं, अन्य के प्रति कोई करुणा नहीं दिखती, वात्सल्य व करुणा से रहित व सूखे विशाल सरोवर-जैसा जीवन जी रहे हैं। ज्ञानियो! सरोवर जब स्वयं में भरा होगा, तभी वह निर्मल नीर से अनेक तृषित कण्ठों को आर्द्रता प्रदान करता है, इसीप्रकार जो सत्यार्थ स्व-कल्याण में संलग्न मुमुक्षु होगा, वह नियम से पर-कल्याण का साधन होगा, उसे देखते ही अनेक जीव आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर हो जाते हैं, मायाचार से शून्य स्व-हित में लगे योगी को देखते ही भोगी का हृदय भी बदलने

लगता है, भूतार्थ साधु का स्वरूप ही ऐसा होता है, जिसे असाधु भी देखकर साधु-स्वभाव को प्राप्त हो जाता है, तीर्थंकर भगवन्त किसी भी पुरुष से यह नहीं कहते कि आप हमारे पास आकर दीक्षा धारण करो, मात्र तत्त्वोपदेश देते हैं, उन्हें देखते ही जन्म-जाति-विरोधी जीव भी परस्पर मैत्री-भाव को प्राप्त हो जाते हैं, गौतम-जैसे घोर मिथ्या-दृष्टि जीव भी मिथ्यात्व को त्यागकर शिष्यता को प्राप्त कर गणधर पद पर विराज जाते हैं। साधु-पुरुष का जीवन एक प्रकाशमान दीपक के तुल्य होता है, जो कि स्व-पर-प्रकाशी होता है, दीपक स्वयं को भी प्रकाशित करता है और पर को भी प्रकाशित करता है, उसीप्रकार सत्-पुरुषों का जीवन होता है, उन्हें प्राप्त करते ही भव्यों के अंदर एक विशिष्ट स्रोत स्फुटित होता है, जो-कि उसके अंदर की राग-ज्वाला के लिए शीतल सलिल का कार्य करता है, सम्यक्-साधक की वाणी ही जिनवाणी का कार्य करती है, आचार्य-देव अकलंक स्वामी यही तो हितोपदेश दे रहे हैं।

जगत् में सर्व-कल्याण-कारी यदि कोई भाव है, तो वह माध्यस्थ-भाव है, जहाँ न राग है, न द्वेष है; एकमात्र सहज तटस्थ-भाव है, उपेक्षा-परिणाम है, सम्पूर्ण साधनाओं में विशेष साधना माध्यस्थ-भाव बनाकर जीना ही है, लोक में जितने भी साधना के मार्ग दिख रहे हैं, मनीषियो! वे-सब उपेक्षा-भावना की सिद्धि के लिए हैं, पर-भावों से न राग करना, न द्वेष, एक-मात्र उपेक्षा-भाव रखना, यह श्रेष्ठ साधकों की श्रेष्ठ साधना है, तत्त्वज्ञ-पुरुष किसी को हटाते नहीं हैं, स्वयं को हटाकर चलते हैं, उपेक्षा-भाव प्राप्त हो जाना, यानी जगत् से अपने को पृथक् कर लेना, वही है एकत्व-विभक्त्य-भाव, जहाँ अन्य का कोई संयोग ही नहीं है, एकमात्र स्वभाव-भाव पर निज-भाव रहता है, भवातीत होने का उपाय ही उपेक्षा-भाव है। भव-भ्रमण के सुगम मार्ग में अपेक्षा रखना है, मुमुक्षुओ! स्वरूप-सम्बोधन को प्राप्त करो, निज-स्वरूप का परिशीलन करना सीखो, जब-तक निज स्वरूप का चिन्तन नहीं सीखा, तब-तक लोक की सम्पूर्ण विद्याएँ निज कार्य के लिए कारण-भूत नहीं हैं, कारण-कार्य भाव का विचार करो।

चिन्तन की धारा अनवरत चल ही रही है, जब वह रुक ही नहीं रही है, तो स्वरूप का ही चिन्तन करो, पर-पदार्थ से चित्त पृथक् करके शरीर आत्मा के प्रति

अभेद और भेद-भाव से जानो, भेद-मात्र भी नहीं, अभेद-मात्र भी नहीं, उभय-रूप से जानो, जो आत्मा को सर्वथा देह से भिन्न ही मानते हैं, वे अहिंसा-धर्म के नाशक हैं, आत्म-देह से सर्वथा विचार करके कोई किसी भी जीव की देह को विदीर्ण कर देगा और कहेगा कि आत्मा का घात तो हुआ नहीं, शरीर का घात हुआ है, वह अचेतन है, अहो! विचार करो— पंचशील-सिद्धान्त का कोई पालन करेगा? स्वच्छन्द-प्रवृत्ति हो जाएगी, उपेक्षा-भाव को भी न्याय से समझना होगा, आत्म-स्वभाव नहीं है, शरीर इस दृष्टि से भेद है, परन्तु एक-क्षेत्रावगाह-शरीर आत्मा की बन्ध दशा में है, संश्लेष-सम्बन्ध है, उपचरित असद्भूत-नय से शरीर भी चेतन-स्वभावी है, भेद-विज्ञान की दशा को भी तर्क-सिद्धान्त के साथ समझना, अन्यथा मूल सिद्धान्त अहिंसा पर ब्रह्म का अभाव हो जाएगा। देह, धर्म, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण हैं, आत्म-धर्म उपयोग-मय है, वह ज्ञान-दर्शन-मय है, शरीर स्वयं से उपयोग-मयी आत्मा के साथ है, जीवित-अवस्था में देह को पीड़ित करने पर आत्मा ही कष्ट को प्राप्त होती है, अतः सर्वथा भेद-एकान्त से नहीं कहना, अन्यथानुत्पत्ति है तथा द्वितीय पक्ष से देखें तो सर्वथा-अभेद आत्मा एवं शरीर में मानते हैं, तो अनर्थ हो जाएगा, यदि आत्मा और शरीर त्रैकालिक एकत्व-रूप ही हैं, भिन्नत्व रूप नहीं हैं, तो ज्ञानी! चार्वाक-दर्शन का प्रसंग आ जाएगा, जैसे— चार्वाक-दर्शन में भूत-चतुष्टय से आत्मा की उत्पत्ति मानते हैं, भूत-चतुष्टय स्व-चतुष्टय में लीन हो जाता है, देह के नष्ट होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है। इसीप्रकार से सर्वथा-अभेद मानने पर जब शरीर नष्ट होगा, तब आत्मा भी नष्ट हो जाएगी, शरीर के संस्कारों के साथ आत्मा का भी संस्कार हो जाएगा। आत्म-विनाश का कारण उपस्थित हो जाएगा, अतः भेद-विज्ञान में माध्यस्थ्य-भाव को भी मध्यस्थ होकर ही समझना चाहिए तथा व्याख्यान करना चाहिए। नय, न्याय को समझकर शान्त-चित्त से जो जीव-तत्त्व का निर्णय करता है, वही सम्यक् निर्णय होता है, एक पक्ष को जानकर कभी भी सम्यक् तत्त्व-निर्णय नहीं होता, ऐसा वृद्ध-आचार्यों का आदेश है। व्यवहार-क्रिया-रूप-धर्म तो परिपूर्ण रूप से पर-सापेक्षी होते हैं, बिना पर-सापेक्षता के कोई भी पुण्य-क्रिया पूर्ण नहीं होती है, अर्हन्त बिम्ब के दर्शन की क्रिया में बिम्ब चाहिए, अपेक्षाकृत विषय को समझना, तत्त्व-ज्ञान सूक्ष्म है, वह पर-सापेक्षिता सम्यक् की क्रिया है, अनन्त संसार से छुड़ाने वाली है, सम्यक् बोध एवं बोधि समाधि के साधन हैं, फिर-भी परमार्थ-दृष्टि से देखें, तब द्वैत-भाव है, आत्म-स्वभाव से भिन्न है, इसलिए निश्चय स्व-समय नहीं है। निश्चय स्व-समय एक ध्रुव व ज्ञायक-भाव ही है। साक्षात् मोक्ष-दायक-भाव निरपेक्ष ही है, परम योगीश्वर वीतरागी दिगम्बर यथाजात-रूप-धारी परम निस्पृह-भावी साधक ही उपेक्षा-भाव को प्राप्त होते हैं, जिन्हें

लोक-प्रपञ्च से कोई प्रयोजन ही नहीं है, लोकाचार से भिन्न लोकोत्तराचार में जो लवलीन हैं, उन्होंने जान लिया है सत्यार्थ आत्मा के स्वरूप को एवं जगत् के स्वार्थपूर्ण रूप को। अन्तरंग में विशिष्ट आस्था का उदय जहाँ हुआ है, आत्म-धर्म तो पूर्णरूपेण आत्माधीन ही है, संसार की विडम्बना भी क्यों न हो रही हो, फिर-भी वे अपने अंतःकरण को मलिन नहीं करते हैं।

ज्ञानियो! यहाँ पर सम्पूर्ण विषय को आत्मस्थ होकर समझना, व्यवहार का अभाव नहीं समझना, निश्चय-तत्त्व की प्रधानता समझना, बार-बार व्यवहार का कथन करने से निश्चय-तत्त्व का सम्यक् सत्यार्थ स्वरूप का कथन नहीं हो सकेगा और जो सर्वथा निश्चय-मात्र को कहना है, उससे व्यवहार-तत्त्व का व्याख्यान नहीं हो सकता, उभय-नय का आलम्बन कर, परमार्थ-स्वरूप को समझना चाहिए तथा उसी की प्राप्ति का पुरुषार्थ करना चाहिए।

अहो! उन परम योगीश्वरों को निहारो, जहाँ भगिनी का भी अपमान हो रहा था, आभूषण डाकुओं ने छीन लिए, माँ पूँछती रही, फिर-भी आँख खोलकर नहीं देखा, न यही कहा कि आगे डाकू हैं, धन्य हो, ऐसे निस्पृही आदर्श श्रमण को जहाँ माँ एवं बहन का राग भी स्पर्श नहीं कर सका। ऐसी चर्या के धारक परम-योगीश्वर ही होते हैं। जाति, पंथ, आम्नाय, संघ के राग में लिप्त साधक को अभी वैराग्य की आवश्यकता है; समाज, देश, राष्ट्र का विमोह यदि विराजा है हृदय में, तो अभी वे स्वात्म-निष्ठा से दूर हैं। सच्चे साधक मात्र स्वात्म-द्रव्य एवं पंच-परमेष्ठी मात्र से प्रयोजन रखते हैं, अन्य पर-गत तत्त्वों से आत्म-तत्त्व को पृथक् रखते हैं, अनादि के प्रपंचों में अपनी ध्रुव अखण्ड ज्ञायक-भाव-प्रदायिनी पर्याय को पर-पदार्थों के ध्यान में समाप्त नहीं करते, उन्हें वीतराग-मुद्रा भार-भूत नहीं लगती, मोक्ष-दायिनी मुद्रा को मुद्राओं के व्यापार में रमण नहीं कराते। सर्वज्ञता को सिद्ध करने वाली मुद्रा को जो जीव लोक-मुद्राओं में नष्ट करता है, वह मणियों को भस्म करके झूठे बर्तनों को साफ करता है। अहो! मेरे स्नेही साधको! जिन-मुद्रा को पुद्गल के टुकड़ों में नहीं लगाना, यह मुद्रा तो चक्री-पद का भी त्याग करके प्राप्त की जाती है, फिर उसे पुनः जड़-पैसों में अथवा पैसे वालों में नहीं लगाना।

व्यवहार-तीर्थ के पीछे निश्चय-तीर्थ की जननी जिन-मुद्रा के साथ व्यभिचार नहीं करना, कारण-कार्य विपर्यास नहीं करना। कारण क्या है?.... ज्ञानी! जो जीव परमार्थ-भूत पर-निरपेक्ष अद्वैत-धर्म की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं हैं, ऐसे गृहस्थों को तो तीर्थ-स्थापना, दान-पूजा, धर्मायतन की रक्षा आदि करना चाहिए, उनके लिए वही सम्यक्-क्रिया परम्परा से मोक्ष का कारण है, पर साधक तो बहुत ऊँचे की क्रिया में

विराजता है, वह निराकुल, निरालम्ब ध्यान को ही अपना ध्येय स्वीकारता है, वह सुर-दुर्लभ योगी की मुद्रा को जड़ मुद्राओं में न्योछावर नहीं करता, जगत् की अंगनाओं से दूर निजात्म-अंगना में लीन, ऐसा परम-विशुद्धि मात्र का परिग्रह-धारी सच्चा मुमुक्षु होता है। चर्या, क्रिया, चर्चा, जिसकी एक-तुल्य होती है, वे जगत्-पूज्य निर्ग्रन्थ तपोधन धन्य हैं, उनके पाद-पंकज की बलहारी है।

यही श्री-गुरु का उपदेश है— आत्म-धर्म स्वाधीन है, पुनः समझो, स्वात्म-धर्म में पर की अधीनता नहीं है, जब-तक साधक आत्मस्थ नहीं होता, तभी-तक पर का आलम्बन है, तभी-तक चार मंगलोत्तम शरण-भूत हैं, स्वात्म-स्थ होते ही एक-मात्र आत्मा का शरणभूत है, अन्य-अन्य ही है, अन्य में किञ्चित् भी अनन्य-भाव नहीं है। ऐसा सर्वज्ञ-जिन का उपदेश है। आकांक्षाएँ लोक में सुलभ हैं, चित्त एक-क्षण भी शान्त नहीं रहता, यह किसी न किसी विषय पर जाता है, गमन चित्त का हो ही रहा है, तो-फिर गमन-मार्ग को तो तू बदल सकता है, ज्यादा कुछ नहीं करना, गमन को नहीं रोक पा रहा, तो मार्ग तो परिवर्तित कर सकता है, जो गमन पर में था, उसे निज की ओर कर दो, अन्य-मार्गों में जाने के लिए बाहर जाना होता है, स्वात्म-प्रदेशों में गमन-करना यानी आत्म-निष्ठ होकर माध्यस्थ्य-भाव वाले हो जाओ, उपेक्षा-भाव को प्राप्त हो जाओ। हे तात्! वह उपेक्षा-भावना भी अपनी आत्मा में विद्यमान होने से यदि सुलभ है, ऐसा विचार हो जाता है, तो स्वाधीन-सुख-रूप फल में पुरुषार्थ क्यों नहीं करते हो?

परम ध्रुव भूतार्थता को क्यों नहीं स्वीकारते, आत्म-धर्म के निकट जाने के लिए सभी अन्य निकटताओं से दूरी बनाना अनिवार्य है, बिना पर से भिन्न हुए आत्म-निकटता बनती ही नहीं, सबसे सुलभ-मार्ग माध्यस्थ्य-भाव है, उपेक्षा भाव है, उसकी प्राप्ति के लिए किसी तीर्थ या सागर, सरोवर में जाने की आवश्यकता नहीं है, न किसी अन्य से उसके बारे में पृच्छना करने की ही आवश्यकता है, वह त्रैकालिक आत्मा में ही है, अनादि काल से मिथ्यात्व-अविद्या के वश होकर जीव ने ध्यान नहीं दिया, पर-भावों के रस-स्वाद में इतना लीन रहा कि आत्मामृत को नहीं पा सका। अब तो सद्-गुरुओं के उपदेश से जान लिया है कि मेरे अन्दर साधु-स्वभाव विराजता है, उस भगवद्-स्वभाव की प्राप्ति में ही अब पुरुषार्थ क्यों न किया जाय, मेरे तात्! नाना पापाम्रव के कारणों का जो पुरुषार्थ किया, उसका फल संसार ही है, आत्म-स्थता का पुरुषार्थ मोक्ष-फल में फलित होने वाला है, —ऐसा समझना॥२३॥

श्लोक-24

उत्थानिका— शिष्य जिज्ञासा करता है गुरुदेव से— भगवन्! लोक में स्व-पर-वस्तु का ज्ञान कर और-क्या करें, जिससे कि हम शीघ्र शिव-गामी बनें?

समाधान— आचार्य-भगवन् कहते हैं—

स्वं परं विद्धि तत्रापि, व्यामोहं छिन्धि किन्त्विमम् ।

अनाकुलस्वसंवेद्ये¹, स्वरूपे तिष्ठ केवले ।।

अन्वयार्थ— (स्वं) अपनी आत्मा को, (परं) शरीर आदि अन्य पदार्थ को, (विद्धि) समझो, (किन्तु) किन्तु, (तत्र अपि) ऐसा होने पर भी, (इमम्) इस भेद-भावात्मक, (व्यामोहं) लगाव पक्ष को भी, (छिन्धि) दूर कर दो, (केवले) केवल, (अनाकुलस्वसंवेद्ये) निराकुलता रूप स्वानुभव से जानने-योग्य, (स्वरूपे) अपने रूप में, (तिष्ठ) ठहर जाओ ।। 24 ।।

परिशीलन— आचार्य-भगवन् **अकलंक स्वामी** एक-से-एक, अभिनव-अभिनव मोती-मणि भव्यों के लिए कण्ठ-हार हेतु प्रदान कर रहे हैं, तत्त्व की अविरल-धारा में प्रवह्यमान अन्तःकरण की शुद्धि का पावन-साधन तत्त्व-चिन्तन ही है, बिना तत्त्व-चिन्तन के चित्त-शुद्धि सम्भव नहीं है, चित्त-शुद्धि के बिना चारित्र-शुद्धि नहीं, चारित्र-शुद्धि के बिना आत्म-शुद्धि एवं आत्म-सिद्धि नहीं होती। साधक को सर्व-प्रथम चाहिए कि वह चित्त की शुद्धि करे; चित्त को विषय-कषाय एवं उनके निमित्तों से पूर्ण-रूपेण पृथक् रखे; प्रत्येक स्थिति में चित्त की उनसे रक्षा करे, बिना विषय-कषाय से रक्षा किये वस्तु-स्वरूप का निर्णय भी नहीं हो सकता, सबसे बड़ी अज्ञानता विषय-कषाय में चित्त का भ्रमण करना ही है। चाहे कितने ही ग्रन्थों का श्रवण-पठन कर लिया हो, सम्पूर्ण-श्रुत को कण्ठस्थ कर लिया हो, तब भी अज्ञान-दशा ही समझो, —यह तो श्रुत की बात कही है, वह शब्द-श्रुत-मात्र है, विषय-कषाय से शून्य-अवस्था चिद्-स्वरूप में लीन रहना ही सत्यार्थ भाव-श्रुत है, वही ज्ञान-दशा है। जानियो! भाव-श्रुत, भाव-व्रत ही साधकतम साधन है, लोक में ऐसे अनेक जीव हैं, जो-कि शब्द-ज्ञान के कोश से संतुष्ट हैं, शास्त्र पढ़ने मात्र से अपना मोक्ष-मार्ग पूर्ण समझते

1. निम्नांकित पाठान्तर और हैं— अ. 'अनाकुलः स्वसंवेद्य-स्वरूपे', ब. 'अनाकुलं स्वसंवेद्य-स्वरूपे' ।

हैं, —यह बहुत बड़ी तत्त्व की भूल है। जब-तक भाव-श्रुत-रूप परिणति नहीं बन रही है, तब-तक संसार की हानि रंच-मात्र भी नहीं हो रही। पुण्य बन्ध का साधन तो है, द्रव्य-श्रुत स्वर्गादि-वैभव तो दिला सकता है, परन्तु मनीषियो! पाप-पुण्य दोनों से आत्मा को पृथक् करने वाला भाव-श्रुत ही है। लोकालोक को बतलाने वाला है द्रव्य-श्रुत, परन्तु परमार्थ-भूत आत्म-लोक का निर्विकल्प अवलोकन कराने वाला है भाव-श्रुत। जब-तक बन्ध-दशा का स्थान है, तब-तक ज्ञानियो! निश्चय-बोध नहीं है। सहज-भाव से समझना, भ्रमित नहीं हो जाना, परमार्थ-नय के विषय को परमार्थ-दृष्टि से ही समझना, सम्पूर्ण विषय निश्चय-नय-प्रधान हैं, या-फिर यों-कहें कि सम्पूर्ण विषय भूतार्थ है। भव्यो! आँख बन्द कर निज आत्मा के अवलोकन में आँख खोलो— धन्य हैं वे परम-योगी, जिन्होंने परम-रहस्य का अवलोकन निज-भाव से कर लिया। ज्ञानियो! परम आकिञ्चन् धर्म का रहस्य योगी-गम्य है, राग-भोग में फँसे गृहस्थों को इस विषय का श्रद्धान एवं ज्ञान करना चाहिए, विषयों का राग आत्मानन्द का वेदन नहीं होने देता, इसमें संशय करने को स्थान नहीं है। ध्रुव, अखण्ड, चित्-प्रकाशक भगवान्-आत्मा का अनुभव पर-संवेदी-भाव नहीं है, स्व-संवेदी-भाव ही ध्रुव शुद्धात्मा का स्वभाव है, —ऐसा जिनोपदेश है। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्ददेव ने समयसार में ध्रुव ज्ञाता के स्वरूप को बहुत ही सुंदर शैली में प्ररूपित किया है। आत्मानुभव ही ज्ञानानुभव है, ज्ञानानुभव ही आत्मानुभव है, ज्ञान-मात्र का ही वेदन करे, तो शुद्ध ज्ञान है; पर ज्ञेयों का ज्ञान में आना ही ज्ञान की अशुद्ध-अनुभूति कहलाएगी।.... पर से सम्बन्ध जोड़ना, सम्बन्धों में जुड़ना, संयोगों में लीन रहना, गृह-परिग्रह, शिष्य-शिष्याओं के सम्बन्ध में अनुरक्त रहना, स्व-प्रज्ञा का अहं-भाव, ग्रन्थ-निर्ग्रन्थों में अनुराग के स्थान पर राग स्थापित करना, —यह-सब अशुद्ध-ज्ञान की धारा है, शुद्ध-ज्ञान तो एक-मात्र ज्ञायक-भाव है। शुद्ध-तत्त्व का स्वरूप समझो, राग-द्वेष की धारा से निज भगवान् की रक्षा करो, पर-सम्बन्धों एवं सम्मानों में कुशलता नहीं है।

जैसा परमागम में कहा है, तद्-रूप निज ध्रुव आत्मा को देखो। यथा—

जो परस्सदि अप्पाणं अबद्धपुडं अणणमविसेसं।

अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासनं सव्वं।।

—समयसार, गा. 15

अर्थात् जो आत्मा को अबद्ध, स्पष्ट, अनन्य, अविशेष तथा नियत और असंयुक्त देखता है, वह उपदेश-सूत्र के भीतर अवस्थित द्रव्य-श्रुत और भाव-श्रुत रूप संपूर्ण जिनशासन को देखता है।

अबद्ध, स्पष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे भाव-रूप आत्मा की जो अनुभूति है, वही निश्चय से समस्त जिन-शासन की अनुभूति है, क्योंकि श्रुत-ज्ञान स्वयं आत्मा ही है, इसलिए जो यह ज्ञान की अनुभूति है, वही आत्मा की अनुभूति है।

श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वान्ततोज्ञानानुभूतिरेवात्मानुभूतिः।

—आत्मख्याति टीका 15/40

यहाँ पर विशेषता यह है कि सामान्य ज्ञान के तो प्रकट होने से और विशेष-ज्ञेयाकार ज्ञान के आच्छादित होने से ज्ञान-मात्र ही जब अनुभव किया जाय, तब प्रकट-ज्ञान अनुभव में आता है, तो भी तो जो अज्ञानी हैं, वे ज्ञेयों (पदार्थों) में आसक्त हैं। जैसे— अनेक तरह के शाक आदि भोजनों के सम्बन्ध में उत्पन्न सामान्य लवण का तिरोभाव (अप्रकटता) तथा विशेष लवण आविर्भाव (प्रकटता), उससे अनुभव में आने वाला जो सामान्य लवण का तिरोभाव-रूप लवण तथा लवण का विशेष-भाव-रूप व्यञ्जनों का ही स्वाद अज्ञानी और व्यञ्जनों के लोभी मनुष्यों को आता है, परन्तु अन्य के असंयोग से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव तथा विशेष के तिरोभाव से एकाकार व अभेद-रूप लवण का स्वाद नहीं आता। और जब परमार्थ से देखा, तब-तो विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आया क्षार-रस-रूप लवण है, वही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आया हुआ क्षार-रस रूप लवण है। उसीतरह अनेकाकार ज्ञेयों के आकारों की मिश्रता से जिसमें सामान्य का तिरोभाव और विशेष का आविर्भाव ऐसे भाव से अनुभव में आया जो ज्ञान है, वह अज्ञानियों और ज्ञेयों में आसक्तों को विशेष भावरूप, भेद-रूप व अनेकाकार-रूप स्वाद में आता है, परन्तु अन्य ज्ञेयाकार के संयोग से रहित सामान्य का आविर्भाव और विशेष का तिरोभाव —ऐसा एकाकार अभेद-रूप ज्ञान-भाव अनुभव से आता हुआ भी स्वाद में नहीं आता और परमार्थ से विचारा जाय, तब भी जो विशेष के आविर्भाव से ज्ञान अनुभव में आता है, वही सामान्य के आविर्भाव से ज्ञानियों के और ज्ञेय में आसक्तों के अनुभव में आता है। जैसे— लवण की कंकड़ी अन्य द्रव्यों के संयोग के अभाव से केवल लवण मात्र अनुभव किये जाने पर एक लवण-रस सर्वतः क्षार रूप से स्वाद में आता है, उसीप्रकार आत्मा भी पर-द्रव्य के संयोग से भिन्न केवल एक-भाव से अनुभव करने पर सब-तरफ से एक विज्ञान-घन स्वभाव के कारण ज्ञान-रूप से स्वाद में आता है। जिस क्षण जीव ज्ञान से ज्ञान का वेदक हो जाएगा, उसी क्षण पर-भाव से भिन्नत्व-भाव को प्राप्त हो जाएगा, पर की परिणति में निज-परिणति को ले जाना, सबसे बड़ी तत्त्व की भूल है। लोक में जितने भी जीव मोह की ज्वाला में दग्ध हैं, वे सब पर-परिणति में लुब्ध हो रहे हैं, जबकि

भिन्न द्रव्य का परिणमन जीव के स्व-द्रव्य का न करण है, न कर्त्ता, लोक में वस्तु-परिणमन स्वतंत्र है, अवस्तु में परिणमन का अभाव है, जब वस्तु ही नहीं, तो परिणाम या परिणमन किसमें?... किसका?... अहो ज्ञानी! तत्त्व-बोध तो तत्त्व-ज्ञ होकर प्राप्त करो, विमोह में निज ध्रुव भगवती आत्मा को कब-तक फँसाकर रखोगे, निज स्वतंत्रता का क्या लक्ष्य ही नहीं है, स्व-पर का ज्ञान करो, पर-वस्तु के ज्ञान का अर्थ पर-लिप्त हो जाना नहीं, निज को भूल जाना नहीं। अहो प्रज्ञ! जब कोई जीव यात्रा को जाता है, तो मार्ग में अनेक सुंदर भवनों को देखता है, सुंदर व असुंदर चित्रों का भी अवलोकन करता है, परन्तु स्वयं के निवास-स्थान को तो नहीं भूलता, भ्रमण कहीं भी करे, पर लौटकर निज के निवास पर ही आता है, सम्प्रेदशिखर जी, श्रेयांसगिरि, गोम्मटेश्वर जी की वंदना को गया, परंतु भगवान् के द्वारे से लौटकर विषयागार में आ गया। अहो हंसात्मन्! उसीप्रकार जगत् के मध्य में घूमते हुए अपने निज ध्रुव आत्म-तत्त्व को नहीं भूल जाना, स्व-पर-ज्ञाता बनो, परन्तु उनमें अर्थात् पर-वस्तुओं में अति-आसक्ति को प्राप्त मत हो जाना, उनके प्रति आसक्ति-मात्र दीर्घ संसार का साधन है, स्वभाव में लीन रहना सीखो, पर-भाव से राग का अभाव करो, पर में निज-परणति को ले जाना बंद करो, पर में निज-परणति का जाना ही मोह का जागृत करना है, जैसे— बीन की आवाज से नाग जाग्रत हो जाता है, उसीप्रकार मनोज्ञ-अमनोज्ञ पाँच इन्द्रियों के विषयों में परिणति हो जाती है। शीघ्र मोह-नाग को जागृति देना है, वही नाग इस आत्मा की शुद्ध एवं शुभ दशा का घात कर रहा है, यथाख्यात-चारित्र से वंचित कर रहा है, पंचम-गति का हेतु पंचम-चारित्र ही है और मोह पंचम-चारित्र से आत्मा को दूर किए है, अज्ञानी जीव को पाँच पापों में लिप्त किए है।

मोहाविष्ट अज्ञ पुरुष स्व-पर के भेद-विज्ञान से शून्य हैं, पर में स्व-बुद्धि किये हैं, स्त्री-पुरुष, धन-धान्य, भवन, यान आदि वस्तुओं की लालसा में पर्याय को पूर्ण कर रहा है, स्व-चतुष्टय में प्रत्येक जीव-द्रव्य अभिन्न है, पर-चतुष्टय में प्रत्येक द्रव्य भिन्न है, अतः द्रव्य भिन्न-भिन्न-स्वभावी है। जिसप्रकार का वस्तु का स्वभाव है, उसीप्रकार स्वीकार करना चाहिए। जब जीव पर-भाव को निज-भाव से भिन्न जान लेता है, तब राग भी सहज मंद हो जाता है, राग की तीव्रता भी तभी-तक रहती है, जब-तक पर-पदार्थ को निज से पृथक् नहीं समझता, ध्रुव-ज्ञाता पर-ज्ञेयों को निज से भिन्न ही समझता है, संयोगों में स्व-भाव-मान्यता को कभी भी नहीं लाता, अहो! विकारों की अशुभ दशा को धिक्कार हो, जो निज भगवान्-आत्मा को कितने खोटे स्थानों पर

रखती है या ले जाती है। जिन स्थानों के नाम लेने में शर्म आती है, वहाँ जाना कितना निन्दनीय होगा!... पर वह उन स्थानों का स्पर्श करा देता है, बिना निज कष्ट के कष्ट दिला देता है, बिना निज शोक के शोक करा देता है। ज्ञानियो! समझते जाना— ध्रुव ज्ञायक-भाव से अपरिचित होने के ही कारण मोह के फन्दे में जीव फँस जाता है, परिवार के किसी व्यक्ति को कष्ट हुआ, तो वह उसके असातावेदनीय कर्म के उदय से हुआ, पर अज्ञानी उसे देखकर ही कष्ट में डूब गया, यहाँ-तक तेरा कर्तव्य था कि मानवता के नाते उसका उपचार कर देता, कष्ट के प्रति संवेदनाएँ प्रदान कर देता, पर रोने लग जाना, —यह कौन-से विवेक की बात है, इससे तो व्यर्थ में असाता का आस्रव कर लेता है। जिससे लोक भ्रमण किया है, कर रहे हैं तथा करेंगे, यह-सब मोह की माया है, वह-सब मोह के ही उन्माद में किया गया है। अहो मोहनीय कर्मराज! आपने सम्पूर्ण लोक को रथ्या पुरुष (पागल) बना दिया है, अज्ञ प्राणी वही करते हैं, जो तू कराता है, स्व-पर के सत्यार्थ-बोध से रहित होकर राग-द्वेष को प्राप्त होता है, विवेक-शून्य होकर चेष्टा करता है, पर.... मोही यह नहीं समझता कि जो मैं राग-द्वेष कर रहा हूँ, वह भी स्व-कृत नहीं है, मोह-कर्म से प्रेरित होकर कर रहा हूँ। जो राग-द्वेष है, वह भी विभाव-भाव है, मोह भी विभाव-भाव है, जैसे— यंत्र पुरुष से प्रेरित होकर चलता है, उसीप्रकार अज्ञानी की दशा है, मोह-कर्म से प्रेरित पुरुष यंत्र की भाँति अनेक कार्य कर रहा है, पर अल्पधी यही समझता है कि यह-सब आत्मा ही कर रही है। हे भव्यात्मन्! शुद्धात्मा कर्मातीत, अशरीरी व चिद्रूप है, वह न किसी का कर्ता है, न कारयिता है, न अनुमोदक है, वह मात्र स्वभाव-धर्म का उपयोक्ता है, लोक की चिन्तवन-हीनता, प्रज्ञा की न्यूनता देखकर अति-आश्चर्य लगता है कि स्पष्ट स्व-पर द्रव्य में भिन्नत्व-भाव दिखता है, कर्म की विचित्रता भी दिखायी दे रही है, आगम-ग्रंथों का वाचन भी चल रहा है, फिर-भी अन्य की क्रिया को स्व-कृत मानकर उन्मत्त हो रहे हैं; जबकि तत्त्व-ज्ञानियों को स्व-पर का ज्ञान करके राग-द्वेष-बुद्धि का विसर्जन कर देना चाहिए और जगत्-पूज्य बनाने वाली निर्मोही दशा का आलम्बन लेना चाहिए, स्वार्थ-वृत्ति से युक्त संसार में अपनी वंचना नहीं करना चाहिए। जीव पर का ग्रहण जितना नहीं करता, उससे ज्यादा विकल्पों को ग्रहण करता है, किस संबंध को जीव ग्रहण करता है, कोई भी संबंध भोगा जाता है क्या?..... सम्बन्धों में राग-द्वेष-भाव ही हुआ करते हैं, उनके द्वारा पुनः अभिनव कर्मास्रव करता है और उनके विपाक का पुनः भोक्ता होकर राग-द्वेष-रूप भाव-कर्म करके द्रव्य को पुनः प्राप्त होता है, इसप्रकार जीव का संसार-चक्र अनवरत चल रहा

है, कोई ऐसा विवेकी गुरु प्राप्त हो जाता, जो यह समझाता कि वत्स! यह कर्म का चक्र धर्म-चक्र का स्वामी नहीं होने देता। कर्म अपने हित में लगा है कि यदि जीव राग-द्वेष करता रहेगा, तो मुझे जीव के साथ रहने को मिलेगा, अहो! भगवन् आत्मा के साथ किसे रहना अच्छा नहीं लगेगा! पर ज्ञानियो! अब मोह का त्याग करो, अपनी शुद्ध-सत्ता का वेदन करो, निज प्रभुत्व-शक्ति का ध्यान करो, कर्माधीन कब तक रहोगे? तू तो स्वाधीन, निज-क्षेत्र में स्वतंत्र है, अपनी स्वतंत्रता का अनुभव कर, स्व-पर का ज्ञान होने पर उनसे भी मोह छोड़ दो, नष्ट कर दो; जब मोह छूट जाएगा, ज्ञानियो! मोह के छूटते ही जीव अनाकुल हो जाएगा, अनाकुल हुए बिना चित्त में शांति-वेदन नहीं होता। सम्पूर्ण कष्ट का हेतु आकुलता है, संक्लेश-परिणाम ही दुःख है, जहाँ संक्लेश है, वहाँ न तप है, न त्याग, जैसे— निरीह प्राणी तृण-भोजी मृग को शेर अपने मुख में रखकर चबा लेता है, उसीप्रकार संक्लेशता सम्पूर्ण विशुद्धि-स्थानों को चबा लेती है, संक्लेशता से साधक का चित्त न तो स्वाध्याय में लगता है, न सामायिक में, संयम-मुद्रा भी भार-भूत लगती है। जहाँ योगी एकान्त में पंच परमेष्ठी एवं स्वात्मा तथा जीवादि तत्त्वों का चिन्तवन करता है, वहीं संक्लेशता से ग्रसित जीव पर-घात एवं अप-घात करने के अशुभतम खोटे भाव कर तीव्र काषायिक भाव से युक्त होकर दीर्घ-संसारि होता है। अहो भव्यो! मोक्ष-मार्ग पर भी चलो तो धैर्यता, गंभीरता, संसार की विषमताओं को सहन करने की शक्ति के साथ चलना— “संक्लेशमुक्तमनसा” सूत्र का आलम्बन लेकर गमन करना, यदि मन संक्लेशता से मुक्त है, तो मुक्ति दूर नहीं है; संक्लेशता है, तो वन के वास व अनेक प्रकार के तप-त्याग, मासोपवास, अहोरात्रि मौन, सम्पूर्ण शास्त्रों के अध्ययन आदि को ऐसे ही स्वीकारना जैसे— हल में जुता हुआ पराधीन बैल, जो बिना इच्छा के कार्य कर रहा है, संक्लेश-भाव से की गई सम्पूर्ण साधना व्यर्थ है, संक्लेशता-रहित अल्प साधना भी मोक्ष-दायिनी है। यदि साधना के मार्ग पर कोई कष्ट भी देता है, तो उसे कर्म-विपाक स्वीकार कर शान्ति से सहन करना चाहिए, कोई आपको दुःख देने में कारण भी बन रहा हो, तो भी ध्यान रखो— बिना आपके अशुभोदय के व पूर्व-कर्मोदय के बिना क्या कोई किसी को कष्ट दे सकता है, स्वयं का ही विपाक फलित होता है, दुःख-सुख के काल में धैर्यवान् समताधारी साधु कर्म-विचित्रता कहकर सहज-भाव से समय निकाल देते हैं, जिससे जीर्ण कर्मों की निर्जरा हो जाती है और अभिनव कर्मों का संवर हो जाता है, जहाँ संवर-पूर्वक निर्जरा होती है, वहाँ साक्षात्-मोक्ष होना

समझना चाहिए, बिना संवर के निर्जरा मोक्ष-मार्ग में प्रयोजनभूत नहीं है, —ऐसा अर्हत-जिन का उपदेश है।

अहो प्रज्ञ! निराकुलता ही शिव-धाम का सोपान है, आत्मा का भूतार्थ-सुख आकुलता से रहित है, परम-निराकुल समरसी-दशा निर्वाण-अवस्था है, मोक्ष है, इसलिए शान्त-चित्त से मोक्ष-मार्ग की साधना करना चाहिए। परम-समरसी-भाव का आनन्द विषयों में नहीं है, वह तो शुद्ध निराकुल रत्नत्रय-धर्म की आराधना में है।

अहो मुमुक्षुओ! व्यग्रता से रहित होकर स्व-संवेदन-गम्य अपने स्वरूप में मात्र स्थिर हो जाओ।... पर से पूर्ण-निरपेक्ष एक ज्ञायक-भाव है, जहाँ अन्य ज्ञेयों से अत्यन्त भिन्न होकर निज ज्ञेय में ही ज्ञाता स्थिर हो जाता है। नय, निक्षेप, अनुयोग, गुणस्थान, मार्गणा-स्थान, जीव-समास से रहित, ज्ञाता-भाव में लवलीन चैतन्य-धर्म सदा विद्यमान है, उसी की अनुभूति स्व-संवेदन-भाव है, स्व-संवेदन में स्थिर योगी पर-भावों से भिन्न-भाव के विकल्प से भी अपने-आपको भिन्न रखता है, मैं 'मैं' हूँ, पर 'पर' है, —ऐसा विकल्प भी जहाँ समाप्त हो जाता है, वहीं सत्यार्थ स्व-संवेदन-भाव है। परम योगीश्वर, वीतराग, निर्ग्रन्थ, तपोधन, एकमात्र स्व-संवेदन की भावना में ही जाग्रत रहते हैं, पर्याय के राग में स्वात्मा की रक्षा करते हैं, पर्याय के रागों में पर का ही संवेदन होता रहा, स्वरूप-सम्बोधन नहीं हो सका। अहो! भिन्नत्व-भाव का चिन्तवन भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, भेद-विज्ञान का चिन्तवन भी जहाँ समाप्त हो जाता है, वहाँ निर्विकल्प, सहज-स्वरूप की लीनता है, वहाँ न तत्त्व-विकल्प है, न ज्ञान-विकल्प है, न ध्यान-विकल्प, न ध्याता का विकल्प है, धर्म का विकल्प भी जहाँ नहीं है, वहीं परम-सत्यार्थ-धर्म है, जो-कि पर्याय की पूजा में नहीं है, परमात्मा की पूजा में है, पूज्य-पूजक के भाव का भी जहाँ अभाव है, वह अवस्था परम-पूज्य क्षीण-मोही महामुनीश्वरों की है और कुछ नहीं, मात्र उस अवस्था से युक्त योगी के भावों का मैं पुजारी हूँ, शुभ-योगी के परिणाम ही संवर-स्थान हैं, वे परिणाम ही निर्जरा-स्थान हैं, वे ही मोक्ष-स्थान हैं, शेष संसार-भूत ही समझो। अहो ज्ञानियो! लोक में मंगलोत्तम-शरण-भूत वे ही परिणाम हैं, अन्य पर्याय हैं, वे परिणाम नहीं हैं। पर्याय की आराधना सारा जगत् करता है, परंतु परमात्म-भाव की आराधना तत्त्व-ज्ञ योगीश्वर ही करते हैं, उन योगियों के मार्ग पर चलने का पुरुषार्थ करो॥२४॥”

श्लोक¹—25

उत्थानिका— शिष्य आचार्य-प्रवर के श्री-पाद-कमल में जिज्ञासा प्रकट करता है— भगवन्! अभेद षट्-कारक रूप से अपने स्वरूप का ध्यान करने पर किस फल की प्राप्ति होती है?.....

समाधान— आचार्य-देव अत्यन्त वात्सल्य-भाव से कहते हैं कि हे वत्स! अभेद षट्-कारक की अभिव्यक्ति-रूप सात विभक्तियों के ध्यान से परमानन्द की प्राप्ति होती है। उसे सुनो—

स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्याविनश्वरम् ।

स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत् स्वोत्थमानन्दामृतं पदम् ॥

अन्वयार्थ— (स्वः) निज आत्मा, (स्वं) अपने स्वरूप को, (स्वेन) अपने द्वारा, (स्थितं) स्थित, (स्वस्मै) अपने लिए, (स्वस्मात्) अपनी आत्मा से, (स्वस्य) अपनी आत्मा का, (स्वोत्थं) अपनी आत्मा से उत्पन्न हुआ, (अविनश्वरम्) अविनाशी, (आनन्दामृतं पदम्) आनन्द व अमृत-मय पद, (स्वस्मिन्) अपनी आत्मा में, (ध्यात्वा) ध्यान करके, (लभेत्) प्राप्त करे ॥25॥

परिशीलन— तत्त्व-ज्ञान सर्वोपरि है, तत्त्व-बोध-विहीन पुरुष अन्धों में महा-अन्धा है, —ऐसा समझना चाहिए, नर-देह प्राप्त करके सर्व-श्रेष्ठ कार्य तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करना ही है, ज्ञान मनुष्य-जीवन का सार है, सत्यार्थ-मार्ग पर आस्था, तत्त्व-बोध एवं सम्यगाचरण, —ये ही मनुष्य को महान् बनाते हैं, अनाकुल-जीवन की शैली का बोध तो आगम के अध्ययन से ही होता है, बिना आगम-अध्ययन के सभी आचरण अधूरे-अधूरे से लगते हैं, परम-समरसी-भाव के तल-स्पर्शी ज्ञाता बनने के लिए स्व-समय में लगना होगा, बिना तत्त्व-निर्णय के सम्पूर्ण क्रियाएँ रूढ़ि-भूत दिखती हैं, आत्म-ज्ञान को भी तर्क से, बुद्धि से प्राप्त करना चाहिए। आत्म-ज्ञानी साधक व्यर्थ के आडम्बरों से प्रति-क्षण आत्म-रक्षा करता है, एक श्वास-प्रमाण-काल पुनः प्राप्त नहीं होता। रागी दिन-के-दिन पर की चिन्ता में पूर्ण कर रहा है, वे पुरुष धन्य हैं, जो एक-क्षण-मात्र भी विलम्ब न करके शीघ्र जिन-मुद्रा की प्राप्ति के पुरुषार्थ में लग गए,

1. इस श्लोक का निम्नांकित पाठान्तर और है—

स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्याविनश्वरम् ।

स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत्स्वोत्थमानन्दामृतं पदम् ॥

जिन्हें युवा-अवस्था की कामुकता नहीं सता सकी; माँ का दुलार, पिता का प्यार, भाई का स्नेह, स्त्री का राग जिनके अन्तःकरण को विचलित नहीं कर सका, ऐसा विशुद्ध योगी ही सत्यार्थ-बोध को प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन सब गुणों में प्रधान है, ज्ञानियो! प्राण नष्ट हो जाएँ, पर श्रद्धा-गुण को नष्ट नहीं होने देना, जिसकी श्रद्धा दृढ़ है, उसका ज्ञान भी निर्मल होगा; यों कहना चाहिए कि सम्पूर्ण मोक्ष-मार्ग की आधार-शिला सम्यक्त्व है, उसके साथ ज्ञान-चारित्र का होना अनिवार्य है, तभी मोक्ष-मार्ग परिपूर्ण कहलाएगा, एक-एक करके मोक्ष-मार्ग नहीं है, तीनों की एकता ही मोक्ष-मार्ग है, व्यवहार से गुरु के द्वारा दिये गए व्रतों का पालन भव्य जीव करता है, गुरु-शिष्य के सम्बन्ध से रत्नत्रय-धर्म चलता है, द्वैत-भाव है, साथ में जिन-मुद्रा, पिच्छी-कमण्डलु द्रव्य-संयम के चिह्न हैं, इनके सद्-भाव में जगत् पहचानता है कि कोई मुनिराज हैं, —यह भेद-दृष्टि से जिन-मुनि की पहचान है, भेद-दृष्टि से जैन मुनिराज को बाल-गोपाल तक जानते हैं। अभेद-दृष्टि से मुनिराज को तो भाव-लिंगी मुनिराज स्वानुभव से स्वयं ही जानते हैं, या-फिर प्रत्यक्ष-ज्ञानी जानते हैं। व्यवहार-मुनि संयोगी भावों से होते हैं, निश्चय के मुनिराज पर-से असंयोगी-भाव से होते हैं। व्यवहार-मुनिराज के पास पिच्छी-कमण्डलु, जिन-लिंग का संयोग रहता है, निश्चय-मुनिराज मात्र स्वानुभूति का आनन्द लेते हैं, वहाँ कोई विकल्प-भाव नहीं होते, द्रव्यों का संयोग तो बहुत-दूर है, वहाँ पर विकल्प-भावों का भी संयोग नहीं है, पर विशिष्ट बात यह समझना है कि बिना व्यवहार-मुनि बने हुए निश्चय-मुनि-दशा प्रकट होती ही नहीं। साध्य-साधन-भाव है, व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है, —सर्वत्र ऐसा ही समझना, जो अल्पधी साधन के अभाव में साध्य की सिद्धि करने बैठ जाते हैं, वे बन्ध्या के लला को आकाश के पुष्प से खिला रहे हैं। तत्त्व के कथन करने से पूर्व विवेक का प्रयोग विद्वानों को तो करना चाहिए, जो भी कथन हो, वह आगम एवं तर्क-सम्मत हो, —यह होना ही चाहिए, जो बात लौकिक कार्य की सिद्धि में घटित नहीं होती, वह परमार्थ की सिद्धि में कैसे घटित होगी?... क्यों ज्ञानी! बिना पात्र के भी खीर पकती है क्या?... तो-फिर बिना साधन के साध्य की सिद्धि कैसे होगी?... अल्प-प्रज्ञा ही स्वयं प्रयोग कर लें, तो व्यर्थ के असत्य-मार्ग से रक्षा हो सकती है।

जिनवाणी के अनुसार भूतार्थ-कथन होना चाहिए, उन्मत्त पुरुष के सदृश जो प्रयोजनवान् वचन बोलना भूल चुका है, प्रयोजनवान् व अप्रयोजनवान् में भेद ही जिसे समझ में नहीं आता है, जिसके शब्दों का वाच्य-वाचक-भाव ही समाप्त हो चुका हो, कहना ही जिसका लक्ष्य है, क्योंकि कहना है, इसलिए बस कहना है, पर कोई विवेक

नहीं है, —यही तो उन्मत्त पागल-पुरुष की पहचान है, उसीप्रकार जिस वक्ता ने निश्चय-नय एवं व्यवहार-नय में से एक नय को कहना ही ध्येय बना लिया, प्रयोजन क्या है ऐसे कथन का? ...निश्चय मानिए कि वह परमार्थ से ही सम्बन्ध समाप्त कर बैठा है।

ज्ञानियो! नय का कथन मोक्ष-मार्ग नहीं है, मोक्ष-मार्ग में विसंवाद न हो, सत्यार्थ-तत्त्व को समझने के लिए नय का आलम्बन लेना चाहिए। मोक्ष-मार्ग तो रत्नत्रय-धर्म का भेदाभेद-साधन है, साम्य-भाव की साधना ही श्रेष्ठ साधना है, जिन-लिंग धारण करने के उपरान्त भी साम्य-भाव की प्राप्ति यदि साधक नहीं कर सकता, तो समझना चाहिए कि अभी साधना प्रारंभ ही नहीं हुई, साधक पुरुष की चर्या, उसकी क्रिया एवं परिणति सभी विशिष्टता से युक्त होती है, वाणी में साम्यता, मन में साम्यता, यहाँ-तक-कि सम्यक् साधक का तन भी साम्यता-भरा होता है, शरीर को देखने-मात्र से भावों की साम्यता का बोध हो जाता है, जैसे-कि जल से भरा मटका दूर से दिखता है कि कलश पानी से पूरित है, उसीप्रकार देह के दर्शन से भी जीव के भावों का अनुमान लग जाता है, उपवास, मौन, काय-क्लेश की साधना में न्यूनता भी हो, तो कोई विकल्प नहीं है, पर साम्य-भाव की साधना में कमी नहीं आना चाहिए, सम्पूर्ण समाधि की साधना साम्य-भाव है। साम्य-भाव, समाधि, मध्यस्थता, उदासीनता, उपेक्षा-भाव से साम्य-भाव के अनेक नाम समझो। आचार्य-देव भट्ट अकलंक स्वामी इस कारिका में उसी साम्य-भाव को लक्ष्य कर भव्य मुमुक्षुओं को समझा रहे हैं कि ध्रुव ज्ञायक-भाव के परमानन्द का अनुभव करना चाहते हो, तो पर के कर्त्तापन से आत्म-रक्षा करो और साम्य-भाव को अपना मुख्य लक्ष्य बनाओ, भिन्न कारक का कथन/अनुभवन इस जीव ने सुना है, किया है, परन्तु अभिन्न कारक के बारे में विचार ही नहीं किया, —यही कारण है कि ज्ञान की धारा बाह्य ज्ञेयों में दौड़ रही है, ज्ञाता के ज्ञेय-भाव को कोई लक्ष्य ही नहीं दिखता, जहाँ साधक स्वयं डूबे रहते थे, पर से जिन्हें कोई प्रयोजन होता था, वहीं सम्प्रति कुछ भिन्नत्व दिखता है, पर में डूबे निज में उथले नेता, अभिनेता, श्री, स्त्री के परिचय में समय निकल रहा है, ज्ञानी स्वयं चिन्तवन करो— क्या भवनों का निर्माण आत्म-निर्वाण का मार्ग है? जो भवन के त्यागी हैं, वे भवन-निर्माण में अपनी निर्वाण-दीक्षा के काल को पूर्ण करें, पर-कर्त्ता-पन की इससे बड़ी विडम्बना क्या होगी?... रागी-भोगी जिसका उपयोग करें, उन्हें वीतराग-मुद्रा-धारी बनवाएँ, यह कलिकाल की बलिहारी कहें या मान का पुष्टि-करण कहें, या-फिर मोक्ष तत्त्व पर श्रद्धा की कमी, या यों-कहें-कि मोक्ष-मार्ग

कठिन मार्ग है, इस पर ठहरना दुर्लभ है, इसलिए वहाँ से च्युत हुआ जीव भवनों का आलम्बन लेकर समय को पूर्ण कर रहा है, समय (आत्मा) से दूर होकर स्व-समय में प्रवेश हो जाए, तो क्यों कोई जीव भवनों का त्याग करके भवन-निर्माण में निराकुल-मार्ग जिन-दीक्षा का व्यय करेगा?... साधको! धन्य है कि त्रिलोक-पूज्य अरहन्त-मुद्रा को आप कैसे भिखारी/ठेकेदारी की मुद्रा में देखते हो?... इतना साहस कैसे प्राप्त किया?... पूर्वाचार्यों ने तो इस मुद्रा का प्रयोग मात्र स्वानुभूति में किया था, —ऐसा लगता है कि वर्तमान-युग विपर्यास-युग ही है, गर्भस्थ शिशु के स्वास्थ्य-परीक्षण के लिए सोनोग्राफी यंत्र का प्रयोग था, परन्तु अल्पज्ञ अर्थ-लोलुपी, विषय-लोलुपी, हिंसक जीवों ने लिंग-परीक्षण में प्रयोग कर अनेक भावी भगवान्-आत्माओं के साथ क्रूर व्यवहार करके हिंसक कर्म कर तीव्र पाप का संचय किया है, उसीप्रकार जिन-मुद्रा निर्वाण-श्री की प्राप्ति के लिए थी, परन्तु प्रज्ञा-विहीन जीवों ने इस पावन-पवित्र-मुद्रा का प्रयोग भवनों के निर्माण में लगाकर इसे अपमानित किया है व तत्त्व-ज्ञान के साथ अनाचार हुआ है। लौकिक कार्य तो जीव ने अनादि काल से किये हैं, उनसे मुक्त होने के लिए ही साधक संयम की आराधना करता है, आराधना-काल में विराधना से आत्म-रक्षा प्रयत्नपूर्वक करता है।

अहो ज्ञानियो! मोक्ष-मार्ग अत्यन्त विशुद्ध मार्ग है, आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने सराग-अवस्था में जिन-पूजा आदि का उपदेश देने को तो कहा है, जिन-भवन की रक्षा करो, वृद्धि करो, यहाँ तो आचार्यों की आज्ञा है, परन्तु अन्य भवनों के लिए उपदेश भी संयमाचारण में मलिनता का जनक है, जिन-मुद्रा के प्रभाव का प्रयोग सम्यग्रूपेण करना, इसे भौतिक द्रव्यों की प्राप्ति में नहीं कर लेना। अभेद-मार्ग की ओर ले जाने वाली मुद्रा है, भेद-भावना भाते-भाते तो अनन्त काल व्यतीत हो गया, परन्तु अभेद-भावना के अभाव में निर्वाण-श्री का मिलन नहीं हुआ, द्वैत-भाव प्रारंभ अवस्था में तो उपादेय है, परन्तु परम उपादेय-भूत अद्वैत-भाव पर भी दृष्टि जाना चाहिए, द्वैत से ही जीव संतुष्ट हो गए, —ऐसा लगता है। संयम-साधना के काल में साधक को एक निश्चित समय के बाद बाह्य-प्रभावना से भी दृष्टि हटाकर अन्तरंग-प्रभावना में लगाना चाहिए, अद्वैत-भाव अन्तरंग-प्रभावना है, बहिरंग-प्रभावना में भी जिन-धर्म एवं आत्म-धर्म का लक्ष्य है, तो ही प्रभावना संज्ञा है, पर्याय का राग कहीं है, तो ज्ञानी स्व-तन का प्रचार है, न-कि चैतन्य का कल्याण, न जन्म-जयंती स्वयं मोक्ष-मार्ग है, न चित्रों की छपायी मोक्ष-मार्ग है, मोक्ष-मार्ग तो एक-मात्र विशुद्ध रत्नत्रय की साधना है।

अहो प्रज्ञ! जिन-दीक्षा-धारा के काल को प्रति-क्षण निज स्मृति में रखकर चलो, क्या भावों की विशुद्धि थी, अद्वैत पर लक्ष्य था, न संघ-भेद था, न पंथ-भेद था, भेद था यदि कहीं, तो वह मात्र देह और आत्मा को भिन्न-मानने के विचार में था। भेद-विज्ञानी भव्य मुमुक्षु चैतन्य-भगवानों में भेद नहीं करता, भेद शरीर और आत्मा में करता है, जगत् से निज आत्मा को भिन्न देखता है, न राग से, न द्वेष से; एकमात्र तटस्थ भाव से देखता है, स्व-चतुष्टय को पर-चतुष्टय से भिन्न तो जानना ही होगा, पर-भाव निज के लिए द्वैत भाव है तथा स्व-भाव निज के लिए अद्वैत-रूप है। कठिन साधना द्वैत नहीं है, कठिन साधना अद्वैत है। एकीमुख होकर स्व-स्थ-चित्त रखना, पर-भाव में आत्म-स्वभाव को नहीं जाने देना, जैसे— गज को अंकुश का भय हिलने नहीं देता, उसीप्रकार मुनिराज को कर्मांकुश का भय पर-भावों में हिलने नहीं देता। अहो योगीश्वरो! अद्वैत-साधना ही श्रेय-मार्ग है। यहाँ अद्वैत-प्रयोजन अद्वैत-एकान्त की सिद्धि नहीं समझना, न अन्य का अभाव, शून्य-अद्वैत से भिन्न-अद्वैत की बात कह रहा हूँ। जगत् के अनन्त पदार्थों की सत्ता में एकमात्र लक्ष्य निज आत्म-पदार्थ को रखना, जैसे— स्व-मुख ग्रास का स्वाद एकीभूत होकर लेता है, पर के ग्रास का ज्ञाता-दृष्टा रहता है, अनुभव-कर्त्ता नहीं होता, उसीप्रकार जगत् के अन्य पदार्थों के ज्ञाता-दृष्टा तो रहना, परन्तु उनके कर्त्ता-भोक्ता मत होना, एकमात्र स्व-द्रव्य का भाव रखना, पर-विकल्पों से शून्य हो जाना अद्वैत-भाव है, यह अद्वैत-आराधना ही निश्चय-चारित्र है, यही निश्चय-ज्ञान है, इसे पूज्यवर ग्रंथकर्त्ता ने अभेद षट्-कारकों में व्यक्त किया है। भेद-अभेद रूप षट्-कारक ही तो द्वैत-अद्वैत का कथन है, इसे भी समझना चाहिए, तत्त्व की गहराइयाँ ही तो जीव को महान् से भगवान् बना देती हैं। सर्व-प्रथम महान् बनो, यानी कष्ट-उपसर्ग को सहना सीखो; तब महान् होओगे, और तब-फिर भगवान् बनोगे। मनीषियो! भेदाभेद-कारक को समझना अनिवार्य है, लोक की सम्पूर्ण व्यवस्था षट्-कारक पर आलम्बित है। कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण ये षट्-कारक हैं। व्याकरण-शास्त्र/शब्द-शास्त्र में आठ कारक भी कहे जाते हैं, सम्बन्ध एवं सम्बोधन ये दो और हैं, ये दोनों कारक पर-सापेक्षी हैं, राग-रूप हैं, अध्यात्म-शास्त्र में राग की गौणता से ही कथन किया जाता है, पर सम्बोधन से शून्यता ही आत्मा का ध्रुव स्वभाव है। वह त्रैकालिक है, न उत्पन्न हुआ, न होगा, न था, क्या यह कह सकते हैं कि कर्म का सम्बन्ध तो है?... लेकिन ध्यान रखना— संयोग भाव-मात्र है, अविनाभाव संबंध नहीं है, उपादान-भावकर्म आत्मा का

है, जड़-स्वभावी कर्म कभी भी जड़ को छोड़कर आत्म-पने को प्राप्त नहीं हुआ, चैतन्य-स्वभावी आत्मा ने अपने ज्ञायक-भाव का अपादान नहीं किया तथा जड़त्व-भाव को कभी स्वीकार नहीं किया। लोक में छः द्रव्यों का समूह त्रैकालिक विद्यमान है, परस्पर एक-दूसरे के साथ एक ही लोकाकाश में रहते हैं, परन्तु अपने स्वभाव का कभी भी अपादान (त्याग) नहीं करते तथा पर-द्रव्य के स्वभाव को कभी ग्रहण भी नहीं करते, यह व्यवस्था अन्य-कृत नहीं है, यह व्यवस्था द्रव्यों की स्वभाव-जन्य है, प्रत्येक द्रव्य निज स्वभाव का कर्त्ता है, निज को परिणमन कराता है, यही उसका कर्म है, पर के द्वारा परिणत नहीं कराया जाता, स्वयं के द्वारा ही परिणमाया जाता है, यही कारण है, पर के लिए नहीं परिणमाया जाता, निज-भाव को परिणत करता है, द्रव्य का यही अपादान है, पर-चतुष्टय में ठहरकर परिणमन नहीं करता, स्व-चतुष्टय में ही द्रव्य अधिष्ठित रहता है, यही अधिकरण कारक है। अभेद कारकों को समझे बिना वस्तु की त्रैकालिक व्यवस्था को नहीं समझा जा सकता, तत्त्व के सत्यार्थ-ज्ञाता वे ही जीव हैं, जो भेदाभेद कारकों को जानते हैं, उनका मोह विलय को प्राप्त होता है। भेद-कारक पर-सापेक्षी होते हैं, यदि भेद-कारक को नहीं स्वीकार करोगे, तो लोक-व्यवहार व व्यवहार-धर्म दोनों की व्यवस्था घटित नहीं होगी। अभेद-कारक उपादान-प्रधान है, भेद-कारक निमित्त-प्रधान है। उभय-कारक कार्य-सिद्धि के कारण हैं, —ऐसा तत्त्व-उपदेश समझना चाहिए, लोक में प्रथम कारक ही विसंवाद है, पर को स्वयं का कर्त्ता बनाने की दीर्घ परंपरा व्याप्त है, क्या करें! मिथ्यात्व का साम्राज्य सर्वत्र दिखायी देता है, बड़े-बड़े बुद्धिमान पुरुष निज-बुद्धि से पराधीनता स्वीकार कर यह मानते हुए प्रसन्न हो रहे हैं कि ईश्वर कर्त्ता है। वस्तुतः जो भी सुख-दुःख की प्राप्ति होती है, वह स्वयं के सातावेदनीय या असातावेदनीय कर्म से होती है, ईश्वर किसी को सुखी-दुःखी करने नहीं आता, इसलिए ज्ञानी! कर्त्तापन के गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग करो, अन्यथा मिथ्यात्व से आत्मा की रक्षा होने वाली नहीं है।

जो क्रिया का कर्त्ता है, वही तो कर्त्ता होता है, तो आप स्वयं विचार करो— जो प्रति-दिन के क्रिया-कलाप आपके स्वयं के हैं, वे आप स्वयं करते हैं या अन्य कोई करने आता है?... अज्ञ स्व के विचारों में ही भ्रमित हैं, अहो आश्चर्य! विचार तो अब्रह्म-रूप भी होते हैं, हिंसा-जन्य विचार-आचार दोनों चांडाल के चल रहे हैं, तो क्या वे विचार भी ईश्वर ने उत्पन्न कराये हैं। अहो! वह ईश्वर कितना पाप का संचय करेगा, जो-कि अनन्त जीवों के अंदर हिंसा, अब्रह्मादि-भावों का करने वाला है, फिर उन कर्मों का अशुभ विपाक आएगा, उसे भी क्या ईश्वर भोगेगा?..... जगत् के

सम्पूर्ण दुखियों के दुःख ईश्वर भोगता होगा, अहो! फिर-तो ईश्वर महा-कष्ट में होगा, जो स्वयं कष्ट में है, वह अन्य को सुख कैसे दे सकेगा?....

ज्ञानियो! पर-कृत कर्त्तापने से महा-अनाचार हो जाएगा, न कोई शील का पालन करेगा, न जीव की रक्षा करेगा, स्वच्छन्दी होकर व्यक्ति घोर पाप में लीन हो जाएँगे, हो भी रहा है, विश्व में पर-कर्त्ता-वादियों की संख्या प्रचुर है; स्याद्वाद, सत्यार्थवाद पर चलने वाले जीव अति-अल्प हैं, बिना विशिष्ट सम्यक् पुण्योदय के सत्यार्थ-शासन की प्राप्ति नहीं होती, अनेक भवों की साधना से भवातीत करने वाले सिद्धान्त की उपलब्धि होती है, —ऐसा सर्वत्र उपदेश है। प्रत्येक द्रव्य स्व-पारिणामिक-भाव से युक्त है, न किसी का कर्त्ता है, न कारयिता है और न ही अन्य के कर्त्तापन का अनुमोदक है।

परमार्थिक दृष्टि से द्रव्य स्व-कारण, स्व-कर्त्ता व स्व-क्रिया-रूप है, अन्य का कर्त्ता अन्य होने लगा?... तो एक के साथ अन्य का परिणमन होगा, लोक की सम्पूर्ण व्यवस्था भंग हो जाएगी। आचार्य भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी उक्त आशय को बहुत ही तर्क-पूर्ण शैली में समझा रहे हैं—

यः परिणमति स कर्त्ता, यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्मम्।

या परिणतिः क्रिया सा, त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।

— समयसार कलश, 51/139

जो परिणमन करता है, वह कर्त्ता है और जिसने परिणमन किया, उसका परिणाम कर्म है तथा परिणति क्रिया है, —ये तीनों ही वस्तु-तत्त्व से भिन्न नहीं ही हैं। द्रव्य-दृष्टि से परिणाम और परिणामी में अभेद है तथा पर्याय-दृष्टि से भेद है। वहाँ भेद-दृष्टि से तो कर्त्ता, कर्म और क्रिया, —ये तीनों ही एक द्रव्य की ही अवस्थाएँ हैं, प्रदेश-भेद-रूप अन्य वस्तु नहीं है स्व-परिणाम-परिणामी-भाव को मुमुक्षु जीव समझकर पर-भावों से निज-भाव को अत्यन्त भिन्न स्वीकारता हुआ परमानन्द-दशा के अनुभव की ओर बढ़ता है, जो-कि स्व से ही उत्पन्न होता है; आत्मानन्द पर-कृत नहीं, पर में नहीं, स्व-कृत है और स्वयं में ही है। तत्त्व-ज्ञानी भव्य जीव निर्मल रत्नत्रय की आराधना करता हुआ अभेद-भाव में लीन रहता है, पर-निरपेक्ष होकर स्व-का आश्रय लेता है, स्वयं ही अपने को, अपने द्वारा, अपने लिए, अपने से, अपने अविनाशी स्वरूप में स्थिरता-पूर्वक ध्यान करके इस आनन्दमय अविनाशी पद को प्राप्त करता है, इसलिए प्रत्येक भव्य को इन्द्रिय-सुखों का त्याग कर परमामृत का ही पान करना चाहिए।।२५।।

अंत-मंगल-रूप 26वाँ श्लोक

उत्थानिका— यहाँ अब ग्रंथांत में शिष्य आचार्य-भगवन्त के पादारविन्द में अंतिम जिज्ञासा प्रकट करता है कि भगवन्! इस ग्रंथ को श्रवण करने एवं व्याख्यान करने से क्या लाभ होता है?....

समाधान— आचार्य-देव शिष्य की विनय-गुण-सम्पन्न कुशल पृच्छना को सुनकर प्रसन्न-चित्त होकर समाधान करते हैं—

इति स्वतत्त्वं परिभाव्य वाङ्मयम्,
य एतदाख्याति शृणोति चादरात्।
करोति तस्मै परमात्मसम्पदम्,
स्वरूप-सम्बोधन-पञ्चविंशतिः ॥

अन्वयार्थ— (इति) इस पूर्वोक्त प्रकार से, (यः) जो व्यक्ति, (एतत्) इस, (वाङ्मयम्) वाचनिक-शास्त्र में निबद्ध, (स्वतत्त्वं) अपने आत्म-तत्त्व को, (परिभाव्य) पूरी तरह विचार करके, (आदरात्) आदर से, (आख्याति) वाँचता है, (च) और/या (शृणोति) सुनता है, (तस्मै) उसके लिए या उसको, (स्वरूप-सम्बोधन-पंचविंशतिः) यह पच्चीस श्लोक परिमाण वाला व आत्म-स्वरूप का बोध कराने वाला **स्वरूप-सम्बोधन** ग्रन्थ, (परमात्मसम्पदम्) उत्कृष्ट-आत्म-रूप परमात्म-सम्पत्ति को, (करोति) प्रदान करता है ॥26॥

परिशीलन— आचार्य-प्रवर द्वादशांग-वाणी की महिमा का बहुत ही सुंदर व्याख्यान कर रहे हैं। लोक में ज्ञान से बड़ी कोई सम्पत्ति नहीं है, जो पुरुष श्रुत-सागर में केलि (क्रीडा) करता है, वह संसार से उत्तीर्ण हो जाता है, जिन-वचनों की महिमा अलौकिक है, सुर-शिवत्व की दायक भगवती जिनवाणी है, सम्यग्दृष्टि जीव श्रुत की आराधना करके सुर-पद को प्राप्त होते हैं और चरम शरीर के धारक भव्य जीव शिवत्व को प्राप्त होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव भी यदि भद्रपरिणामों से युक्त होकर अर्हत्-सूत्र की आराधना करता है, तो वह भी मन्द कषाय से सुर-असुर-अवस्था को प्राप्त होता है, जिन-वचन की आराधना कभी विफल नहीं होती, इस लोक में परम औषधि जिन-वचन ही है, जैसा-कि कहा भी गया है—

**जिणवयणमोसहमिणं विसय-सुहविरेयणं अमिदभूयं ।
जर-मरण-वाहि-हरणं खय-करणं सव्वदुक्खाणं ॥**

—दंसणपाहुण, 17

भगवज्जिनेन्द्र के वचन औषधि-रूप हैं, विषय-सुख के विरेचक हैं, अमृत-भूत हैं, जन्म-मरण-रूप व्याधि का नाश करने वाले हैं और सभी दुःखों का क्षय करने वाले हैं।

पंचम काल में उपयोग को निर्मल रखने के लिए श्रेष्ठ साधन स्वाध्याय ही है, दीर्घ समय तक जीव ध्यान-चिन्तन नहीं कर सकता, सम्पूर्ण साधनाओं में सरल-सहज-साधना व मन-वशीकरण का मूल-मंत्र जिनागम का सतत स्वाध्याय है, ग्रन्थ-कर्ता ने एक बहुत सुंदर शब्द का प्रयोग किया है, पठन-पाठन, कथन-श्रवण के साथ प्रयोग किये गए “आदरात्” शब्द का विशेष ध्यान रखें, बिना आदर के श्रुत कर्म-हानि के स्थान पर कर्म-बंध का कारण है, —ऐसा समझना। वृद्ध आचार्यों की परम्परा में श्रुताराधना के लिए विनय-विशुद्धि और शुद्धि इनका विशेष ध्यान रखने की बात की गई है, जो श्रुत के लोभ में अशुद्ध-अवस्था में या अनधिकृत-अवस्था में सिद्धान्त-शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, वे अज्ञ दुःख को प्राप्त होते हैं। शास्त्र-वाचन के समय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की शुद्धि पर विशेष ध्यान रखना चाहिए, समुचित समय पर किया गया कार्य ही फलित होता है; जिसप्रकार असमय में उत्तम भूमि में डाला गया उत्तम बीज भी फलित नहीं होता, उसीप्रकार कोई यों कहे कि जिनवाणी तो श्रेष्ठ है, कभी भी पढ़ सकते हैं, —ऐसा बोलने वाला अभी सत्यार्थ-श्रुत से अनभिज्ञ है, —ऐसा समझना चाहिए। कालादि की शुद्धि-पूर्वक की गई श्रुताराधना मोक्ष-फल-रूप फलित होती है, प्रमाद छोड़कर प्रयत्न-पूर्वक सूत्राध्ययन करने वाला प्रशस्त प्रज्ञावान् महापुरुष होता है, जिसके पांडित्य की सुगन्ध सर्वत्र व्याप्त होती है, सूर्य अस्त हो जाता है, परन्तु विनयवान् श्रुत-पाठी का यश कभी भी अस्त नहीं होता, द्रव्य-प्राणों का वियोग हो जाता है, परन्तु यश-रूपी प्राणों का नाश नहीं होता, प्रज्ञावान् विद्वान् सर्वत्र सम्मान को प्राप्त होता है, जो जीव श्रुत विनय करता है, उसकी विनय सारा लोक करता है, सरस्वती की आराधना त्रिलोक-वंदना एक-स्थान से करा देती है। लघुता, विनय, विशुद्धि, भद-परिणाम, उपशम-भाव, भक्ति, श्रद्धा, विवेक, चारित्र आदि ये-सब सरस्वती को निज-कंठ में विराजमान कराने के उपाय हैं, उपरोक्त गुणी के प्रज्ञा-भवन में वाग्वादिनी स्वयमेव आकर विराज जाती हैं।

ज्ञानियो! हृदय-आँगन को स्वच्छ रखो, वहीं जिन-भारती रहती है, जहाँ विषय-कषाय का कचरा नहीं रहता, विषय-कषाय का अभिनन्दन करने वाले के यहाँ जिन-भारती का सम्मान नहीं होता, जहाँ जिन-मुखोद्भूत वाणी का आदर होता है, वहाँ विषय-कषाय स्वयमेव स्थान छोड़ देते हैं। सम्पूर्ण साधना प्रज्ञा की प्रशस्तता पर है, प्रज्ञा प्रशस्त है, तो शरीर-वाणी-मन आदि सभी प्रशस्त रहते हैं, इसीलिए सर्व-धनों में विद्या-धन को ही श्रेष्ठ कहा गया है, सत्-पुरुषों को विद्या-धन की अनिवार्यतः रक्षा करनी चाहिए। रागी को वैराग्य-दायिनी है श्रुताराधना, वैरागी को चारित्र-दायिनी है श्रुताराधना, चारित्रवान् को समाधि और निर्वाण को देने वाली है श्रुताराधना, इसलिए अहो ज्ञानियो! अध्ययन भी आगमानुसार ही करो, परमात्म-सम्पदा की प्राप्ति चाहिए है, तो जो आचार्य-प्रवर वटिटेकर स्वामी ने भी कहा है, उसे बड़े समर्पण-भाव से आत्मसात करना चाहिए—

पडिलेहिऊण सम्मं दव्वं खेत्तं च कालभावे य ।

विणय-उवयार-जुत्तेण ज्झेदव्वं पयत्तेण ॥

—मूलाचार, गा. 170

अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सम्यक् प्रकार से शुद्धि करके विनय और उपचार से सहित होकर प्रयत्न-पूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

शरीर-गत शुद्धि द्रव्य-शुद्धि है, जैसे— शरीर में घाव, पीड़ा, कुष्ठ आदि का नहीं होना। भूमि-गत शुद्धि क्षेत्र-शुद्धि है, जैसे— चर्म, अस्थि, मूत्र, मलादि का सौ-हाथ-प्रमाण भूमि-भाग में नहीं होना। संध्या-काल, मेघ-गर्जना-काल, व्युत्पाद और उत्पात आदि काल से रहित समय का होना काल-शुद्धि है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावों का त्याग करना भाव-शुद्धि है अर्थात् इसप्रकार से क्षेत्र में होने वाली अशुद्धि को दूर करना, उस क्षेत्र से अतिरिक्त क्षेत्र का होना क्षेत्र-शुद्धि है। शरीर आदि का शोधन करना अर्थात् शरीर में ज्वर आदि या शरीर से पीव व खून आदि के बहते समय के अतिरिक्त स्वस्थ शरीर का होना द्रव्य-शुद्धि है, संधि-काल-आदिक अतिरिक्त काल का होना काल-शुद्धि है और कषायादि-रहित परिणमन होना भी भाव-शुद्धि है। प्रयत्न-पूर्वक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को सम्यक् प्रकार से शोधन करके विनय और औपचारिक क्रियाओं से युक्त होकर मुनिराज को गुरु-आचार्यादि के श्री-मुख से सूत्रों का अध्ययन करना चाहिए।

जो साधक व श्रावक उक्त विधि का ध्यान नहीं रखता, वह अनेक प्रकार के अशुभ को प्राप्त होता है। पुनः यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि जिनवाणी भी कहीं

अशुभ होती है?..... हाँ, जिनवाणी तो कभी भी अशुभ नहीं होती, परन्तु जिसप्रकार पथ्य-रहित औषधि भी कष्टकारी हो जाती है, ज्वर-पीड़ित के लिए घृत भी हानिकारक है, उसीप्रकार क्षयोपशम-शून्य व विवेक-रहित पुरुष के लिए अर्हद्वचन हानिकारक हो जाता है; आगम-वचनों पर श्रद्धा करो, विपर्यास करते हुए लोगों के विपाक पर भी ध्यान दिया करो; जो आज घरों व संघों आदि में समन्वय का अभाव दिख रहा है, वह-सब शुद्धि-चतुष्टय के अभाव के कारण है, जैसा-कि पूज्यपाद वट्टकेर स्वामी ने कहा—

द्रव्यादिवदिवकमणं करेदि सुत्तत्थसिक्खलोहेण ।

असमाहिमसज्झायं कलहं वाहिं वियोगं च ।।

—मूलाचार, गा. 171

यदि कोई सूत्र के अर्थ की शिक्षा के लोभ से द्रव्य, क्षेत्र आदि का उल्लंघन करता है, तो वह असमाधि, अस्वाध्याय, कलह, रोग और वियोग को प्राप्त करता है। यदि मुनि सूत्र और उसके निमित्त से होने वाले आत्म-संस्कार-रूप ज्ञान व उसके लोभ से, आसक्ति से पूर्वोक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की शुद्धि का उल्लंघन करके पढ़ता है, तो मन में असमाधि को अथवा सम्यक्त्व आदि की विराधना-रूप असमाधि को प्राप्त करता है, शास्त्रादि का अलाभ अथवा शरीर आदि के विघात-रूप से अस्वाध्याय को प्राप्त करता है, या आचार्य और शिष्य में परस्पर में कलह हो जाती है अथवा अन्य के साथ कलह हो जाती है अथवा ज्वर, श्वास, कास, भगंदर आदि रोगों का आक्रमण हो जाता है या आचार्य और शिष्य एक-जगह नहीं रह पाते, रूप-वियोग हो जाता है अर्थात् जो मुनि द्रव्यादि की शुद्धि की अवहेलना करते हुए यदि सूत्रार्थ के लोभ से अध्ययन करते हैं, तो उनके उस समय असमाधि आदि हानियाँ होती हैं। पर्वादि के दिनों में सिद्धान्त-ग्रन्थों का श्रवण-पठन भी नहीं करना चाहिए, सामान्य ग्रंथों का वाचन कर सकते हैं। परम-तत्त्व में लीन योगीश्वर सतत श्रुत में लीन रहते हैं, परिणामों को सँभालकर रखने की सुंदर विद्या है अर्हत्-सूत्र-रूप सर्वोदयी देशना। सारे विश्व में जगत् के कल्याण का उदय यदि किसी से होता है, तो वह जिनेन्द्र-देव की वाणी से ही होता है।

अन्य किसी रागी, वस्त्र-धारियों की राग-मिश्रित वाणी से कल्याण संभव नहीं है, वीतरागता का उदय वीतराग की वाणी से ही होता है, निजात्म-तत्त्व-बोध कराने वाली देशना ही सर्वोदयी देशना है, जिसके श्रवण व पठन-पाठन करने से सम्पूर्ण

जीवों के मिथ्यात्व का नाश होता है, भव-भ्रमण की उत्पत्ति समाप्त हो जाती है और परमात्म-पद की सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है।

अहो ज्ञानियो! परमात्म-पद की सम्पत्ति कहीं मिल सकती है, तो एक-मात्र सर्वज्ञ-देशना से ही संभव है, अन्य जगह वह सम्पत्ति नहीं मिल सकती, चाहे जीव कहीं भी भटके, रागियों की भाषा में भावों की कलुषता भरी रहती है, जिसका हृदय कालुष्यता से युक्त है, उसके मुख से स्व-पर-कल्याणी वाणी कहाँ उद्घाटित हो सकती है, ध्रुव ज्ञायक-भाव का ज्ञान कराने वाली तो पवित्र जिनवाणी ही है।

मनीषियो! जगत् की सम्पूर्ण सम्पदाएँ गौण हैं, वे मात्र बन्ध के साधन ही हैं, न कि मोक्ष का कारण हैं, सारा जगत् उगाया गया है, लोक की झूठी माया में, पुद्गल के पिण्डों में, चैतन्य-पिण्ड ज्ञान-धन भगवत्-स्वरूप को भूल गया, जगत् के भ्रम में इतना अन्धा हुआ कि परमात्म-सम्पत्ति में तो दृष्टि ही नहीं गई, कारण कि इस अर्थ-प्रधान-युग में उसके पास परमात्म-सम्पत्ति के बारे में विचार करने का वह समय ही नहीं है, परमार्थभूत परमात्म-तत्त्व को सम्पादित करने का भाव भाग गया, लोक-रंजन में आत्म-लीनता का भाव ही जीव को नहीं है। आचार्य-देव की प्रबल करुणा देखो— बार-बार स्वरूप का सम्बोधन प्रदान कर रहे हैं, पच्चीस श्लोकों में भव्यों के लिए द्वादशांग का सार भर दिया है।

सत्यार्थता को समझो, जिनोपदेश भव्यों के लिए ही कार्यकारी है, अभव्यों के लिए नहीं। ज्ञानी! अग्नि की उष्णता पाक की अर्हता वाली मूँग के लिए ही है, पाक-शक्ति-विहीन ठर्रा मूँग के लिए नहीं। तत्त्व-देशना तो वही है, जो देशना-लब्धि का कारण बने, जिसमें दर्शन-बोध-चारित्र की शिक्षा ही नहीं है, वह देशना ही नहीं है, मात्र वाचनालय है, जो-कि भव-भ्रमण का ही कारण है, न कि भव-हानि का। भव-हानि व परमार्थ-सिद्धि-दायक वीतराग-वाणी मेरे दुःखों का नाश करे, प्रज्ञा को प्रशस्त करे, अध्यवसाय-भाव का अभाव हो, बोधि-समाधि का लाभ हो और निर्वाण की प्राप्ति हो॥२६॥

।। मंगल-भावना ।।

वर्द्धमान स्वामी के शासन में बुन्देलखण्ड मध्यप्रदेश की धरा पर कुडलगिरी (कुण्डलपुर) तीर्थ है, जहाँ श्रीधर केवली ने निर्वाण-श्री की प्राप्ति की थी, ऐसी पवित्र भूमि पर विराजे नाभेय आदीश्वर स्वामी बड़े बाबा जन-जन के हृदय-स्थल पर विराजे हैं, जिनके चरण-कमल बुन्देली के देवता आदिनाथ स्वामी की चरण-निश्रा में मुझ अल्पधी ने आगम-सार-भूत स्वरूप-सम्बोधन ग्रन्थ का परिशीलन लिखने का मंगलाचरण किया; गुरु -प्रसाद से धर्म-प्रयाण-नगरी व संस्कार-धानी जबलपुर के श्री आदिनाथ जिनालय में अक्षय तृतीया वीर निर्वाण संवत् २५३४ को ग्रन्थ परिशीलन लिखना प्रारंभ किया था, आज अष्टम तीर्थ श्री चन्द्रप्रभ स्वामी के पाद-मूल में श्रमणगिरी (सोनागिरी) सिद्ध-क्षेत्र पर स्वरूप-सम्बोधन-परिशीलन ग्रन्थ पूर्ण हुआ, सिद्ध-भूमि की चट्टान प्रशस्त है जहाँ आगे भ. चन्द्रनाथ विराजे हैं, वहीं पश्चिम भाग में स्वरूप सम्बोधन परिशीलन ग्रन्थ पूर्ण हुआ, अन्त में भगवान चन्द्रप्रभ स्वामी के चरणों में वंदना करते हुए निवेदन करता हूँ— हे नाथ! मेरा ज्ञान चारित्र-पूर्वक चन्द्र-तुल्य वर्धमान रहे, जहाँ संयम का प्रारंभ किया था, वहाँ आज ग्रंथ पूर्ण हुआ। इस ग्रंथ परिशीलन में मेरा कुछ नहीं है, गुरु-मुख से जो पूर्वाचार्यों की परंपरा से प्राप्त अर्हत्-सूत्र पढ़े थे, वही इस परिशीलन में हैं, मेरा स्वयं का कुछ नहीं है। ग्रन्थराज महोदधि में कौन पार पा सकता है, पर मात्र श्रुत-भक्ति से युक्त होकर अशुभोपयोग से आत्म-रक्षा हेतु बुद्धि की प्रशस्तता हेतु निर्जरार्थ माँ के याद में क्षमा-प्रार्थी हूँ— हे! भारती! अक्षर-पद-मात्रा में किञ्चित् भी इस अल्पधी के द्वारा कमी हुई हो, तो मुझे क्षमा करें, पुनः आचार्य-प्रवर भट्ट अकलंक स्वामी के चरणारविन्द में नमोस्तु त्रिभक्ति-पूर्वक करते हैं— हे नाथ! आपकी कृति पर जो लिखा है, वह आपका है, मुझ अल्प-ज्ञ का क्या हो सकता है?..... पुनः पुनः देवाधिदेव अरहन्त-देव, श्रुत-देवता, निर्ग्रन्थ-गुरु के पाद-पंकज की वन्दना। इस ग्रन्थ पर परिशीलन के लिए सतना-समाज तथा अन्य सुधी-जनों की प्रार्थना एवं आग्रह रहा, आप ग्रन्थराज पर परिशीलन अवश्य लिखें,

यह महान् ग्रंथ जन-जन की समझ का विषय बने, —इस आग्रह को ध्यान में रखकर यह परिशीलन प्रारंभ किया था।

न्याय-अध्यात्म का युगपद् दर्शन होता है इस ग्रंथराज में, विषय को सरल भाषा में लिखने का पूर्ण प्रयास किया गया है, न्याय-नय के गूढ़-रहस्यों को भी स्पष्ट किया गया है, सन्दर्भित-विषयों को भी स्पर्श किया गया है, सुधी-जन ग्रन्थ का स्वाध्याय करके अवश्य ही आत्म-बोध को प्राप्त करेंगे। परिशीलन वसुधा पर परिलक्षित रहे और जन-जन का कल्याण करे। जिन-शासन जयवन्त हो, जिन-वाणी जयवन्त हो।

वीर निर्वाण सम्वत् 2535। विक्रम संवत् 2065। पौष कृष्ण षष्ठी, बुधवार-वासरे। मघा-नक्षत्रे। मध्याह्नकाले। दि. 17-12-2008 श्रमणगिरी (सोनागिर)मध्ये। श्री चन्द्रप्रभ जिनालय में शांति-विधान के अवसर पर यह स्वरूप-सम्बोधन-परिशीलन ग्रन्थ पूर्ण हुआ।

॥ इति शुभम् भूयात् ॥

विशुद्ध-वचन

* अरे आत्मन !

तू तो

ज्ञान-दर्शन-स्वभावी

तो कैसे रमता

पर में

पर-द्रव्यों में....?

* हर रूप वाले को

पहले से मिला होता है

स्वरूप.....

पर फिर भी मगन रहता

रूप के बदलने में

और भटक जाता स्वरूप से...!

* होता नहीं

धन से

धर्म.....

वह तो होता

परिणामों से.....

धन से

धर्म होता-होता गर मेरे दोस्त!

तो होते सारे धनिक

धर्मात्मा.....!

* अधिक हैं इस जग में

दूसरों के सुख से दुःखिया

पर कम हैं यहाँ

अपने दुःख से दुःखिया....!

परिशिष्ट-1

स्वरूप-संबोधन-पद्यानुवाद

निहालचन्द्र "चन्द्रेश", ललितपुर

गीता छन्द

नमोऽस्तु परमात्म को मम, कर्मादिकों से मुक्त जो ।
 नमोऽस्तु परमात्म को मम, ज्ञानादि-गुण-संयुक्त जो ।
 नमोऽस्तु आत्मोत्पन्न-मय, अक्षय अनन्त स्वभाव को ।
 नमोऽस्तु केवलज्ञान-रूपी, है परम परमात्म जो ॥ 1 ॥

वह आत्मा उपयोग-दर्शन-ज्ञान-मय चैतन्य है ।
 वह क्रमिक कारण व तत् परिणाम से सम्पन्न है ।
 वह ग्राह्य अरु अग्राह्य भी लिखना है, अनादि और अनन्त भी ।
 वह सदा उत्पत्ति व्यय संयुक्त है पर ध्रौव्य भी ॥ 2 ॥

गुण प्रमेयत्वादि आत्म, ज्ञान-दर्शन भिन्न जो ।
 गुण राजते हैं अतः आत्म, है अचेतन-रूप तो ।
 गुण ज्ञान-दर्शन युक्त है, चेतन कहा इस दृष्टि से ।
 गुण उक्त चेतन औ' अचेतन, आत्मा में अनादि से ॥ 3 ॥

आत्मज्ञान भाविभूत, क्रमिक समयान्त को ।
 आत्मज्ञायक रूप से, है जानता पर्यायों को ।
 आत्मा को ज्ञान से अति, भिन्नाभिन्न कहा गया ।
 आत्मा ज्ञानेन भिन्नाभिन्न, अपेक्षा कहा गया ॥ 4 ॥

आत्मा वह ज्ञेय के निज, निज समान कही सही ।
 आत्मा को ज्ञान के न समान, है किंचित् कही ।
 आत्मा अतएव वह न, सर्वथा है सर्वगत ।
 आत्मा अरु सर्व-व्यापी, व्याप्त है न लोक सब ॥ 5 ॥

वह आत्मा नाना ज्ञान-मय, होते हुये नानाऽपि ।
 वह आत्मा चेतन-स्वभावी, एक होता हुआ भी ।
 वह आत्मा तो सर्वथा से, एक है ना अनेक है ।
 वह अनेकान्तात्मक से, एक है व अनेक है ॥ 6 ॥

वक्तव्य है वह आत्मा, स्व-स्वरूप आदि चतुष्टय से ।
 वक्तव्य नहिं वह आत्मा, पर पर-स्वरूप चतुष्टय से ।
 वक्तव्य न वह आत्मा, एकान्त से है सर्वथा ।
 वक्तव्य है वह आत्मा, एकान्त से न सर्वथा ॥ 7 ॥

वह आत्मा निज धर्म अनुयोगी, से अस्ति-स्वरूप है ।
 वह आत्मा निज-धर्म-प्रतियोगी, से नास्ति-स्वरूप है ।
 वह ज्ञान-गुण-मय आत्मा, साकार-दृष्ट्या मूर्तिका ।
 वह आत्मा विपरीत-दृष्ट्या, सर्वथा है अमूर्तिका ॥ 8 ॥

आत्मा स्वीकारता, चेतन-अचेतन आदि को ।
 आत्म-धरम अनुयोगी-प्रतियोगी, जो होते स्वयं को ।
 आत्मा ही बंध का अरु, मोक्ष का कर्ता स्वयं ।
 आत्मा ही बंध करता, मुक्ति-पद पाता स्वयं ॥ 9 ॥

जीव संसारी शुभाशुभ, कर्म-बंध करे स्वयं ।
 जीव वह निज-कृत करम, फल भोक्ता होता स्वयं ।
 जीव वह स्वयमेव ही, नर-नारकादिक में भ्रमे ।
 जीव ही पुरुषार्थ कर, स्वयमेव शिव-रमणी वरे ॥ 10 ॥

आत्मा जो स्वयं करता, भाव राग-द्वेष को ।
 आत्मा उन भावों से सृजता, स्वयं वसु कर्म को ।
 आत्मा तत्फल शुभाशुभ, कृत करम भोक्ता स्वयं ।
 आत्मा बहिरन्तोपाय ही, मुक्त कर्मों से स्वयं ॥ 11 ॥

निज शुद्ध आत्म-स्वरूप पाना, अंतरंग उपाय से ।
 निज शुद्ध आत्म-स्वरूप, सम्यग्दर्श-ज्ञान-चारित्र्य से ।
 निज शुद्ध आत्म-स्वरूप होगा, प्राप्त हो त्रय एकता ।
 निज शुद्ध आत्म-तत्त्व प्रति, श्रद्धान सददर्शन कहा ॥ 12 ॥

सदज्ञान वह निज-पर प्रकाश, दीपवत् त्रयलोक में ।
 सदज्ञान निर्णिती सुसम्यक्, स्वात्म पर त्रय लोक में ।
 सदज्ञान चेतन औ' अचेतन, तत्त्व निश्चय रूप है ।
 सदज्ञान तत् कश्चिद् अपेक्षा, प्रमिति पृथक् स्वरूप है ॥ 13 ॥

उन्नतोन्नत सम्यक्दर्श, सदज्ञान की पर्यायों में ।
 उन्नतोन्नत आश्रय है करता, थिर अचल स्व-स्वभाव में ।
 उन्नतोन्नत माध्यस्थ्य-भावी, उदय सुख-दुःख काल में ।
 उन्नतोन्नत वृद्धि करे माध्यस्थ्य, समता-भाव में ॥ 14 ॥

चारित्र्य सम्यक् मैं अकेला, कोई न साथ सगा ।
 चारित्र्य सम्यक् सुख व दुःख में, मात्र मैं ज्ञाता-दृष्टा ।
 चारित्र्य सम्यक् इस तरह हो, आत्म प्रति सुदृढ़ता ।
 चारित्र्य सम्यक् वीतरागी, भाव में उत्कृष्टता ॥ 15 ॥

कारण जो देश-कालादि बाह्य, सहकारी कारण कहे ।
 कारण जो अनशन आदि तप हैं, निमित्त सहकारी कहे ।
 कारण जो मूल उपादान के, सहकारी कारण हैं सभी ।
 कारण जो सहकारी अरे हैं, उपाय बहिरंगी यही ॥ 16 ॥

इस तरह से दोष-गुण, आलोचना को जानकर ।
 इस तरह अनुकूल सुख-मय, स्थिती का भानकर ।
 इस तरह प्रतिकूल दुःखदायी, दशा में शक्तितः ।
 इस राग-द्वेष विवर्जितं, शुद्धात्म-भावन अंततः ॥ 17 ॥

कषाय-रंजित चित्त आत्म, शुद्धात्म-भाव-स्वरूप का ।
 कषाय-रंजित चित्त-चिंतन, असमर्थ-स्वरूप का ।
 कषाय-सम नीलांबर पर, रंग कुमकुम का अरे ।
 कषाय-सम उस वस्त्र पर, निश्चित ही मुश्किल से चढ़े ॥ 18 ॥

अतएव राग-द्वेष आदिक, दोषों का परिहार हो ।
 अतएव इष्टानिष्ट विषयों, से सर्वथा निर्मोह हो ।
 अतएव तू इस देह के, संसार विषय-भोगों को तज ।
 अतएव आत्म-तत्त्व-चिंतन, मात्र निज शुद्धात्म भज ॥ 19 ॥

विज्ञाय आत्म-स्वरूप तत्त्वसु, हेय आदि पदार्थ को ।
 विज्ञाय आत्म-स्वरूप तत्त्वसु, उपादेय पदार्थ को ।
 विज्ञाय अन्य पदार्थ हैं अति, हेय आलम्बन तजो ।
 विज्ञाय आत्म-तत्त्व है, अति उपादेय ग्रहण करो ॥ 20 ॥

हे जीव! तू निज आत्मा का, तत्त्व-चिंतन कर अरे ।
 हे जीव! अन्य पदार्थ के, वस्तु-स्वभाव को तू ध्या अरे ।
 हे जीव! अन्य से सर्वथा ही, उपेक्ष-भाव किया करे ।
 हे जीव! चरमोपेक्षा-मय, भाव-मुक्ति वरण करे ॥ 21 ॥

मुमुक्षु वांछा भी करे ना, कदापि मुक्ती के लिए ।
 मुमुक्षु भव्य मनुष्य वह, मुक्ती स्वयं जिसको वरे ।
 मुमुक्षु के संदर्भ में जिनदेव, ऐसा कह रहे ।
 मुमुक्षु वह आत्म-हितू, किंचित् नहीं बांछा करे ॥ 22 ॥

हे तात्! इच्छाएँ अनंतों, आत्मा में राजतीं।
 हे तात्! वे इच्छाएँ तुझे, सुलभ-सी प्रतिभासतीं।
 हे तात्! ऐसा है तो सुख, स्वाधीनता आकांक्षा।
 हे तात्! क्यों न यत्न करता, मुक्ति-पद की वांक्षा॥ 23॥

आत्मा को प्रथम तो, देहादि से न्यारा लखो।
 आत्मा का देह से, व्यामोह उसको भी तजो।
 आत्मा देहादि से है भिन्न, शुभ-उपयोग है।
 आत्मा आकुलता-रहित, संवेद्य शुद्ध-पयोग है॥ 24॥

आत्मा निज आत्मा में, आत्म-स्थित हो स्वयं।
 आत्मा स्व-स्वरूप को, अपने लिए जाने स्वयं।
 आत्मा से आत्म को, निज आत्म से उत्पन्न जो।
 आत्म अविनाशी अमर-पद, ध्यान कर पाता है वो॥ 25॥

जो व्यक्ति पूर्व-प्रकार से, इस वाङ्मय को वाँचता।
 जो व्यक्ति परिशीलन सहित, निज आत्मा को जाँचता।
 जो पंचविंशति-काव्य-मय, स्व-स्वरूप-संबोधन कृती।
 जो श्रवण करता मनन, पाता निजातम-सम्पत्ती॥ 26॥

आचार्य श्री अकलंक ने है, स्वरूप-संबोधन किया।
 आचार्यवर्य विशुद्धसागर ने है, परिशीलन किया।
 आचार्य सद्-उपदेश सुन, संकल्प मैंने कर लिया।
 आचार्य-पद-विश्राम का, "चन्देश" निश्चित कर लिया॥ 27॥

परिशिष्ट-2

सन्दर्भित शब्द-कोश

संकलन : सिंघई जय कुमार जैन, सतना

(इस शब्द-कोश में शब्दों के चयन का आधार संकलन-कर्ता का अपना निजी है। यद्यपि उन्होंने परिभाषाएँ सतना-मंदिर-संग्रह व उनके निजी संग्रह में उपलब्ध विभिन्न शब्द-कोशों से दी हैं, जिनका-कि उल्लेख किया गया है, फिर-भी सम्पादक ने जहाँ विचार स्पष्ट नहीं था, वहाँ उनमें आंशिक परिवर्तन-परिवर्द्धन किया है, पर वह बहुत आंशिक ही है।)

अ

अकलंक देव (आचार्य)— इनके समय के बारे में विद्वान् एक-मत नहीं हैं; फिर-भी ई. सन् 620-680 के लगभग का समय इनके बारे में अधिक प्रामाणिक माना जाता है। आपके निम्न ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं— *तत्त्वार्थ-राजवार्तिक सभाष्य, अष्टशती, लघीयस्त्रय सविवृत्ति, सिद्धि-विनिश्चय, प्रमाण-संग्रह, बृहत्त्रयम् न्याय-चूलिका, अकलंक-स्तोत्र, स्वरूप-संबोधन*। आपने वाद-विवाद-विचार/शास्त्रार्थ में बौद्ध धर्मानुयायियों, जिनकी ओर से तारा देवी शास्त्रार्थ किया करती थीं, को परास्त कर जैनधर्म की श्रेष्ठता सिद्ध की थी, —ऐसी प्रसिद्धि है।

—जै. सि. को., भा. 1, पृ. 31

अगुरुलघु (गुण)— जिस गुण के निमित्त से द्रव्य का द्रव्य-पना सदा बना रहे तथा जिसके निमित्त से प्रत्येक द्रव्य में षट्गुणी हानि-वृद्धि होती रहे, उसे अ-गुरु-लघु-गुण कहते हैं। अगुरुलघु-गुण का यह सूक्ष्म

परिणमन वचन से अगोचर है और मात्र आगम-प्रमाण से जानने-योग्य है।

—जै. द. पा. को., पृ. 2.

अगुरुलघु (नामकर्म)— जिस कर्म के उदय से जीवन न-तो लोह-पिंड के समान भारी होकर नीचे गिरता है और न रुई के समान हल्का होकर ऊपर उड़ता है।

—जै. द. पा. को., पृ. 2.

अघातिया कर्म— जो कर्म आत्म-गुणों का सीधे घात तो नहीं करते, फिर-भी भव-भ्रमण कराने में इनका पूरा-पूरा हाथ रहता है, वे अ-घातिया कर्म कहलाते हैं, ये हैं— वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म।

—जै. त. वि., पृ. 326

अचेतनत्व— जिस गुण के निमित्त से द्रव्य जाना जाये, पर वह स्वयं न जान सके, वह अ-चेतनत्व गुण है अर्थात् जो जीवादि पदार्थों को स्वयं न जान सके, सो अचेतनत्व है।

—जै. सि. को., भा. 1, पृ. 39

अठारह दोष— जिनेन्द्र भगवान में 18 दोषों का अभाव होता है। ये 18 दोष हैं—

1. क्षुधा, 2. तृषा, 3. भय, 4. रोष (क्रोध), 5. राग, 6. मोह, 7. चिन्ता, 8. जरा, 9. रोग, 10. मृत्यु, 11. स्वेद, 12. खेद, 13. मद, 14. रति, 15. विस्मय, 16. निद्रा, 17. जन्म, 18. उद्रेक (अरति)।

—जै. सि. को., भा. 1, पृ. 141

अधर्म-द्रव्य— जो स्वयं ठहरते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों के ठहरने में सहायक होता है, उसे अधर्म-द्रव्य कहते हैं।

—जै. लक्ष., खं. 1, पृ. 76

अध्यात्म-अमृत-कलश— आचार्य कुन्दकुन्द के महान् दार्शनिक ग्रंथ **समयसार** के छन्द, जिन्हें समयसार-कलश भी कहा जाता है, उस समयसार-कलश की एक टीका— **आत्मख्याति** के नाम से जानी जाती है। बीसवीं शती में पंडित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री ने उपरोक्त **आत्मख्याति** टीका पर अध्यात्म-अमृत-कलश के नाम से हिन्दी में टीका की, जो श्री चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, कटनी द्वारा वर्ष 1977 में ग्रन्थ रूप में प्रकाशित हुई।

अनन्तवीर्य— 1. वीर्यान्तराय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर जो अ-प्रतिहत-सामर्थ्य उत्पन्न होता है, उसे अनन्तवीर्य कहते हैं।

—जै. ल., खं. 1, पृ. 2

अनन्तवीर्य—न्याय के उद्भट विद्वान्। कृतियाँ— **सिद्धि-विनिश्चय-वृत्ति**, **प्रभासंग्रहालंकार**। समय ई. 975-1025।

अनंतवीर्य— भूतकालीन चौबीसवें तीर्थंकर।

अनंतवीर्य—भविष्यत्कालीन चौबीसवें तीर्थंकर।

—जै. सि. को., खं. 1, पृ. 60।

अनुवीचि-भाषण— विचार-पूर्वक बोलना। नीची वाग्लहरी को कहते हैं, उसका अनुसरण करके जो गाथा बोली जाती है, सो अनुवीचि-भाषण है। जिनसूत्र की अनुसारिणी भाषा अनुवीचि-भाषा है। पूर्वाचार्य कृत सूत्र की परिपाटी का उल्लंघन न करके बोलना, —ऐसा अर्थ है।

—जै. सि. को., भा. 1, पृ. 107

अनेकान्त— एक ही वस्तु में परस्पर-विरोधी अनेक धर्मों की प्रतीति को अनेकान्त कहते हैं। जैसे— एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, भाई आदि अनेक रूपों में दिखायी देता है। इसीतरह प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मों से समन्वित है।

—जै. द. पारि. को., पृ. 16

अन्तरात्मा— जो देह और जीव द्रव्य को अलग-अलग मानते या अनुभव करते हैं, वे अन्तरात्मा माने जाते हैं। अन्तरात्मा तीन प्रकार के हैं— अ. शुद्धोपयोगी अप्रमत्त-संयत-मुनि उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं, ब. प्रमत्त-संयत-यति और देशव्रती श्रावक मध्यम अन्तरात्मा हैं तथा स. अविरत-सम्यग्दृष्टि-जीव जघन्य अन्तरात्मा हैं।

—जै. द. पा. को., पृ. 17

अन्तराय— त्यागी, व्रती और साधु-जनों की आहार-सामग्री में आहार लेने की क्रिया के दौरान नख, केश, चींटी आदि में से किसी के भी अकस्मात् निकलने या दिखने के कारण से बाधा का उत्पन्न हो जाना अन्तराय कहलाता है।

—जै. द. पा. को., पृ. 17

अन्तराय-कर्म— जिस कर्म के उदय से दानादि कार्य में बाधा उत्पन्न होती है, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय, —ये पाँच अन्तराय-कर्म के भेद हैं।

—जै.द.पारि.को., पृ. 17

अन्वय— अपनी जाति को न छोड़ते हुए उसी रूप से अवस्थित रहना अन्वय है। सत्ता, सत्त्व सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये-सब शब्द अविशेष रूप से एकार्थवाचक हैं।

—जै.सि.को., भा. 1, पृ. 115

अभाव— जैनदर्शन में वस्तु का सर्वथा अभाव नहीं माना गया, भावान्तर-स्वभाव-रूप ही अभाव माना गया है। जैसे— मिथ्यात्व पर्याय से अभाव का सम्यक्त्व-पर्याय रूप से प्रतिभास होता है।

अभाव चार प्रकार का है— प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव।

—जै. द. पा. को., पृ. 22

अमूर्त— जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, —ये चारों गुण नहीं पाये जाते हैं, उसे अ-मूर्त या अ-रूपी कहते हैं। पुद्गल द्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अमूर्त या अरूपी हैं।

—जै. द. पारि. को., पृ. 24

अमृतचन्द्र (आचार्य)— आप एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। समय ई. 905—955।

कृतियाँ— 1. समयसार पर आत्म-ख्याति टीका, 2. प्रवचन-सार पर तत्त्व-दीपिका टीका, 3. पंचास्तिकाय पर तत्त्व-

प्रदीपिका-टीका, 4. परमाध्यात्म-तरंगिनी, 5. पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय, 6. तत्त्वार्थ-सार, तथा 7. लघु-तत्त्व-स्फोट।

—जै. सि. को., भा. 1, पृ. 133।

अम्बावरीष— (भवन-वासी देवों के अन्तर्गत असुरकुमार जाति का एक भेद)— अम्बावरीष जाति के असुर देव अत्यन्त निर्दय स्वभाव वाले होते हैं। अनेक सुख-साधनों के रहने के बाद भी इन्हें नारकियों को परस्पर लड़ाने में आनन्द आता है।

—जै. त. वि., पृ. 77

अम्बिका— बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षी आम्ना या अम्बिका है। इस देवी के अनेक नाम हैं। इस यक्षी का वाहन सिंह है।

—जै. त. वि., पृ. 100

अयोगकेवली— तेरहवें गुणस्थान-वर्ती स-योगकेवली भगवान् जब अपने जीवन के अंतिम क्षणों में विशुद्ध ध्यान के द्वारा मन-वचन-काय की समस्त क्रियाओं का निरोध कर देते हैं, तब योग से रहित इस अवस्था में पहुँचकर वे अ-योग-केवली-जिन कहलाते हैं। यह अंतिम चौदहवाँ गुणस्थान है।

—जै. द. पारि. को., पृ. 24

अर्थ-पर्याय— अगुरुलघु-गुण के निमित्त से छह प्रकार की वृद्धि एवं हानि रूप से जो प्रति-क्षण पर्यायें उत्पन्न होती हैं, उन्हें अर्थ-पर्याय कहते हैं।

—जै. लक्ष., भा. 1, पृ. 129

अर्हन्त— जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं, वे अर्हन्त परमेष्ठी कहलाते हैं। अर्हन्त परमेष्ठी तीनों लोकों में पूज्य होते हैं।

—जै. द. पा. को., पृ. 27

अलाभ— इच्छित पदार्थ की प्राप्ति-रूप लाभ से विपरीत अ-लाभ कहलाता है।

—जै. ल., भा. 1, पृ. 133

अलोक— लोकाकाश के बाहर सब ओर जो अनन्त आकाश है, उसे अ-लोक या अ-लोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाश में एक-मात्र आकाश द्रव्य है, शेष पाँच द्रव्य नहीं रहते हैं।

—जै. द. पा. को., पृ. 27

अवगाहन— सभी द्रव्यों को अवकाश/स्थान देना, —यह आकाश का अवगाहन-गुण है।

—जै. द. पा. को., पृ. 27

अवगाहना— 1. जीवों के शरीर की ऊँचाई, लम्बाई आदि को अवगाहना कहते हैं।
2. आत्म-प्रदेश में व्याप्त करके रहना अवगाहना है। यह दो प्रकार की है— जघन्य और उत्कृष्ट। जैसे— कर्मभूमि के मनुष्य की जघन्य अवगाहना 3/1/2 हाथ और उत्कृष्ट 523 धनुष।

—जै. द. पा. को., पृ. 28

अनवतारवाद— अवतारवादी परम्परा के अनुसार जब-जब जगत् में अनाचार की जीत होती है, दुराचारी का आतंक बढ़ता है, धर्म और धर्मात्मा पर संकट आता है, तब-तब परमोच्च-सत्ता का धारी ईश्वर किसी न किसी रूप में अवतरित होता है एवं सज्जनता और सज्जनों की तथा धर्म और धर्मात्मा की रक्षा करता है। वह दुराचार और दुराचारियों का विनाश करता है। तीर्थकरों के साथ यह बात नहीं है। जैनधर्म के अनुसार तीर्थकर किसी के अवतार

नहीं होते, इसीलिए जैनधर्म अन्-अवतार-वादी है।

—जै. त. वि., पृ. 18

अवधि-ज्ञान— जो द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि की सीमा में रहकर मात्र रूपी-पदार्थों को प्रत्यक्षतः जानता है, वह अवधि-ज्ञान है। अवधि-ज्ञान के तीन भेद हैं— देशावधि, सर्वावधि और परमावधि; देशावधि के अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनरक्षित आदि —ये छह भेद हैं। देशावधिज्ञान भव-प्रत्यय और गुण-प्रत्यय दोनों प्रकार का होता है। सर्वावधि और परमावधि दोनों गुण-प्रत्यय हैं।

—जै. द. पा. को., पृ. 28

अवधि-दर्शन— अवधिज्ञान से पहले रूपी-पदार्थों का जो सामान्य प्रतिभास होता है, उसे अवधि-दर्शन कहते हैं।

—जै. द. पा. को., पृ. 28

अवर्णवाद— गुणवान् बड़े पुरुषों में जो दोष नहीं हैं, उन मिथ्या दोषों को उनमें दिखाना अ-वर्णवाद कहलाता है। केवलि, श्रुत, संघ, धर्म और देवों का अवर्णवाद, —इसप्रकार यह पाँच प्रकार का अवर्णवाद होता है।

—जै. द. पा. को., पृ. 29

अविनाभाव-संबंध— जिसके बिना जिसकी सिद्धि ना होय, उसे अ-विनाभावी-संबंध कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है— 1. सह-भाव, 2. क्रम-भाव।

—जै. सि. को., भा. 1, पृ. 211

अविरति— व्रतों को धारण न करना अ-विरति है, जिसका अर्थ है— विरति का न होना या अव्रत-रूप विकारी परिणाम का नाम अविरति

है। पाँच स्थावर और त्रस —इन छह प्रकार के जीवों की दया न करने से और पाँच इन्द्रिय व मन आदि के विषयों से विरक्त न होने से अविरति बारह प्रकार की कही गई है।

—जै. द. पारि. को., पृ. 30

अष्टसहस्री— आ. समन्तभद्र (ई.शती 2) द्वारा रचित **आप्त-मीमांसा** अपरनाम **देवागम-स्तोत्र** की एक वृत्ति **अष्टशती** नाम की आ. अकलंक भट्ट ने रची थी। उस पर ही आ. विद्यानन्द ने (ई. 775—820) 8000 श्लोक-प्रमाण-वृत्ति रची, इस वृत्ति का नाम **अष्टसहस्री** है।

असद्भूत— व्यवहार-नय-भिन्न वस्तुओं के बीच संबंध को बतानेवाला असद्भूत-व्यवहार-नय है। जैसे-जैसे कर्म के निमित्त से होने वाली मनुष्यादि पर्यायें, रागादि विकारी-भाव और बाह्य वस्तुओं से संबंध का कथन करना अ-सद्भूत-व्यवहार-नय का विषय है। इसके दो भेद हैं— अनुपचरित असद्भूत और उपचरित असद्भूत।

—जै. द. पारि. को., पृ. 32

अस्तित्व— प्रत्येक द्रव्य की अनादि-अनन्त सत्ता ही उसका अस्तित्व-गुण है। यह द्रव्य का सामान्य गुण है।

—जै. द. पारि. को., पृ. 33

आ

आकाश— खाली जगह (Space) को आकाश कहते हैं। इसे जैन दार्शनिकों ने एक सर्व-व्यापक, अखण्ड, अमूर्त द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। जो अपने अन्दर सभी

द्रव्यों को समाने की शक्ति रखता है। यद्यपि यह अखंड है, पर इसका अनुमान कराने के लिए इसमें प्रदेशों के रूप में खंडों की कल्पना कर ली जाती है। यह स्वयं तो अनन्त है, परन्तु इसके मध्यवर्ती कुछ-मात्र-भाग या अल्प-मात्र-भाग में ही अन्य द्रव्य अवस्थित हैं। उसके इस भाग का नाम लोक है और उससे बाहर शेष सम्पूर्ण आकाश का नाम अलोक है।

—जै. सि. को., भा. 1, पृ. 229

आगम— जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गये हितकारी वचन ही आगम हैं। आगम, सिद्धान्त और प्रवचन —ये एकार्थवाची हैं।

—जै. द. पारि. को., पृ. 36

आज्ञा-सम्यक्त्व— भगवत्-अर्हत्-सर्वज्ञ-प्रणीत आगम मात्र के निमित्त से होने वाले श्रद्धान और श्रद्धावान् जीवों को भी आज्ञा-रुचि (आज्ञा-सम्यक्त्व वाला) कहा जाता है।

—जै. ल., भा. 1, पृ. 187

जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा को प्रधान मानकर, जो सम्यग्दर्शन होता है, उसे आज्ञा-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

—जै. द. पारि. को., पृ. 37

आप्त— वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी अर्हन्त-भगवान् आप्त कहलाते हैं।

—जै. द. पारि. को., पृ. 40

आप्त-मीमांसा— **तत्त्वार्थसूत्र** के मंगलाचरण पर आचार्य समन्तभद्र (ई. शती 2) द्वारा रचित 115 संस्कृत श्लोक-बद्ध न्याय की दार्शनिक शैली से परिपूर्ण ग्रन्थ है, इसका दूसरा नाम **देवागम-स्तोत्र** भी है। इस ग्रन्थ पर आचार्य अकलंक भट्ट द्वारा

अष्टशती, आचार्य विद्यानन्दि द्वारा 'अष्टसहस्री, आचार्य वादीभसिंह द्वारा 'कृत-वृत्ति', आचार्य वसुनन्दि द्वारा 'कृत-वृत्ति' और पं. जयचन्द्र छाबड़ा द्वारा संक्षिप्त भाषा टीका नामक टीकाएँ हुई हैं।

—जै.सि.को., भा. 1, पृ. 258

आयु-कर्म— जीव के किसी विवक्षित शरीर में टिके रहने की अवधि का नाम 'आयु' है। इस आयु का निमित्त-भूत कर्म आयु-कर्म कहलाता है।

—जै.ध. द., पृ. 150

आरंभ— 1. कार्य करने लगना सो आरंभ है। 2. प्राणियों को दुख पहुँचाने वाली प्रवृत्ति करना आरंभ है।

—जै.सि. को., भा. 1, पृ. 284

आलाप-पद्धति— आचार्य देवसेन (ई. 893-943) द्वारा संस्कृत गद्य में रचित प्रमाण व नयों के भेद-प्रभेदों का प्ररूप ग्रन्थ।

—जै.सि. को., भा. 1, पृ. 290

आस्तिक्य— सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और तत्त्व के विषय में "यह ऐसे ही हैं"—इसप्रकार का आस्था-भाव रखना सम्यग्दृष्टि जीव का आस्तिक्य-गुण है।

—जै.द. पारि. को., पृ. 43

आस्रव— पुण्य-पाप-रूप कर्मों के आगमन को आस्रव कहते हैं। जैसे— नदियों के द्वारा समुद्र प्रति-दिन जल से भरता रहता है, इसीतरह मिथ्यादर्शन आदि स्रोतों से आत्मा में निरंतर कर्म आते रहते हैं। आत्मा के जिस परिणाम या भाव से सूक्ष्म पुद्गल परमाणु-कर्म-रूप होकर आत्मा में आते हैं,

उस परिणाम या भाव को भावास्रव कहते हैं और सूक्ष्म कर्म-रूप पुद्गलों का आना द्रव्यास्रव कहलाता है। साम्प्रायिक आस्रव और ईर्या-पथ आस्रव —ऐसे दो भेद भी आस्रव के हैं।

—जै.द. पारि. को., पृ. 43

उ

उत्तरचर-हेतु— अनुमान प्रमाण के अंगों में हेतु का सर्व-प्रथम स्थान है, क्योंकि इसके बिना केवल-विज्ञप्ति, उदाहरण आदि से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इस लक्षण की विपरीत आदि रूप से वृत्ति होने पर वे हेतु स्वयं हेत्वाभास बन जाते हैं।

उत्तरचर-हेतु का उदाहरण— एक मुहूर्त के पहले भरणी का उदय हो चुका है, क्योंकि इस समय कृत्तिका का उदय अन्यथा नहीं हो सकता; यहाँ कृत्तिका का उदय उत्तरचर-हेतु है; कारण— कृत्तिका का उदय भरणी के उदय के बाद होता है और इसलिए वह उसका उत्तरचर होता हुआ उसको जानता है।

—जै.सि. को., भा. 4, पृ. 540-541

उत्पाद— द्रव्य का अपनी पूर्व-अवस्था को छोड़कर नवीन अवस्था को प्राप्त करना उत्पाद कहलाता है।

—जै.द. पारि. को. पृ. 50

उदय— जीव के पूर्व-कृत जो शुभ या अशुभ कर्म उसकी चित्त-भूमि पर अंकित पड़े रहते हैं, वे अपने-अपने समय पर परिपक्व-दशा को प्राप्त होकर जीव को

फल देकर खिर जाते हैं। इसे ही कर्मों का उदय कहते हैं।

—जै.सि. को., भाग 1, पृ. 377

उपयोग— 1. स्व और पर को ग्रहण करने वाले जीव के परिणाम को उपयोग कहते हैं। 2. जो चैतन्य का अन्वयी है अर्थात् उसे छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता, वह परिणाम उपयोग कहलाता है।

यह दो प्रकार का है—दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग।

—जै.द. पारि. को., पृ. 54

उपादान-कारण— किसी कार्य के होने में जो स्वयं उस कार्य-रूप परिणमन करे, वह उपादान-कारण कहलाता है। जैसे—रोटी के बनने में गीला आटा उपादान-कारण है।

—जै.द. पारि. को., पृ. 56

उमास्वामि (आचार्य)— *तत्त्वार्थ-सूत्र* की प्रशस्ति के अनुसार इनका अपर नाम 'गृद्धपृच्छ' है। आप बड़े विद्वान् व वाचक शिरोमणि हुए हैं। आपकी निम्न कृतियाँ उपलब्ध हैं— *तत्त्वार्थ-सूत्र, सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम*, —इसके अतिरिक्त 'जम्बू-द्वीप-समास' नामक रचना के बारे में भी कहीं उल्लेख मिलता है। आपका समय ई. 179-220 माना जाता है।

—जै.सि. को., भा. 1, पृ. 474

ए

एकान्त-दृष्टि— वस्तु के जटिल स्वरूप को न समझने के कारण, व्यक्ति उसके किसी एक या दो आदि अल्प-मात्र अंगों को जान लेने पर यह समझ बैठता है कि

इतना भाग ही उसका स्वरूप है, इससे अधिक कुछ नहीं। अतः उसमें अपने उस निश्चय का पक्ष उदय हो जाता है, जिसके कारण वह उसी वस्तु के अन्य सदभूत अंगों को समझने का प्रयत्न करने की बजाय उनका निषेध करने लगता है व तत्पोषक अन्यवादियों के साथ विवाद करता है। वहाँ पूर्व-कथित एकान्त मिथ्या है और किसी एक अपेक्षा से एक धर्मात्मक वस्तु को मानना सम्यग्-एकान्त है।

—जै.सि. को., भा. 1, पृ. 489

क

कर्म— जीव मन-वचन-काय के द्वारा प्रति-क्षण कुछ न कुछ करता है, वह-सब उसकी क्रिया या कर्म है। कर्म के द्वारा ही जीव परतंत्र होता है और संसार में भटकता है। कर्म तीन प्रकार के हैं—द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म और नो-कर्म।

—जै.द. पारि. को., पृ. 66

कल्पकाल— दश कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण अवसर्पिणी और उतना ही उत्सर्पिणी, —ये दोनों मिलकर अर्थात् बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण एक कल्प-काल होता है।

—जै.द. पारि. को., पृ. 67

कषाय— आत्मा के भीतरी कलुष-परिणाम को कषाय कहते हैं। यद्यपि क्रोध, मान, माया, लोभ —ये चार ही कषाय प्रसिद्ध हैं, पर इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के कषायों का निर्देश आगम में मिलता है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि व

मैथुन भाव (पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसक वेद) ये नो-कषाय कहे जाते हैं, क्योंकि ये कषायवत् व्यक्त नहीं होते। इन सब को ही राग व द्वेष में गर्भित किया जा सकता है।

विषयों के प्रति आसक्ति की अपेक्षा से कषायों के चार भेद हैं— अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन;—इन चारों के क्रोधादि के भेद से चार-चार भेद करके कुल 16 भेद हुए।

—जै.सि. को., भा. 2, पृ. 33

कार्य-कारण— न्याय-शास्त्र में कार्य-कारण-भाव को अन्वय-व्यतिरेक-गम्य कहा गया है अर्थात् जो जिसके होने पर होता है और नहीं होने पर नहीं होता है, या जिसके बिना जो नियम से नहीं होता, वह उसका कारण व दूसरा कार्य होता है। इस कारण के मुख्य भेद दो हैं— उपादान-कारण और निमित्त-कारण।

—जै.सि.को., पृ. 48

काल— 1. किसी क्षेत्र में स्थित पदार्थ की काल-मर्यादा का निश्चय करना काल नाम का अनुयोग-द्वार है। इसके द्वारा पदार्थों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया जाता है। 2. जो सभी द्रव्यों के परिणमन में सहकारी है, उसे काल-द्रव्य कहते हैं। यह दो प्रकार का है— निश्चय-काल और व्यवहार-काल।

—जै.द. पारि. को., पृ. 71

कुन्दकुन्द (आचार्य)— दिगम्बर जैन आम्नाय में आपका नाम गणधर-देव के पश्चात् बड़े आदर से लिया जाता है। आपके अनेक नाम प्रसिद्ध हैं तथा आपके जीवन को

लेकर कुछ ऋद्धियों व चामत्कारिक घटनाओं का भी उल्लेख मिलता है। आपकी निम्न रचनाएँ प्रसिद्ध हैं— षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडों पर **परिकर्म** नाम की टीका (वर्तमान में अनुपलब्ध), **समयसार**, **प्रवचनसार**, **नियमसार**, **अट्ठपाहुड़ पंचास्तिकाय**, **रयणसार** इत्यादि 84 **पाहुड़**, **दशभक्ति**, **कुरलकाव्य**। विद्वानों के अनुसार आपका काल ई.सं. 127-179 है।

—जै.सि. को., भा. 2, पृ. 126

कुश्रुत— मिथ्यादर्शन के उदय के साथ होने वाला श्रुतज्ञान ही कु-श्रुत-ज्ञान है।

—जैन.सि. को., भा. 4, पृ. 59

केवल-ज्ञान— जो सकल चराचर जगत् को दर्पण में झलकते प्रतिबिंब की तरह एक-साथ स्पष्ट जानता है, वह केवल-ज्ञान है। यह ज्ञान चार घातिया कर्मों के नष्ट होने पर आत्मा में उत्पन्न होता है।

—जै.द. पारि. को., पृ. 76

केवल-दर्शन— समस्त आवरण के क्षय होने से जो सर्व चराचर जगत् का सामान्य प्रतिभास होता है, उसे केवल-दर्शन कहते हैं। केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन क्रमशः न होकर एक-साथ ही होते हैं।

—जै.द. पारि. को., पृ. 76

केवली— केवल-ज्ञान होने के पश्चात् वह साधक केवली कहलाता है। इसी का नाम अर्हन्त या जीवन्मुक्त भी है। ये भी दो प्रकार के होते हैं— तीर्थंकर व सामान्य केवली। उपरोक्त सभी केवलियों की दो अवस्थाएँ होती हैं— स-योग और अ-योग।

—जै.सि. को., भा. 2, पृ. 155

ग

गणधर— जो तीर्थंकर के पाद-मूल में समस्त ऋद्धियाँ प्राप्त करके भगवान् की दिव्य-ध्वनि को धारण करने में समर्थ हैं और लोक-कल्याण के लिए इस वाणी का सार द्वादशांग श्रुत के रूप में जगत् को प्रदान करते हैं, ऐसे महामुनीश्वर गणधर कहलाते हैं। प्राप्त ऋद्धियों के बल से गणधर आहार, नीहार, निद्रा, आलस्य आदि से सर्वथा मुक्त हैं, अतः चौबीस घण्टे निरंतर भगवान् की वाणी हृदयंगम करने में संलग्न रहते हैं। ये तद्भव मोक्षगामी होते हैं।

—जै.द. पारि.को., पृ. 86

गुण— जो एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् करता है, उसे गुण कहते हैं। गुण सदा द्रव्य के आश्रित रहते हैं अर्थात् द्रव्य की प्रत्येक अवस्था में उसके साथ रहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनेक गुण होते हैं। कुछ साधारण या सामान्य गुण होते हैं और कुछ असाधारण या विशेष गुण। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व आदि —ये सभी द्रव्यों में पाये जाने वाले सामान्य गुण हैं। चेतना, ज्ञान, दर्शन आदि जीव के विशेष गुण हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि पुद्गल के विशेष गुण हैं। गति-हेतुत्व, स्थिति-हेतुत्व, वर्तना-हेतुत्व और अवगाहनत्व —ये क्रमशः धर्म, अधर्म, काल और आकश के विशेष गुण हैं।

—जै.द.पा.को., पृ. 88

गुणस्थान— मोह और योग के माध्यम से जीव के परिणामों में होने वाले उतार-चढ़ाव को गुणस्थान कहते हैं। जीवों के परिणाम

यद्यपि अनन्त हैं, परन्तु इन सभी को चौदह श्रेणियों में विभाजित किया गया है। चौदह गुणस्थानों के नाम इस प्रकार हैं— मिथ्यादृष्टि, सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरत-सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त-संयत, अ-प्रमत्त-संयत, अ-पूर्व-करण-शुद्धि-संयत, अ-निवृत्ति-करण-शुद्धि-संयत, सूक्ष्म-साम्पराय-शुद्धि-संयत, उपशान्त-कषाय वीतराग-छद्मस्थ, क्षीण-कषाय वीतराग-छद्मस्थ, संयोग-केवली जिन और अयोग-केवली जिन।

—जै.द. पा. को., पृ. 89

गोत्र-कर्म— मिथ्यात्व आदि कारणों से जीव से सम्बद्ध जो पुद्गल-स्कन्ध उच्च और नीच कुलों में उत्पन्न कराने में निमित्त हैं, उनका नाम गोत्र-कर्म है। उनके दो भेद हैं— उच्च गोत्र कर्म और नीच गोत्र कर्म।

—जै. सि. को., पृ. 107

गौतम-गणधर— श्रुतावतार की गुर्वावली के अनुसार भगवान् महावीर के पश्चात् प्रथम केवली हुए। आप भगवान् महावीर के गणधर थे। आपका पूर्व नाम इन्द्रभूति था। आपका समय ई.पू. 527 से 515 माना जाता है।

—जै.सि. को., भाग 2, पृ. 255

ज्ञ

ज्ञानार्णव— आचार्य शुभचन्द्र (ई 1003-1168) द्वारा संस्कृत-श्लोकों में रचित एक आध्यात्मिक व ध्यान-विषयक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर आचार्य श्रुतसागर (ई. 1275-1533) ने *तत्त्व-मय-प्रकाशिका* और

ई. 1812 में पं. जयचन्द्र छाबड़ा ने भाषा-वचनिका आदि टीकाएँ लिखी हैं।

—जै.सि. को., भाग 2, पृ. 270

ज्ञानावरण— जीव के ज्ञान को आवृत करने वाले एक कर्म-विशेष का नाम ज्ञानावरणीय है। जितने प्रकार के ज्ञान हैं, उतने ही प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म भी हैं और इसीलिये इस कर्म के संख्यात व असंख्यात भेद स्वीकार किये गये हैं। ज्ञानावरण-कर्म के सामान्य से निम्न पाँच भेद (प्रकृतियाँ) हैं— मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनः-पर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय।

—जै.सि. को., भाग 2, पृ. 270

ज्ञायक— ज्ञाता का जो त्रिकाल-गोचर शरीर है, वह ज्ञायक शरीर नो-आगम द्रव्य जीव है।

—जै.सि. को., भा. 2, पृ. 598

ज्ञेय— सामान्य विशेषात्मक वस्तु को ज्ञेय कहते हैं या जो ज्ञान के द्वारा जाना जाए, वह ज्ञेय है।

—जै.द. पा. को., पृ. 106

घातिया-कर्म— जीव के गुणों का घात करने वाले अर्थात् गुणों को ढकने वाले या विकृत करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय और मोहनीय —इन चार कर्मों को घातिया कर्म कहते हैं।

—जै.द. पा. को., पृ. 91

च

चन्द्रप्रभ/चन्द्रप्रभु— अष्टम तीर्थकर। इनका जन्म इक्ष्वाकुवंशी राजा महासेन और रानी लक्ष्मणा के यहाँ हुआ। इनकी आयु दस लाख वर्ष पूर्व और शरीर की ऊँचाई एक

सौ पचास धनुष थी। शरीर की आभा श्वेत थी। इनके समवसरण में दत्त आदि 93 गणधर, लगभग तीन लाख मुनि, तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक व पाँच लाख श्राविकाएँ थीं। इन्होंने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया था।

—जै.द. पा. को., पृ. 93

चार्वाक— सर्व-जन-प्रिय होने के कारण इसे "चार्वाक" संज्ञा प्राप्त है। सामान्य लोगों के आचरण में आने के कारण इसे 'लोकायत' कहते हैं। आत्मा व पुण्य-पाप आदि का अस्तित्व न मानने के कारण यह मत 'नास्तिक' कहलाता है। धार्मिक क्रियानुष्ठानों का लोप करने के कारण यह अ-प्रक्रिया-वादी है। इसके मूल प्रवर्तक 'बृहस्पति आचार्य' हुए, जिन्होंने 'बृहस्पति-सूत्र' की रचना की थी। आज यह कि इस मत का अपना कोई 'साहित्य' उपलब्ध नहीं है, परन्तु ई.पूर्व 550—500 के अजितेश कम्बली कृत बौद्ध सूत्रों तथा महाभारत-जैसे प्राचीन ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख मिलता है। इनके साधु 'कापालिक' होते हैं। अपने सिद्धान्त के अनुसार वे मद्य व मांस का सेवन करते हैं।

—जै.सि. को., भा. 2, पृ. 294

चेतना (चेतनत्व)— अनुभव रूप भाव का नाम चेतना है या जिस शक्ति के द्वारा आत्मा ज्ञाता-दृष्टा या कर्ता-भोक्ता होता है, उसे चेतना कहते हैं। चेतना जीव का स्वभाव है। चेतना तीन प्रकार की मानी गई है— ज्ञान-चेतना, कर्म-चेतना, कर्म-फल-चेतना।

—जै.द. पा. को., पृ. 95

छ

छत्र चूड़ामणि—आचार्य वादीभसिंह सूरि नं. 2 (ई. 1015—1150) द्वारा रचित 635 संस्कृत-श्लोक-प्रमाण एक ग्रन्थ।

—जै.सि. को., भा. 2, पृ. 305

छह द्रव्य—सत् द्रव्य का लक्षण है। सत् अस्तित्व का वाची है। सत् उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त रहता है। द्रव्य को गुण और पर्याय-वाला भी कहा गया है। उत्पाद और व्यय दोनों क्षण-क्षयी हैं, विनाशीक हैं। ध्रौव्य स्थिरता का द्योतक है, अतः उत्पाद और व्यय पर्याय हैं, ध्रौव्य गुण है।...द्रव्य छह प्रकार के हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

—जै. त. वि., पृ. 225—229

छयालीस गुण— 34 अतिशय + 8 प्रातिहार्य + 4 अनन्तचतुष्टय। तीर्थकरों के जन्म आदि के समय जो अलौकिक या असाधारण सुखद घटनाएँ होती हैं, उन्हें अतिशय कहते हैं—

(क) **जन्म के दस अतिशय**—1. स्वेद-हीनता, 2. निर्मल शरीर, 3. दूध की तरह श्वेत रक्त का होना, 4. अतिशय रूपवान् शरीर, 5. सुगन्धित तन, 6. प्रथम उत्तम संस्थान, 7. प्रथम उत्तम संहनन, 8. 1008 शुभ लक्षण, 9. अतुल बल, 10. हित-मित-प्रिय-वाणी।

(ख) **घातिकर्म के क्षय से उत्पन्न गयारह अतिशय**— 1. चार सौ कोस में सुभिक्षता, 2. गगन-गमन, 3. अ-प्राणि-वध, 4. भोज का अभाव,

5. उपसर्ग का अभाव, 6. चतुर्मुखता, 7. सर्वविद्येश्वरता, 8. छाया नहीं पड़ना, 9. निर्निमेष दृष्टि, 10. नख और केश नहीं बढ़ना, 11. सर्वार्धमागधी भाषा।

(ग) **देव-कृत तेरह अतिशय**— 1. पारस्परिक मैत्री, 2. दशों दिशाओं में निर्मलता, 3. निर्मल आकाश, 4. वृक्षों में सब ऋतुओं के फल-फूल आना, 5. दर्पणवत् निर्मल पृथ्वी, 6. मन्द व सुगन्धित हवा का चलना, 7. भूमि का कंटक-रहित होना, 8. आकाश में जय-ध्वनि, 9. गन्धोदक-वृष्टि, 10. सभी जीवों को परमानन्द की अनुभूति, 11. स्वर्ण-कमलों की रचना, 12. धर्म-चक्र का आगे चलना, 13. अष्ट मंगल-द्रव्यों का प्रभु के आगे चलना।

(घ) **प्रातिहार्य**— तीर्थकर परमात्मा को जब केवलज्ञान हो जाता है, तब चारों निकाय के देव उनकी सेवा में निरन्तर आते-रहते हैं। देशना के समय सुवर्ण-रजत एवं मणि-रत्न से युक्त तीन पीठिका वाले समवसरण में अष्ट महाप्रातिहार्य होते हैं, जो कैवल्योत्पत्ति के बाद सतत साथ रहते हैं, ये इसप्रकार हैं—1. अशोक-वृक्ष, 2. सिंहासन, 3. भा-मंडल, 4. तीन छत्र, 5. चमर, 6. सुर-पुष्प-वृष्टि, 7. दुन्दुभि, 8. दिव्य-ध्वनि।

(ङ) **अनन्त-चतुष्टय**— तीर्थकर भगवन्त निम्नांकित अनन्त चतुष्टयों से

मण्डित होते हैं,— 1. अनन्त-ज्ञान
2. अनन्त-दर्शन 3. अनन्त-सुख 4.
अनन्त-वीर्य—इस प्रकार से तीर्थकर-
भगवन्त उपरोक्त छयालीस गुण से
संयुक्त होते हैं।

—जै. त. वि., पृ. 22-48

छठवाँ काल— काल का प्रवाह अनन्त और
अजस्र है। वह अनादि-काल से परिवर्तित
होता रहा है और अनन्त-काल तक परिवर्तित
होता रहेगा। कभी वह उन्नत दिखाई पड़ता
है, तो कभी अवनत। उत्थान से पतन की
ओर आने वाले काल को अवसर्पिणी-काल
कहते हैं। इसके विपरीत, पतन से उत्थान
की ओर जाने वाला काल उत्सर्पिणी-काल
कहलाता है। इसप्रकार काल-चक्र
अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी इन दो विभागों
में विभक्त हैं, दोनों के छह-छह उपविभाग
हैं। हासोन्मुख अवसर्पिणी-काल के छह
विभाग निम्नानुसार हैं,— 1. सुषमा-सुषमा,
2. सुषमा, 3. सुषमा-दुषमा, 4. दुषमा-सुषमा,
5. दुषमा, 6. दुषमा-दुषमा।

विकासोन्मुख उत्सर्पिणी-काल के विभाग
इसप्रकार हैं— 1. दुषमा-दुषमा, 2. दुषमा, 3.
दुषमा-सुषमा 4. सुषमा-दुषमा, 5. सुषमा 6.
सुषमा-सुषमा।

—जै. त. वि., पृ. 3-8

ज

जड़— पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों के
विकल्पों से रहित समाधि-काल में, आत्मा
अनुभव-रूप-ज्ञान के विद्यमान होने पर भी

बाहरी विषय-रूप इन्द्रिय-ज्ञान के अभाव
से जड़ माना गया है, परन्तु सांख्य-मत की
तरह आत्मा सर्वथा जड़ नहीं है।

—जै.सि. को., भा. 2, पृ. 332

जिन— क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों
को जीत लेने के कारण अर्हन्त-भगवान्
जिन हैं।

जिन के दो भेद माने गए हैं— सकल-जिन
व देश-जिन। जो घातिया कर्मों का क्षय
कर चुके हैं, वे सकल जिन हैं; वे कौन
हैं— अर्हन्त और सिद्ध। आचार्य, उपाध्याय
और साधु तीव्र-कषाय, इन्द्रिय एवं मोह के
जीत लेने के कारण देश-जिन हैं।

—जै. सि. को., भा. 2, पृ. 328

जिन-मुद्रा— देव-वन्दना या ध्यान व
सामायिक आदि करते समय मुख व शरीर
की जो निश्चल आकृति रखी जाती है,
उसे मुद्रा कहते हैं। वह चार प्रकार की
है— जिन-मुद्रा, योग-मुद्रा, वन्दना-मुद्रा और
मुक्ताशुचि-मुद्रा।

जिन-मुद्रा— दोनों भुजाओं को लटकाकर
और दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर
रखकर कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर को छोड़कर
खड़े रहने का नाम जिन-मुद्रा है।

—जै. सि. को., भा. 3, पृ. 324

जीव— जो जानता देखता है, उसे जीव
कहते हैं या जिसमें चेतना है, वह जीव है।
जीव दो प्रकार के हैं— संसारी जीव और
मुक्त जीव।

—जै.द. पा. को., पृ. 102

ट

टंकोत्कीर्ण— वास्तव में क्षायिक (केवल) ज्ञान अपने में समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकार टंकोत्कीर्ण न्याय से स्थित होने से जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है। (वस्तुतः क्षायिक (केवल) ज्ञान अपने में समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकार को नित्य रूप से जानता है, अतः वह वस्तुओं के ज्ञेयाकार को नित्य रूप से जानना ही टंकोत्कीर्ण रूप है। —संपादक)

—जै. सि. को., भा. 2., पृ. 351

त

तत्त्व— जिस वस्तु का जो भाव है, वही तत्त्व है। आशय यह है कि जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है, उसका उस रूप होना, यही तत्त्व शब्द का अर्थ है। तत्त्व सात हैं— जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

—जै.द. पा. को., पृ. 110

तत्त्वार्थ-सूत्र— आचार्य उमास्वामी (ई. 179-220) कृत मोक्ष-मार्ग, तत्त्वार्थ व दर्शन विषयक 10 अध्यायों में सूत्र-बद्ध ग्रन्थ। कुल सूत्र 357 हैं। इसको को मोक्ष-शास्त्र भी कहते हैं। दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों में समान रूप से मान्य है। जैन आम्नाय में यह सर्व-प्रधान सिद्धान्त-ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ की अनेक आचार्यों ने टीकाएँ की हैं।

—जै.सि. को., भा. 2, पृ. 355

तत्त्वार्थ-वार्तिक— तत्त्वार्थ-सूत्र पर आचार्य अकलंक भट्ट (ई. 620-680) द्वारा विरचित

टीका इसे **तत्त्वार्थ-राजवार्तिक** भी कहते हैं।

—जै.सि. को., भा. 2, पृ. 355

तिलोय-पण्णत्ति— आचार्य यतिवृषभ (ई. 520-609) द्वारा रचित लोक के स्वरूप का प्रतिपादक प्राकृत गाथा-बद्ध ग्रन्थ है। इसमें 9 अधिकार और लगभग 3800 गाथाएँ हैं।

—जै. सि. को., भा. 2, पृ. 370

तीर्थंकर— जिसके आश्रय से भव्य जीव संसार से पार उतरते हैं, वह तीर्थ कहलाता है। तीर्थ का अर्थ धर्म भी है। इसलिए तीर्थ या धर्म का प्रवर्तन करने वाले महापुरुष को तीर्थंकर कहते हैं। आत्मा में तीर्थंकर बनने के संस्कार मनुष्य-भव में किन्हीं केवली भगवान् या श्रुत-केवली महाराज के चरणों में बैठकर दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं के चिन्तन से प्राप्त होते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र में चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं। विदेह-क्षेत्र में सदा बीस तीर्थंकर विद्यमान रहते हैं।

—जै.द. पा.को., पृ. 112

द

दर्शनावरणीय-कर्म— आत्मा के दर्शन-गुण को जो आवरित करता है, वह दर्शनावरणीय है अर्थात् जो पुद्गल-स्कन्ध मिथ्यात्व, असंभय, कषाय और योगों के द्वारा कर्म-रूप से परिणत होकर जीव के साथ सम्बद्ध होता है और दर्शन-गुण को ढाकता है, वह दर्शनावरणीय है।

दर्शनावरण-कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियाँ हैं— निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यान-गृद्धि,

निद्रा, प्रचला, चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षु-
दर्शनावरणीय, अवधि-दर्शनावरणीय और
केवल-दर्शनावरणीय।

—जै. सि., पृ. 100

देवसेन आचार्य— माथुर संघ की गुर्वावली
के अनुसार आप भी विमलगणी के शिष्य
तथा अमितगति प्रथम के पुत्र थे। आपने
प्राकृत व संस्कृत भाषाओं में अनेक ग्रन्थ
लिखे हैं; यथा— दर्शन-सार (प्रा.) भाव-संग्रह
(प्रा.) आराधना-सार (प्रा.) तत्त्व-सार (प्रा.)
ज्ञान-सार (प्रा.), नय-चक्र (प्रा.)
आलाप-पद्धति (सं.) धर्म-संग्रह (सं. व प्रा.)।
आपका समय ई. 893—943 माना जाता
है।

—जै. सि. को., द्वि. भा., पृ. 449

द्वेष— 1. अनिष्ट विषयों में अप्रीति रखना
भी मोह का ही एक भेद है। उसे द्वेष
कहते हैं। 2. असह्य-जनों में तथा
असह्य-पदार्थों के समूह में बैर के परिणाम
रखना द्वेष कहलाता है।

नाम-दोष, स्थापना-दोष, द्रव्य-दोष और भाव-
दोष—इसप्रकार द्वेष का निक्षेप करना चाहिए।
क्रोध, मान, अरति, शोक, भय व जुगुप्सा
—ये छह कषाय द्वेष-रूप हैं।

—जै. सि. को., द्वि. भा., पृ. 461—462

द्रव्य— गुण और पर्याय के समूह को द्रव्य
कहते हैं, या जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य
से युक्त है, उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य छह
हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश
और काल।

—जै. द. पा. को., पृ. 124

द्रव्य-कर्म— जीव के शुभाशुभ भावों के निमित्त

से बंधने वाले सूक्ष्म पुद्गल-स्कन्धों को
द्रव्य-कर्म कहते हैं। ये आठ प्रकार के हैं—
ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय,
मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

—जै. द. पा. को., पृ. 125

द्रव्य-मोक्ष— सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से
अलग से नाता मोक्ष अर्थात् द्रव्य-मोक्ष है।

—जै. सि. को., भा. 2, पृ. 334

द्रव्यत्व— जिसके द्वारा द्रव्य का द्रव्य-पना
अर्थात् एक पर्याय से दूसरी पर्याय रूप
परिणमन निरंतर बना रहता है, वह द्रव्यत्व
गुण है।

—जै. द. पा. को., पृ. 125

द्रव्य-संग्रह— आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव
(ई. शती 11 का पूर्वार्द्ध) द्वारा रचित
प्राकृत-गाथा-बद्ध ग्रन्थ है। केवल 58 गाथाओं
द्वारा षट् द्रव्य व सप्त तत्त्वों का सार-गर्भित
प्ररूपण है। इस पर निम्न टीकाएँ रची
गई— 1. आ. ब्रह्मदेव कृत संस्कृत-टीका,
2. पं. जयचन्द्र छाबड़ा कृत भाषा-टीका।

—जै. सि. को., भा. 2, पृ. 460।

द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश नय-चक्र— नय-चक्र
नाम के कई ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है,
सभी नय व प्रमाण के विषय का निरूपण
करते हैं। प्रथम नय-चक्र आ. मल्लवादी
नं. 1 (ई. 357) द्वारा संस्कृत-छन्दों में रचा
गया था, पर अब वह उपलब्ध नहीं है।
द्वितीय नय-चक्र आ. देवसेन (ई. 893—943)
द्वारा रचा गया। इसमें कुल 423 गाथाएँ हैं।

—जै. सि. को., भा. 2, पृ. 569

द्रव्यार्थिक-नय— जो पर्याय को गौण करके
द्रव्य को मुख्य रूप से अनुभव करावे, वह

द्रव्यार्थिक नय है। यह वस्तु को जानने का एक दृष्टिकोण है, जिसमें वस्तु के विशेष रूपों से युक्त सामान्य रूप को दृष्टि-गत किया जाता है। जैसे— मनुष्य, देव, तिर्यच आदि विविध रूपों में रहने वाले एक जीव-सामान्य को देखना या कहना कि ये-सब जीव द्रव्य हैं।

—जै.द. पा.को., पृ. 127

ध

धर्म-द्रव्य— यह एक स्वतंत्र द्रव्य है, जो गति-शील जीव और पुद्गल के गमन में सहकारी है। धर्म-द्रव्य समस्त-लोक-व्यापी अखण्ड द्रव्य है; इसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का अभाव होने से यह अमूर्त भी है। धर्म-द्रव्य की मान्यता अन्य दर्शनों में नहीं है, किन्तु आधुनिक-विज्ञान इसे ईथर के रूप में स्वीकार करता है।

—जै.त.वि., पृ. 235

ध्रौव्य— द्रव्य की स्वभाव-रूप स्थिरता का नाम ध्रौव्य है।

—जै.द. पा. को., पृ. 131

न

नमोऽस्तु-शासन— मोक्ष-मार्ग में विनय का प्रधान स्थान है, वह दो प्रकार की होती है— निश्चय व व्यवहार। अपने रत्नत्रय रूप गुण की विनय निश्चय है और रत्नत्रय-धारी साधुओं आदि की विनय व्यवहार या उपचार-विनय है। लोकानुवृत्ति-विनय, अर्थ-निमित्तक विनय, कामतंत्र विनय,

भय-विनय और मोक्ष-विनय —इसप्रकार विनय पाँच प्रकार की है।

मोक्ष-विनय के पाँच भेद हैं— ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय, तप-विनय और उपचार-विनय।

—जै. सि. को., भा. 3, पृ. 555-556

टिप्पणी— जैन-धर्म-परंपरा में साधु-संघ (आचार्य, उपाध्याय व साधु) के प्रति नमोऽस्तु का उच्चारण करके विनय प्रकट की जाती है। अरिहन्तों व सिद्धों की भी नमोऽस्तु के द्वारा आराधना व भक्ति की जाती है। नमोऽस्तु के द्वारा अपने आराध्यों के प्रति विनय प्रकट करते हुए उनकी सत्ता/भगवत्ता को स्वीकारने का नाम ही वस्तुतः नमोऽस्तु-शासन है।

नय— वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को सापेक्ष-रूप से कथन करने की पद्धति को नय कहते हैं अथवा ज्ञाता और वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं। वास्तव में अनन्त-धर्मात्मक होने के कारण वस्तु अत्यन्त जटिल है। उसे जाना जा सकता है, परन्तु आसानी से कहा नहीं जा सकता। उसे कहने के लिये वस्तु का विश्लेषण करके एक-एक धर्म को, क्रमशः निरूपित करने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है, —ऐसी स्थिति में वक्ता वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य करके और शेष धर्मों को गौण करके सापेक्ष-रूप से कथन करता है और इसतरह वस्तु को पूर्णतः जानना आसान हो जाता है। यही नय का कार्य है।

नय के दो भेद हैं— द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय अथवा निश्चय नय और व्यवहार नय। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुद्ध और एवंभूत—ये भी सात नय हैं।

—जै.द. पा. को., पृ. 133

नाम-कर्म— जिस कर्म के उदय से जीव देव, नारकी, तिर्यच या मनुष्य कहलाता है, वह नाम-कर्म है अथवा जो नाना प्रकार के शरीर की रचना करता है, वह नामकर्म कहलाता है। नामकर्म के 93 भेद-प्रभेद हैं।

—जै.द. पा. को., पृ. 134

निकल परमात्मा— ज्ञान ही है शरीर जिनका, ऐसे शरीर-रहित सिद्ध निकल परमात्मा हैं।

निश्चय से औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस् और कार्माण नामक पाँच शरीरों के समूह का अभाव होने से आत्मा निकल अर्थात् निःशरीर है।

—जै.सि. को., भा. 3, पृ. 20

निर्जरा— जिस प्रकार आम आदि फल पक कर वृक्ष से पृथक् हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा को भला-बुरा फल देकर कर्मों का झड़ जाना निर्जरा है। यह दो प्रकार की होती है— सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा।

—जै.द. पा.को., पृ. 129।

निमित्त— जो कार्य के होने में सहयोगी हो या जिसके बिना कार्य न हो, उसे निमित्त कारण कहते हैं। कुछ निमित्त धर्म-द्रव्य आदि के समान उदासीन भी होते हैं और कुछ गुरु आदि के समान प्रेरक भी होते

हैं। उचित निमित्त के होने पर तदनुसार ही कार्य होता है।

—जै. द. पा., को., पृ. 138

नियमसार— 1. नियम से जो करने-योग्य हो अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र को नियम कहते हैं। इस रत्नत्रय से विरुद्ध भावों का त्याग करने के लिए वास्तव में 'सार' ऐसा वचन कहा है। 2. आ. कुन्दकुन्द (ई. 127-179) कृत अध्यात्म-विषयक 187 प्राकृत की गाथाओं में निबद्ध शुद्धात्म-स्वरूप-प्रदर्शक एक ग्रन्थ। इस पर केवल एक टीका उपलब्ध है— मुनि पद्यप्रभमल्लधारी देव (ई. 1140-1185) कृत संस्कृत-टीका)

—जै. सि. को., भा. 2, पृ. 619

निश्चय-नय— जो अभेद-रूप से वस्तु का निश्चय करता है, वह निश्चय नय है। निश्चय-नय वस्तु को जानने का एक ऐसा दृष्टिकोण है, जिसमें कर्ता, कर्म आदि भाव एक-दूसरे से भिन्न नहीं होते। यह दो प्रकार का है— शुद्ध निश्चय-नय और अशुद्ध निश्चय-नय। निरुपाधि गुण और गुणी में अभेद-दर्शाने वाला शुद्ध निश्चय-नय है। सोपाधिक गुण और गुणी में अभेद दर्शानेवाला अशुद्ध निश्चय-नय है।

—जै.द. पा. को., पृ. 142

नेमिचंद्र आचार्य— आप अभयनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य थे। मंत्री चामुण्डराय के निमित्त से आपने 'गोमट्टसार' नामक ग्रन्थराज की रचना की थी। आपकी अन्य कृतियाँ हैं— लब्धि-सार, क्षपणासार, त्रिलोक-सार, द्रव्य-संग्रह।

यद्यपि अल्प गुर्वावलियों के अनुसार अन्य

आचार्यों के शिष्यों के नाम से नेमिचन्द्र का उल्लेख प्राप्त होता है।

—जै. सि. को., भा. 2, पृ. 621

नैयायिक— न्याय दर्शन के मूल प्रवर्तक अक्षपाद गौतम ऋषि हुए हैं, जिन्होंने इसके मूल-ग्रन्थ न्याय-सूत्र की रचना की है।

इनके समय के बारे में अलग-अलग मत हैं, कुछ विद्वान् इन्हें ई. 150—250 और दूसरे इन्हें ई. 200—450 के मध्य बताते हैं। न्याय-सूत्र पर अनेक टीकाएँ प्राप्त होती हैं।

—जै. सि. को., भा. 2, पृ. 633

नो-कर्म— कर्म के उदय से प्राप्त होने वाला औदारिक आदि शरीर जो जीव के सुख-दुःख में निमित्त बनता है, वह नो-कर्म कहलाता है।

—जै.द. पा. को., पृ. 146

न्याय-ग्रन्थ— तर्क व युक्ति द्वारा परोक्ष पदार्थों की सिद्धि व निर्णय के अर्थ न्याय-शास्त्र का उद्गम हुआ। यद्यपि न्याय-शास्त्र का मूल-आधार नैयायिक दर्शन है, परन्तु वीतरागता के उपासक जैन व बौद्ध दर्शनों को भी अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिए न्याय-शास्त्र का आश्रय लेना पड़ा। जैनाचार्यों में स्वामी समन्त भद्र, अकलंक भट्ट और विद्यानन्दि को विशेषतः वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक व बौद्ध मतों से टक्कर लेनी पड़ी।

—जै.सि. को., भा. 2, पृ. 630

(टिप्पणी— न्याय-शास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ न्याय-ग्रन्थ हैं।)

प

पंचकल्याणक— जैनागम में प्रत्येक तीर्थंकर के जीवन-काल के पाँच प्रसिद्ध घटना-स्थलों का उल्लेख मिलता है, उन्हें पंच-कल्याणक के नाम से कहा जाता है, क्योंकि वे अवसर जगत् के लिए अत्यन्त कल्याण व मंगलकारी होते हैं।

पंच-कल्याणक-प्रतिष्ठा— नव-निर्मित जिन-बिम्ब की शुद्धि करने के लिए जो पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा-पाठ किये जाते हैं, वह उसी प्रधान पंच-कल्याणक की कल्पना है, जिसके आरोपण के द्वारा प्रतिमा में असली तीर्थंकर की स्थापना होती है।

—जै.सि. को., भा. 2, पृ. 31—32

पंच-परमेष्ठी/पंच-परम-गुरु— जो परम-पद में तिष्ठता है, वह परमेष्ठी परमात्मा होता है।

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु —ये पंच-परमेष्ठी हैं।

—जै.सि. को., भा. 3, पृ. 22—23

पंचास्तिकाय— 1. जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल —ये छः द्रव्य स्वीकार किये गये हैं। इनमें काल-द्रव्य तो परमाणु-मात्र-प्रमाण-वाला होने से कायवान् नहीं है। शेष पाँच द्रव्य अधिक प्रमाण वाले होने के कारण कायवान् हैं। वे पाँच ही अस्ति-काय कहे जाते हैं।

—जै. सि. को., भा. 1, पृ. 220

आ. कुन्दकुन्द (ई. 127—179) कृत तत्त्वार्थ-विषयक 123 प्राकृत-गाथाओं में

निबद्ध सम्यग्ज्ञान-प्रधान ग्रन्थ। इस पर आठ टीकाएँ लिखी गई।

—जै.सि. को., भा. 3, पृ. 2

पदार्थ— जो जाना जाये या निश्चय किया जाए उसे अर्थ या पदार्थ कहते हैं। मोक्ष-मार्ग में जानने योग्य जीव अजीवा, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप आदि—ये नौ पदार्थ हैं।

—जै.द. पा. को., पृ. 128

पद्यपुराण— *पद्यपुराण* नाम के कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं, सभी राम-रावण की कथा के प्रतिपादक हैं।

क. आ. रविवेण (ई. 643—683) द्वारा संस्कृत-छन्दों में रचित यह ग्रन्थ आचार्य कीर्तिधर (ई. 600) कृत *राम-कथा* के आधार पर लिखा गया है।

ख. विमलसूरि (ई. 644—728) द्वारा प्राकृत-छन्दों में निबद्ध इस ग्रन्थ का दूसरा नाम *परमचरियं* है।

ग. कवि स्वयंभू (ई. 622—283) द्वारा अपभ्रंश-छन्दों में निबद्ध यह ग्रन्थ आ० कीर्तिधर कृत *राम-कथा* के आधार पर लिखा गया है। इसका नाम '*पउम चरिउ*' है।

घ. कवि रङ्गू (ई. 1439) द्वारा अपभ्रंश छन्दों में रचित ग्रन्थ।

ङ. आ. चन्द्रकीर्ति (ई. 1597) द्वारा रचित ग्रन्थ।

च. पं. दौलतराम (ई. 1766) द्वारा रचित ग्रन्थ।

—जै.सि. को., भा. 3, पृ. 10

परमौदारिक— भगवान् का शरीर औदारिक ही नहीं होता, अपितु परमौदारिक है। कहा भी है कि दोनों के विनाश हो जाने से शुद्ध स्फटिक के सदृश्य सात धातु से रहित तेज-मूर्ति-मय शरीर हो जाता है।

—जै.सि. को., भा. 3, पृ. 159

पर्याय— पर्याय का वास्तविक अर्थ वस्तु का अंश है। ध्रुव-अन्वयी या सहभूत तथा क्षणिक-व्यतिरेकी या क्रम-भावी के भेद से वे अंश दो प्रकार के होते हैं। अन्वयी को गुण और व्यतिरेकी को पर्याय कहते हैं। पर्याय दो प्रकार की होती है—अर्थ व व्यंजन। दोनों ही स्वभाव व विभाव के भेदसे दो प्रकार की होती है। शुद्ध-द्रव्य व गुणों की पर्याय स्वाभाविक और अशुद्ध-द्रव्य व गुणों की पर्याय विभाविक होती है।

—जै.सि. को., भा. 3, पृ. 44

परिग्रह— यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ, इसप्रकार का ममत्व-भाव ही परिग्रह है। यह दो प्रकार का है— अन्तरंग-परिग्रह तथा बाह्य-परिग्रह। अन्तरंग-परिग्रह चौदह प्रकार का है, बाह्य-परिग्रह दस प्रकार का है।

—जै.द. पा. को., पृ. 150

पाप— जो आत्मा को शुभ से बचाए, वह पाप है अथवा दूसरे के प्रति अशुभ-परिणाम होना ही पाप है, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह— ये पाँच पाप हैं।

—जै.द. पा. को., पृ. 151

पारिणामिक भाव— परिणाम अर्थात् स्वभाव से जो होते हैं, वे पारिणामिक भाव हैं। आशय यह है कि कर्म के उदय, क्षय, उपशम और क्षयोपशम की अपेक्षा न रखते

हुए जो जीव के स्वभाव-भूत भाव हैं, वे पारिणामिक-भाव कहलाते हैं। ये तीन प्रकार के हैं— जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।

—जै.द. पा. को., पृ. 155

पुद्गल— जो पूरण और गलत स्वभाव वाला है, वह पुद्गल है अथवा जिसमें रूप, रस, गंध व स्पर्श —ये चारों गुण पाए जाते हैं, उसे पुद्गल कहते हैं। पुद्गल के दो भेद हैं— स्कंध व परमाणु।

—जै.द. पा. को., पृ. 156

पुण्य— जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है, उसे पुण्य कहते हैं अथवा जीव के दया, दान, पूजा आदि-रूप शुभ-परिणाम को पुण्य कहते हैं।

—जै.द. पा. को., पृ. 157

पूज्यपाद आचार्य— आप कर्नाटक देशस्थ कोले नामक ग्राम के माधव भट्ट नामक एक ब्राह्मण के पुत्र थे। माता का नाम श्रीदेवी था। सर्प के मुँह में फँसे हुए मेंढक को देखकर आपको वैराग्य आया था। आपके सम्बन्ध में अनेक चामत्कारिक दन्त कथाएँ प्रचलित हैं। आपके द्वारा रचित कृतियाँ निम्न हैं—*जैनेन्द्र-व्याकरण, मुग्धबोध-व्याकरण, शब्दावतार, छन्दः-शास्त्र, वैद्य-सार, सवार्थ-सिद्धि सार्थ, इष्टोपदेश, समाधि-शतक, सार-संग्रह, जैनाभिषेक, सिद्ध-भक्ति व शान्त्यष्टक*।

—जै. सि. को., भा. 3, पृ. 82

पूर्वचर-हेतु—जो साध्य के साथ अविनाभाविपने से निश्चित हो अर्थात् साध्य के विना न रहे, उसको हेतु कहते हैं।

पूर्वचर-हेतु— जैसे—एक मुहूर्त के बाद शकट

का उदय होगा, क्योंकि कृत्तिका का उदय अन्यथा नहीं हो सकता। यहाँ कृत्तिका का उदय पूर्वचर-हेतु है।

—जै. सि. को., भा. 4, पृ. 540 एवं 541

पृच्छना— 1. संशय को दूर करने तथा निश्चित अर्थ के दृढ़ करने के लिए जो दूसरे विद्वान् से प्रश्न किया जाता है, इसे पृच्छन या पृच्छना (पृच्छना) कहा जाता है।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 734

स्वाध्याय के भेद—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश यह पांच प्रकार का स्वाध्याय है।

पृच्छना = शास्त्रों के अर्थ को किसी दूसरे से पूँछना।

—जै.सि. को., भा. 4, पृ. 524

प्राग्भाव— 1. कार्य के उत्पन्न होने से पूर्व जो उसका अभाव रहता है, उसे प्राग्भाव कहते हैं। 2. जिसकी निवृत्ति होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है, वह प्राग्भाव कहलाता है।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 787

प्रत्यक्ष— विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। वह दो प्रकार का है— सांख्यव्यवहारिक व पारमार्थिक। इन्द्रिय-ज्ञान सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और इन्द्रिय आदि पर-पदार्थों से निरपेक्ष केवल आत्मा में उत्पन्न होने वाला ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है— सकल व विकल।

—जै. सि. को., भा. 3, पृ. 122

प्रत्यभिज्ञान— 1. वही यह है —इस प्रकार के आकार-वाले ज्ञान को अथवा यह उसी प्रकार का है —इसप्रकार के आकार-वाले

ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। प्रत्यभिज्ञान प्रत्यवमर्श और संज्ञा —ये उसी के नामान्तर हैं। 2. दर्शन (प्रत्यक्ष) और स्मरण के निमित्त से होने वाले संकलनात्मक-ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। 3. अनुभव और स्मरण के निमित्त से जो तिर्यक् सामान्य व ऊर्ध्वता सामान्य आदि को विषय करने वाला संकलनात्मक ज्ञान होता है, उसे प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 752

प्रदेशत्व— जिसके द्वारा द्रव्य का कोई न कोई आकार बना रहता है, वह प्रदेशत्व गुण है।

—जै.द. पा. को., पृ. 167

प्रध्वंसाभाव— 1. आगामी काल से अगली पर्याय से विशिष्ट जो कार्य है, वह प्रध्वंसाभास कहलाता है। 2. दही में जो दूध का अभाव है, वह प्रध्वंसा-भाव स्वरूप है।

—जै. लक्ष.द्व भा. 3, पृ. 765

प्रमाता— जो वस्तु को पाने या छोड़ने की इच्छा करता है, उसे प्रमाता कहते हैं।

—जै.सि. को., भा. 3, पृ. 126

प्रमाद— 1. प्रमाद-कषाय-सहित अवस्था को कहते हैं। 2. अच्छे कार्यों के करने में आदर-भाव का न होना, —यह प्रमाद है।

—जै.सि. को., भा. 3, पृ. 146

प्रमाण— सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है। स्वार्थ और परार्थ —ये दो भेद भी प्रमाण के हैं।

—जै.द. पा. को., पृ. 168

प्रमेय— 1. द्रव्य-पर्याय-रूप वस्तु ही प्रमेय है, यही प्रमेय का लक्षण सर्व-संग्राहक होने से समीचीन है। 2. जो वस्तु जॉची जावे, उसे प्रमेय कहते हैं।

—जै.सि. को., भा. 3, पृ. 127

प्रवचनसार— आचार्य कुन्दकुन्द कृत 275 प्राकृत-गाथाओं में निबद्ध अध्यात्म व तत्त्वार्थ-विषयक तथा चारित्र-प्रधान ग्रन्थ है।

—जै.सि. को., भा. 3, पृ. 149

ब

बन्ध-बन्धक-भाव— अनेक पदार्थों का मिलकर एक हो जाना बन्ध कहलाता है, वह तीन प्रकार का है— जीव-बन्ध, अजीव-बन्ध और उभय-बन्ध।

—जै. सि. को., भा. 3, पृ. 168

अभीष्ट स्थान में जाने से रोकने में जो कारण है, उसे बन्ध कहते हैं। वह अहिंसाणु-व्रत का एक अतिचार है।

—जैन लक्ष., भा. 3, पृ. 806

बन्धक-द्रव्य और भाव के भेद से दो भेदों में विभक्त बन्ध के जो कर्ता हैं, उन्हें बन्धक कहा जाता है।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 806

बाल-बाल-मरण— अपने परिणामों से प्राप्त हुई आयु, इन्द्रियों और मन, वचन, काय आदि —इन तीन बलों का कारण-विशेष के मिलने पर नाश होना मरण है।

मिथ्यादृष्टि जीव के मरण को बाल-बाल-मरण कहते हैं।

—जै. सि. को., भा. 3, पृ. 290-291

भ

भव-भ्रमण—

अ— आयु-नाम-कर्म के उदय का निमित्त पाकर जो जीव की पर्याय होती है, उसे भव कहते हैं।

ब— उत्पत्ति के वारों का नाम भव है।

स— उत्पत्ति होने के प्रथम-समय से लेकर अस्तित्व-समय तक की जो विशेष-अवस्था रहती है, उसे भव कहते हैं।

द— देह को भव कहते हैं।

—जै.सि. को., भा. 3, पृ. 218

भव्यत्व-भाव—

अ— जो जीव भविष्य में सम्यग्दर्शनादि स्वरूप से परिणत होने वाला है, उसे भव्य कहते हैं।

ब— जो अनादि पारिणामिक-भाव (भव्यत्व) से मुक्ति प्राप्त करने के योग्य होते हैं, वे भव्य कहलाते हैं।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 838

भाव—

अ— कर्म-विशेष के उपशम आदि के आश्रय से जो जीव की परिणति होती है उसे भाव कहा जाता है।

ब— चारित्र आदि रूप परिणाम का नाम भाव है।

स— वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को भाव कहते हैं।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 841

भाव-कर्म—

अ— कर्म-प्रकृति का ज्ञाता होकर जो जीव तद्विषयक उपयोग से सहित हो, उसे भाव-कर्म कहते हैं।

ब— पुद्गल-पिण्ड-रूप द्रव्य-कर्म की शक्ति को भाव-कर्म कहा जाता है।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 841

भाव-मोक्ष—

अ— समस्त कर्मों के क्षय को भाव-मोक्ष कहते हैं।

ब— जो आत्मा का परिणाम समस्त कर्मों के क्षय का कारण है, उसे भाव-मोक्ष कहा जाता है।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 850

भूतार्थ-दृष्टि—

अ— जो कर्मोदय के कारण विविध गतियों में होते हैं, वे भूत कहलाते हैं, भूत यह प्राणी का पर्यायवाची शब्द है।

ब— श्रुत अतीत-काल में था, इसलिए इसकी भूत संज्ञा है।

—जै. सि. को., भा. 3, पृ. 245

भेदाभेद-बोधि—

भेद—

अ— समान स्निग्धता और समान रुक्षता का नाम भेद है।

ब— अभेद को प्राप्त हुए स्कन्ध जो वाह्य व अभ्यन्तर निमित्त के वश विभक्त होते हैं, इसका नाम भेद है।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 869

अभेद-तिर्यक्-सामान्य अर्थात् द्रव्यों व गुणों की युगपद वृत्ति ही अभेद है।

जै.सि. कोश, भाग 3

भोक्तृत्व-भाव— शुभ-अशुभ कर्मों के निर्वर्तन का नाम कर्तृत्व है, इस कर्तृत्व के कारण ही उक्त शुभ-अशुभ कर्मों के फल का जो भोगना है, उसे भोक्तृत्व कहा जाता है।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 870

म

मति-ज्ञान—

अ— इन्द्रिय व मन के निमित्त से जो ज्ञान होता है, उसे मति-ज्ञान कहते हैं।

ब— वर्तमान-काल को विषय करने वाला जो ज्ञान अविनष्ट पदार्थ को ग्रहण करता है, वह मति-ज्ञान कहलाता है।

—जै. लक्ष. भा. 3, पृ. 874

मनःपर्यय-ज्ञान—

अ— जो जीवों के द्वारा मन से चिन्तित अर्थ को प्रगट किया करता है, उसे मनःपर्यय, मनःपर्यय अथवा मनःपर्यय-ज्ञान कहते हैं, उसका सम्बन्ध मनुष्य-क्षेत्र से है।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 884

मिथ्यात्व-तत्त्वार्थों के अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं, वह संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत के भेद से तीन प्रकार का है।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 918

मिथ्या-दृष्टि— जिनकी दृष्टि मिथ्यात्व व मोहनीय-कर्म के उदय से जिन-प्रणीत पदार्थ-समूह के श्रद्धान से रहित होती है तथा जिनको जिनवाणी नहीं रुचती है, वे मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 920

मुक्त—

अ— जो जीव द्रव्य-बन्ध और भाव-बन्ध दोनों से रहित हो चुके हैं, वे मुक्त कहलाते हैं।

ब— जो समस्त ज्ञानावरणादि कर्मों से छुटकारा पा गये हैं, उन्हें मुक्त कहते हैं।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 926

मुमुक्षु— जो पुण्य और पाप इन दोनों ही प्रकार के कर्मों से रहित हो चुका है, उसे मुमुक्षु (मोक्षाभिलाषी) कहते हैं।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 928

मूर्तत्व—

अ— जीव जिन विषयों को इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण कर सकते हैं, वे मूर्त कहे जाते हैं।

ब— स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण के सद्भाव-रूप स्वभाव वाले पदार्थ को मूर्त कहते हैं।

स— रूपादि से संयुक्त-होना —यही मूर्त पदार्थ का मूर्तत्व है।

—जै. लक्ष., भा. 3, 1979, पृ. 930

मूल-गुण—

मूलोत्तर-गुण—

अ— अनशनादि तप उत्तर-गुण हैं, उनके कारण होने से व्रतों में मूल-गुण का व्यपदेश होता है।

ब— श्रावक के अष्ट मूल-गुण।

स— साधु के 28 मूल-गुण।

(मूल-गुणों से अतिरिक्त गुणों को मूलोत्तर-गुण कहते हैं)

—जै. सि. को., भा. 3, पृ. 330

मोक्ष— समस्त कर्मों से रहित आत्मा की परम-विशुद्ध-अवस्था का नाम मोक्ष है।

—जै.द.पा. को., पृ. 201

मोक्ष-मार्ग— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र —इन तीनों की एकता ही मोक्ष-मार्ग है, निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्ष-मार्ग दो प्रकार का है।

—जै.द. पा.को., पृ. 201

मोह—

अ— अज्ञान या अविवेक को मोह कहा जाता है।

ब— क्रोधादि कषायों और हास्यादि नो-कषायों के समूह को मोह कहते हैं।

—जै.लक्ष., भा. 3, पृ. 939

मोहनीय-कर्म— जो मिथ्यात्वादि-स्वरूप होकर प्राणी को मोहित किया करता है, उसे मोहनीय-कर्म कहते हैं।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 940

जिस कर्म के उदय से जीव हित-अहित के विवेक से रहित होता है, उसे मोहनीय-कर्म कहते हैं, मोहनीय-कर्म दो प्रकार का है— दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय।

—जै. द. पा. को., पृ. 202

य

यथाख्यात-चारित्र— समस्त मोहनीय कर्म के उपशान्त या क्षीण हो जाने पर जो स्वाभाविक वीतराग-चारित्र उत्पन्न होता है उसे यथाख्यात-चारित्र कहते हैं।

—जै.द. पा., को., पृ. 203

युक्ति—(तर्क)

अ— साध्य और साधन के अ-विना-भाव-रूप सम्बन्ध के अज्ञान की निवृत्ति-करना-रूप स्वार्थ-निश्चय-स्वरूप अव्यवहित फल को उत्पन्न करने में जो प्रकृष्ट उपकारक है, उसे तर्क कहते हैं—

ब— ईहा, ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा, —ये-सब शब्द एक अर्थ वाले हैं।

—जै. सि. को., भा. 2, पृ. 364

योग— मन, वचन और काय के द्वारा होने वाले आत्म-प्रदेशों के परिस्पंदन को योग कहते हैं, योग तीन प्रकार का है— मनोयोग, वचन-योग और काय-योग; ये तीनों योग शुभ व अशुभ दोनों रूप होते हैं।

—जै.द. पा. को., पृ. 204

र

रत्नकरंड-श्रावकाचार— आचार्य समन्तभद्र (ईस्वी शती 2) द्वारा रचित संस्कृत-छन्द-बद्ध इस ग्रन्थ में 7 परिच्छेद और 150 श्लोक हैं; श्रावकाचार-विषयक यह प्रथम-ग्रन्थ है। इस पर निम्न टीकाएँ

उपलब्ध हैं—आ. प्रभाचन्द्र (ई. 1185—1223) कृत **संस्कृत-टीका** तथा पं. सदासुख (ई. 1793—1863) कृत **भाषा-टीका**।

—जै. सि. को., भा. 3, पृ. 204

रयणसार—आचार्य कुन्दकुन्द, (ई. 127—179) कृत आचरण-विषयक 167 प्राकृत-गाथाओं में निबद्ध ग्रन्थ।

—जै. सि. को., भा. 3, पृ. 206

रविषेण आचार्य— ज्ञान-संघ की गुर्वावली के अनुसार आप लक्ष्मणसेन के शिष्य थे, वि. 705 में आपने पद्मपुराण की रचना की थी।

—जै. सि. को., भा. 3, पृ. 406

राग— इष्ट पदार्थों में प्रीति या हर्ष-रूप परिणाम होना राग है, राग दो प्रकार का है— प्रशस्तराग और अप्रशस्त राग।

—जै.द. पा.को., पृ. 205

ल

लघुत्व— शरीर का वायु से भी हलका होना इसका नाम लघुत्व-ऋद्धि है।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 965

लोक— जिसमें जीव आदि छह द्रव्य पाये जाते हैं, उसे लोक अथवा लोकाकाश कहते हैं, इससे बाहर सर्वत्र अनन्त अलोकाकाश है।

—जै.द.पा.को., पृ. 210

व

वर्तना— द्रव्य में प्रति-समय होने वाले परिवर्तन में जो सहकारी है, उसे वर्तना कहते हैं। यह काल-द्रव्य का उपकार है।

—जै.द. पा.को., पृ. 216

वर्द्धमान् स्वामी— हर प्रकार से बृद्ध ज्ञान जिसके होता है, ऐसे भगवान् वर्द्धमान् हैं। भगवान् महावीर का अपर नाम भी वर्द्धमान् है।

—जै.सि.को., भा. 3, पृ. 534

विपर्यास (विपर्यय)—

अ— विपर्यय का अर्थ मिथ्या है।

ब— विपरीत एक पक्ष का निश्चय करने वाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं।

जैसे 'सीप में' यह चाँदी है, —इस प्रकार का ज्ञान होना।

—जै. सि. को., खं. 3, पृ. 563

विपाक— कर्म के फल को विपाक कहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से उत्पन्न हुआ कर्म का विविध प्रकार का पाक अर्थात् फल ही विपाक कहलाता है। इसी को अनुभव भी कहते हैं।

—जै.द. पा. को., पृ. 220

विवक्षा— वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते हैं। प्रश्न-कर्ता के प्रश्न से ही प्रतिपादन करने वाले की विपक्षा होती है।

—जै.द.पा.को., पृ. 221

वृषभदेव—

अ— वृषभ अर्थात् प्रधान।

ब— 'वृष' नाम धर्म का है। उसके द्वारा शोभा को प्राप्त होता है या प्रगट होता है, इसलिए वह वृषभ कहलाता है अर्थात् आदि नाम के भगवान्।

—जै. सि. को., भा. 3, पृ. 589

वृषभसेन— ऋषभदेव (वृषभदेव) के पुत्र भरत के छोटे भाई। पुरिभताल नगर के राजा। भगवान् ऋषभदेव के प्रथम गणधर हुए अन्त में मोक्ष सिधारे।

—जै. सि. को., भा. 3, पृ. 589

वेदनीय कर्म— जिस कर्म के उदय से जीव सुख-दुःख का वेदन अर्थात् अनुभव करता है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। यह दो प्रकार का है—साता-वेदनीय व असाता-वेदनीय।

—जै.द.पा.को., पृ. 225

वैशेषिक दर्शन— वैशेषिक लोग भेद-वादी हैं; ये द्रव्य, गुण, पर्याय तथा वस्तु के सामान्य व विशेष अंशों की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करके समवाय-सम्बन्ध से उनकी एकता स्थापित करते हैं। ईश्वर को सृष्टि व प्रलय का कर्ता मानते हैं। शिव के उपासक हैं। प्रत्यक्ष व अनुमान दो प्रमाण स्वीकार करते हैं। इनके साधु वैरागी होते हैं।

—जै. सि. को., खं. 3, पृ. 615

व्यंजन-पर्याय— जो स्थूल है, शब्द के द्वारा कही जा सकती है और चिर-स्थायी है, उसे व्यंजन-पर्याय कहते हैं। जैसे— जीव की सिद्ध-पर्याय या मनुष्य आदि पर्याय।

—जै.द.पा.को., पृ. 226

व्यय— द्रव्य की पूर्व-पर्याय का विनाश-होना व्यय कहलाता है।

—जै.द.पा.को., पृ. 227

व्यवहार— नय-संग्रह-नय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधि-पूर्वक भेद करना व्यवहार-नय है। जैसे—संग्रह-नय के विषय-भूत द्रव्य में जीव व अजीव-द्रव्य, —ऐसे दो भेद करना। उसमें भी देव, मनुष्य आदि जीव के भेदों का आश्रय लेकर व्यवहार-करना। यह दो प्रकार का है—सद्-भूत व्यवहार-नय और असद्-भूत व्यवहार-नय।

—जै.द.पा.को., पृ. 228

श

शुक्ल-ध्यान— रागादि विकल्प नष्ट हो जाने पर आत्मा में जो निर्विकल्प-ध्यान की प्राप्ति होती है, उसे शुक्ल-ध्यान कहते हैं। शुक्ल-

ध्यान के चार सोपान या भेद हैं—पृथक्त्व-वितर्क-वीचार, एकत्व-वितर्क-अवीचार, सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती और व्यपरत-क्रियानिवृत्ति।

—जै.द. पा. को., पृ. 233

शुक्ल-लेश्या— पक्षपात न करना, आगामी काल में भोग की आकांक्षा न करना, समस्त प्राणियों में समता-भाव रखना तथा राग-द्वेष व मोह नहीं करना, ये शुक्ल-लेश्या के लक्षण हैं।

—जै.द.पा.को., पृ. 234

श्र

श्रमण— श्रमण तथा अनगार सम्यक् व मिथ्या दोनों प्रकार के होते हैं। सम्यक्-श्रमण विरागी और मिथ्या-श्रमण सरागी होते हैं। उनकी ही यति, मुनि, ऋषि और अनगार कहते हैं।

—जै. सि. को., खं. 4, पृ. 46

श्रुत-ज्ञान—

अ— मति-ज्ञान से जाने हुए पदार्थ के अवलम्बन से तत्सम्बन्धी दूसरे पदार्थ का जो ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

ब— जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गये वचनों के अनुरूप गणधर आदि के द्वारा जो ग्रन्थ रचना की जाती है। उसे श्रुत या श्रुत-ज्ञान कहते हैं। श्रुत-ज्ञान दो प्रकार का है—अंग प्रविष्ट और अंग-बाह्य।

—जै.द. पा.को. पृ. 235

श्रुत-स्कंध- जैन आम्नाय में पूजा-विधान आदि सम्बन्धी कई रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, इन्हीं में एक आचार्य श्रुतसागर (ई. 1473-1533) कृत **श्रुत-स्कंध-पूजा** भी है।

—जै. सि. को., भा. 3, पृ. 8।

ष

षट् आवश्यक- श्रावक व साधु को अपने उपयोग की रक्षा के लिए नित्य ही छह क्रिया करनी आवश्यक होती है। इन्हीं को श्रावक या साधु के षट् आवश्यक कहते हैं।

—जै. सि. को., भा. 1, पृ. 293

षट् गुण-हानि-वृद्धि- धर्म और अधर्म द्रव्यों के अपने द्रव्यत्व को कारणभूत शक्ति विशेष रूप जो अगुरुलघु, नामक गुण के अविभाग प्रतिच्छेद से अनन्त भाग वृद्धि आदि तथा षट्स्थान हानि के द्वारा वर्धमान और हीयमान होता है।

—जै. सि. को., भा. 4, पृ. 8

संज्ञा- आहार आदि विषयों की अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं। संज्ञा चार प्रकार की है— आहार, भय, मैथुन व परिग्रह संज्ञा। संसारी-जीव इन चार संज्ञाओं के कारण अनादि काल से पीड़ित हैं।

—जै. द. पा. को., पृ. 246

स

संकर-दोष- स्याद्वादियों के मत में अस्तित्व और नास्तित्व एक-जगह रहते हैं, इसलिए अस्तित्व के अधिकरण में अस्तित्व और नास्तित्व के रहने से और नास्तित्व के अधिकरण में नास्तित्व और अस्तित्व के

रहने से स्याद्वाद में संकर-दोष आता है (ऐसी दशा में संकर-दोष का स्वरूप प्रकट होता है।)

—जै. सि. को., भा. 4, पृ. 82

संयम- सम्यक्-प्रकार यमन-करना अर्थात् व्रत-समिति-गुप्ति आदि रूप से प्रवर्तना अर्थात् विशुद्धात्माध्ययन में प्रवर्तना संयम है।

—जै. सि. को., भा. 4, पृ. 136

संवर- आस्रव का निरोध-करना संवर कहलाता है अथवा जिससे कर्म रुकें, वह कर्मों का रुकना संवर हैं। यह दो प्रकार का है— भाव-संवर और द्रव्य-संवर।

—जै. द. पा. को., पृ. 248

संव्यवहार- प्रवृत्ति-निवृत्ति-रूप समीचीन व्यवहार को संव्यवहार कहते हैं।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 1135

संस्थान- संस्थान का अर्थ आकृति है। जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की आकृति बनती है, उसे संस्थान-नाम-कर्म कहते हैं। समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, वामन, कुब्जक व हुंडक, —ये छह संस्थान हैं।

—जै. द. पा. को., पृ. 250

सकल-परमात्मा- सर्व-दोषों से रहित शुद्ध-आत्मा को परमात्मा कहते हैं। परमात्मा के दो भेद हैं— सकल-परमात्मा अर्थात् अर्हन्त भगवान् और निकल-परमात्मा अर्थात् सिद्ध भगवान्।

—जै. द. पा. को., पृ. 149

सत्-

अ— सत् शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों

में होता है। यहाँ सत् का अर्थ सत्त्व है अर्थात् 'सत्' शब्द अस्तित्व का वाचक है। गति, इन्द्रिय, आदि चौदह मार्गणाओं में सम्यग्दर्शन आदि कहाँ है, कहाँ नहीं है? —यह सूचित करने के लिए सत् का ग्रहण किया जाता है।

ब- जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वह सत् है।

—जै.द.पा.को., पृ. 237

समता— शत्रु-मित्र में, सुख-दुःख में, लाभ-अलाभ और जय-पराजय में हर्ष-विषाद नहीं करना या साम्य-भाव-रखना समता है।

—जै.द.पा.को., पृ. 239

समतंभद्र आचार्य— मूल-संघ विभाजन के अनुसार आप उमास्वामी के शिष्य या उनके विल्कुल समीप पूर्व-वर्ती आचार्य हैं। आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं—

1. षट् खंडागम के प्रथम पाँचों खंडों पर टीका,
2. कर्म-प्राभृत-टीका,
3. गन्धहस्ति-महाभाष्य,
4. आप्त-मीमांसा,
5. युक्त्यनुशासन,
6. जीव-सिद्धि,
7. तत्त्वानुशासन,
8. स्वयंभूस्तोत्र,
9. जिन-स्तुति-शतक।

वि.श. 2—3 (ईस्वी सन् 2 का अन्तिम चरण) आपका समय अधिकांश विद्वानों द्वारा स्वीकार किया गया है।

—जै. सि. को., भा. 4, पृ. 328

समय-सार—

अ- आचार्य कुन्दकुन्द (ई. 127—179) कृत महान् आध्यात्मिक कृति। इसमें 415 प्राकृत-गाथाएँ निबद्ध हैं। इस पर निम्न टीकाएँ उपलब्ध हैं— 1. आचार्य अमृत चन्द्र कृत आत्मख्याति 2. आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति 3. पं. जयचन्द्र छाबड़ा कृत भाषा-वचनिका, जो उन्होंने आत्मख्याति के आधार पर लिखी है।

ब- सामान्य, परिणामी, जीव-स्वभाव, परम-स्वभाव, ध्येय, गुह्य, परम तथा तत्त्व ये-सब समयसार के अपर नाम हैं।

—जै. सि. को., भा. 4, पृ. 339

समवर्ती-पना (समवर्तित्व) — द्रव्य और गुणों के एक अस्तित्व से रचित होने के कारण अनादि-अनन्त जो सह-वृत्ति से साथ-साथ रहता है, इसे समवर्तित्व नाम से कहा जाता है। वही जैनों के यहाँ समवाय-सम्बन्ध हैं।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 1094

समवसरण / समोशरण / सर्वज्ञ-सभा— तीर्थंकर की धर्म-सभा को समवसरण कहते हैं। जहाँ समस्त स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी और देवी-देवता समान-भाव से भगवान् का उपदेश सुनते हैं अथवा जहाँ सभी भव्य-जीव तीर्थंकर की दिव्य-ध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हैं, वह समवसरण है। सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर के द्वारा तीर्थंकरों के योग्य समवसरण की रचना की जाती है।

—जै.द.पा.को., पृ. 240

समाधि— वीतराग-भाव से आत्मा का ध्यान करना समाधि है अथवा समस्त विकल्पों का नष्ट हो जाना परम-समाधि है।

—जै.द.पा.को., पृ. 241

समाधि-तन्त्र— इसका दूसरा नाम **समाधि-शतक** भी है। यह ग्रन्थ आचार्य पूज्यपाद (ई. रा.—5) कृत अध्यात्म-विषयक 105 संस्कृत-श्लोकों में निबद्ध है। इस पर आचार्य **प्रभाचन्द्र** ने एक संस्कृत-टीका लिखी है।

—जै.सि.को., भा. 4, पृ. 339

सम्यक् चारित्र—संसार की कारण-भूत वाह्य और अन्तरंग क्रियाओं से निवृत्त होना सम्यक्-चारित्र है। वाह्य और अभ्यंतर निवृत्ति की अपेक्षा अथवा निश्चय व व्यवहार की अपेक्षा चारित्र दो प्रकार का है। कर्मों के उपशम आदि की अपेक्षा औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से चारित्र तीन प्रकार का है— सामयिक, छेदोपस्थापना परिहार-विशुद्धि सूक्ष्म-साम्यराय और यथाख्यात-चारित्र के भेद से चारित्र पाँच प्रकार का है। सम्यक्त्वाचरण-चारित्र और स्वरूपाचरण-चारित्र —ऐसे दो भेद भी चारित्र के किए गए हैं।

—जै.द.पा.को., पृ. 243

सम्यग्ज्ञान— सम्यग्दर्शन के साथ होने वाले यथार्थ या समीचीन ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधि-ज्ञान, मनः-पर्यय-ज्ञान और केवल-ज्ञान —ये सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं।

—जै.द.पा.को., पृ. 243

सम्यग्दर्शन— सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है अथवा जिनेन्द्र

भगवान् के द्वारा कहे गए सात तत्त्वों के यथार्थ-श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, अथवा आत्म-रुचि होना सम्यग्दर्शन है अथवा 'स्व-पर' का भेद-विज्ञान होना सम्यग्दर्शन है।

—जै.द.पा.को., पृ. 243

सांख्यदर्शन— आत्मा के तत्त्वज्ञान को अथवा सम्यग्दर्शन-प्रतिपादक शास्त्र को सांख्य कहते हैं। इनको ही प्रधानता देने के कारण इस मत का नाम सांख्य है अथवा 25 तत्त्वों का वर्णन करने के कारण सांख्य कहा जाता है। इसके मूल-प्रणेता महर्षि कपिल थे।

—जै.सि.को., भा. 4, पृ. 399

सादृश्य-अस्तित्व—

अ— अस्तित्व छहों द्रव्यों में पाया जाता है, अतः साधारण है। कर्मोदय क्षय, क्षयोपशम व उपशम से निरपेक्ष होने के कारण यह पारिणामिक है। अस्तित्व दो प्रकार का है— स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व। सादृश्यास्तित्व का उदाहरण— धर्म का वास्तव में उपदेश करे हुए जिनवर वृषभ ने इस विश्व में विविध लक्षण वाले (भिन्न-भिन्न स्वरूपास्तित्व वाले) सर्व द्रव्यों का 'सत्' ऐसा सर्व-गत एक लक्षण कहा है।

—जै.सि.को., भा. 4, पृ. 221-222

साध्य-साधक-संबन्ध—

अ— ज्ञानी का ज्ञान और ज्ञेय का संश्लेष सो संबन्ध है।

ब- जहाँ पर अभेद प्रधान और भेद गौण होता है, वहाँ पर सम्बन्ध समझना चाहिए।

आगम में अनेक सम्बन्धों का निर्देश पाया जाता है, यथा— ज्ञेय-ज्ञायक-संबंध भाव्य-भावक-सम्बन्ध, आधार-आधेय-सम्बन्ध, साध्य-साधक-सम्बन्ध आदि-आदि।

—जै. सि. को., भा. 4, पृ. 126

सिद्ध— समस्त आठ कर्मों के बन्धन को जिन्होंने नष्ट कर दिया है, ऐसे नित्य निरंजन परमात्मा ही सिद्ध कहलाते हैं।

—जै. द. पा. को., पृ. 255

सिद्धालय— देखिये— मोक्ष।

सूक्ष्मत्व-गुण— इन्द्रिय गोचर न होना सूक्ष्मत्व गुण है। यह सिद्धों के आठ मूल-गुणों में एक है, जो नाम-कर्म के क्षय होने पर प्रकट होता है।

—जै. द. पा. को., पृ. 260

स्थिति-हेतुत्व—

अ— काल के प्रमाण का नाम स्थिति है।

ब— विवक्षित वस्तु के काल के अवस्थान को स्थिति कहते हैं।

स— अपने स्वरूप से च्युत न होना, —इसे स्थिति कहा जाता है।

—जै. लक्ष., भा. 3, पृ. 1194

स्याद्वाद—

अ— आचार्य शुभचन्द्र (ई. 1516—1556) द्वारा रचित एक न्याय विषयक ग्रन्थ।

ब— अनेकान्तमयी वस्तु का कथन करने की पद्धति स्याद्वाद है। मुख्य-धर्म को सुनते हुए श्रोता को अन्य धर्म भी गौण रूप से स्वीकार होते रहें,

उनका निषेध न होने पावे, —इस प्रयोजन से अनेकान्तवादी अपने प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात् या कथंचित् शब्द का प्रयोग करता है।

—जै. सि. को., भा. 4, पृ. 497

स्यात्पद— जो नियम का निषेध करने वाला है, निपात से जिसकी सिद्धि होती है, जो सापेक्षता की सिद्धि करता है, वह 'स्यात्' शब्द कहा गया है।

—जै. सि. को., भा. 4, पृ. 498

स्वभाव— वस्तु के स्वयंसिद्ध, तर्कागोचर, नित्य-शुद्ध-अंश का नाम स्वभाव है। वह दो प्रकार के होते हैं— वस्तु-भूत और आपेक्षिक।

—जै. सि. को., भा. 4, पृ. 506

स्वरूपास्तित्व—

अ— सर्व-काल में गुण तथा अनेक प्रकार की अपनी पर्यायों से और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से जो द्रव्य का अस्तित्व है, वह वास्तव में स्वभाव है।

ब— प्रत्येक द्रव्य की सीमा को बाँधते हुए ऐसे विशेष लक्षण-भूत स्वरूपास्तित्व से लक्षित होते हैं।

ह

हेतु-हेतुफल— १. जो साध्य के साथ अविनाभावि पर्व से निश्चित हो अर्थात् साध्य के बिना न रहे उसको हेतु कहते हैं। 2. फल को हेतु कहते हैं। फल का कारण होने से उपचार से इसको फल कहा है।

—जै. सि. को., भा. 4, पृ. 540

क्ष

क्षय— क्षय का अर्थ है नष्ट होना। जैसे— फिटकरी आदि मिलाने पर स्वच्छ हुए जल को दूसरे साफ बर्तन में बदल देने पर कीचड़ का अत्यन्त अभाव हो जाता है, ऐसे ही कर्मों का आत्मा से सर्वथा दूर हो जाना क्षय है।

—जै.द.पा.को., पृ. 79

क्षयोपशम— जैसे कोदों को धोने से कुछ कोदों की मादकता नष्ट हो जाती है, कुछ बनी रहती है, इसीतरह परिणामों की निर्मलता से कर्मों के एक-देश का क्षय और एक-देश का उपशम होना क्षयोपशम कहलाता है।

—जै.द.पा.को., पृ. 79

क्षायिक-ज्ञान— ज्ञानावरण-कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले अनन्त-ज्ञान को क्षायिक-ज्ञान कहते हैं; इसे केवलज्ञान भी कहते हैं।

—जै.द.पा.को., पृ. 80

क्षायोपशमिक-ज्ञान— मतिज्ञानावरणादि अपने-अपने आवरणी कर्मों को क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इत्यादि —इन चार ज्ञानों को क्षायोपशमिक-ज्ञान कहते हैं।

—जै.द.पा.को., पृ. 8

क्षेत्र— वर्तमान-काल संबंधी निवास का नाम क्षेत्र है। किस गुणस्थान या मार्गणा स्थान वाले जीव इस लोक में कहाँ और कितने भाग में पाए जाते हैं? —यह जानकारी क्षेत्र के द्वारा मिलती है।

—जै.द.पा.को., पृ. 82

धम्मो वत्थु-सहावो, खमादि-भावो य दस-विहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खाणं धम्मो ॥

— कार्तिकेय अनुप्रेक्षा, 478

वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं; दस प्रकार के क्षमा आदि भावों को धर्म कहते हैं; रत्नत्रय को धर्म कहते हैं और जीवों की रक्षा को धर्म कहते हैं।

परिशिष्ट-3

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

अध्यात्म-अमृत-कलश, अमृतचन्द्र (आचार्य), श्री चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, कटनी; 1966, प्रथम संस्करण ।

अष्टपाहुड, कुन्दकुन्द (आचार्य), श्री शान्तिवीर दिग. जैन संस्थान, श्री शान्तिवीर नगर श्री महावीर जी ।

अष्टसहस्री (स्याद्वादचिंतामणि-भाषाटीका-सहित), विद्यानंद आचार्य, टीकाकर्त्री श्री ज्ञानमती माता जी, दिगंबर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, वीर नि. सं. 2515, द्वितीय संस्करण ।

आत्मानुशासन, गुणभद्र स्वामी, दरियागंज शास्त्र सभा, नई दिल्ली ।

आप्तमीमांसा, समन्तभद्र आचार्य, श्री शान्तिवीर दि. जैन संस्थान, श्री शान्तिवीर नगर, श्री महावीर जी, वीर सं. 2496 ।

आलाप-पद्धतिः, देवसेन (आचार्य), भारतवर्षीय दिगंबर जैन ग्रंथमाला, बम्बई, विक्रम संवत् 1977 ।

इष्टोपदेश, देवनन्दि (पूज्यपाद) आचार्य, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, 1986, तृतीय संस्करण ।

कल्याण-कारक, उग्रादित्य आचार्य, जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर ।

गोम्मटसार, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (आचार्य), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2005 चतुर्थ संस्करण ।

जैन तत्त्व-विद्या, मुनि प्रमाणसागर, भारतीय ज्ञानपीठ, 2000 द्वितीय संस्करण ।

जैन-दर्शन पारिभाषिक-कोश, मुनि श्री क्षमासागर, ज्ञानोदय विद्यापीठ, भोपाल, 2000, प्रथम संस्करण ।

जैन धर्म-दर्शन, मुनि श्री प्रमाण सागर, भारतीय ज्ञानपीठ, 1998 संशोधित संस्करण ।

जैन प्रतिमा-विज्ञान, श्री बालचन्द्र जैन, मदन महल जनरल स्टोर्स, जबलपुर, 1974।

जैन लक्षणावली, सम्पादक श्री बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, वीरसेवा मन्दिर, देहली, 1972।

जैन-सिद्धान्त, पण्डित कैलाश चन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, 1983, प्रथम संस्करण।

जैनेन्द्र-सिद्धान्त-कोश, क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, 1970, प्रथम संस्करण।

तत्त्वसार, देवसेन आचार्य, श्री आदिनाथ पूजन मंडल, श्री पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर, 2008 चतुर्थ संस्करण।

तत्त्वानुशासन, नागसेन (मुनि), भा. अनेकान्त विद्वत् परिषद, 1993, प्रथम संस्करण।

तत्त्वार्थ-श्लोक-वार्तिक, आचार्य विद्यानंद स्वामी।

तत्त्वार्थसार, अमृतचन्द्र (आचार्य), श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1970, प्रथम संस्करण।

तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामि आचार्य, विवेचनकर्ता : पं. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान, वाराणसी, 1991, द्वितीय संस्करण।

तिलोपपण्णति, यतिवृषभ (आचार्य), श्री भा. दि. जैन महासभा, 1884 प्रथम संस्करण।

दंसणपाहुड, कुन्दकुन्द (आचार्य), श्री शान्तिवीर दिग. जैन संस्थान, श्री शान्तिवीर नगर श्री महावीर जी।

द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश-नयचक्र, माइल्ल धवल (आचार्य), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1971, प्रथम संस्करण।

नियमसार, कुन्दकुन्द आचार्य, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, वीर नि. सं. 2412, द्वितीय संस्करण।

पंचास्तिकाय, कुन्दकुन्द आचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2004, द्वितीय संस्करण।

पंचास्तिकाय टीका (संग्रह), कुन्दकुन्द (आचार्य), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2004, द्वितीय संस्करण।

पद्मपुराण, रविषेण (आचार्य), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1998, सप्तम संस्करण।

परमात्म-प्रकाश, योगीन्द्रदेव (आचार्य), श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, 1978, चतुर्थ संस्करण।

परीक्षा-मुख-सूत्र, आचार्य माणिक्यनन्दि।

पुरुषार्थसिद्धयुपायः, अमृतचन्द्र (आचार्य), परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, सं. 2479, चतुर्थ संस्करण।

प्रवचनसार, कुन्दकुन्द (आचार्य), श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास 1999, पंचम आवृत्ति।

बारसाणुपेक्खा, कुन्दकुन्द (आचार्य), प्रेक्षादेशना, रायसेठ श्री नन्दन कुमार जैन, मंडला, 2008, द्वितीय संस्करण।

बृहद् द्रव्यसंग्रह, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (आचार्य), श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल अगास, 1981, पंचम संस्करण।

मूलाचार, वट्टकेर (आचार्य), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2006, छठा संस्करण।

रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, समन्तभद्र (आचार्य), भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, 1994 तृतीय संस्करण।

रयणसार, कुन्दकुन्द (आचार्य), जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 2006, प्रथम संस्करण

समयसार, कुन्दकुन्द आचार्य, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, तृतीय संस्करण।

समाधितंत्र, पूज्यपाद आचार्य, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, 1989-90, प्रथम संस्करण।

सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद आचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, 1998, आठवाँ संस्करण।

सिद्ध-भक्ति, भक्त्यादि-क्रिया-संग्रह, श्री रतन चन्द्र खुशालचन्द्र गान्धी, फलटन, 1982।

स्वरूप-सम्बोधन-पञ्चविंशतिः, अकलंकदेव (आचार्य), दो संस्कृत टीकाएँ, क्रमशः पण्डित खूबचन्द शास्त्री व अज्ञात कर्तृक।

स्वरूप-सम्बोधन-पञ्चविंशतिः, अकलंकदेव (आचार्य), दो संस्कृत टीकाएँ, ब्रह्मचारिणी कल्पना जैन, श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई, 2004 ।

स्वरूप-सम्बोधन-पञ्चविंशतिः, अकलंकदेव (आचार्य), कन्नड़ टीका, श्री महासेन पंडितदेव, संस्कृत टीका, केशववर्य, डॉ. सुदीप जैन, श्री अखिल भारतीय जैन युवा फ़ेडरेशन, अलवर 1995, प्रथम पुष्प ।

लघीयस्त्रय, अकलंकदेव (आचार्य), श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी, 2000, प्रथम संस्करण ।

क्षत्रचूड़ामणि, वादीभसिंह (आचार्य) ।

ज्ञानार्णव, शुभचन्द्र (आचार्य), श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, 1998, सप्तम संस्करण ।

परिशिष्ट-4

पुण्यार्जक (प्रकाशन-सहयोग)

0.	श्री आजाद कुमार जैन बीड़ी वाले	इन्दौर
1.	श्री राजेन्द्र कुमार जैन, मै. गृहशोभा	सतना
2.	श्री इंजी. रमेशचन्द्र जैन, मै. जैन कंसलटेन्ट	सतना
3.	श्री सिंघई जयकुमार जैन, मै. अनुराग ट्रेडर्स	सतना
4.	श्री कैलाशचन्द्र सर्राफ, मै. सम्राट आर्नामेन्ट्स	सतना
5.	श्री निर्मल कुमार सर्राफ, मै. मणिरत्नम्	सतना
6.	श्री शीलचन्द्र सुनील कुमार जैन, बीना वाले	सतना
7.	श्री अभय कुमार संदीप कुमार जैन, मै. अवन्ती फार्मा	सतना
8.	श्री देवेन्द्र कुमार जैन, मै. महावीर क्लार्थ स्टोर	सतना
9.	श्री सेठ प्रकाशचन्द्र जैन, झांसी वाले	सतना
10.	श्री सुनील कुमार सर्राफ	सतना
11.	श्री प्रमोद कुमार जैन, मै. अरिहन्त गारमेन्ट्स	सतना
12.	श्री जवाहरलाल विनोद कुमार जैन, मै. अनुपम क्लार्थ	सतना
13.	श्री सद्भावना परिवार	सतना
14.	श्री जितेन्द्र कुमार जैन, रुई वाले	सतना
15.	प्रो. राज कुमार जैन, प्राचार्य रामाकृष्णा कॉलेज	सतना
16.	श्री विजय कुमार जैन, झांसी वाले	सतना
17.	श्री अजित कुमार जैन, अशोक टॉकीज परिवार	सतना

18. श्री प्रकाशचन्द्र जैन, मै. इलेक्ट्रोलाइट	सतना
19. श्री धन्य कुमार संजय कुमार जैन, मै. पारस ट्रेडर्स	सतना
20. श्री आनन्द कुमार जैन, मै. महावीर कलेक्शन	सतना
21. श्रीमती राजमती जैन, मै. गृहशोभा	सतना
22. श्रीमती पुष्पा जैन, मै. पवन ट्रेडिंग कं.,	सतना
23. श्रीमती रमा जैन, मै. अमर जैन ट्रेडिंग कं.,	सतना
24. श्रीमती शान्तिबाई जैन, मै. शान्ती ट्रेडर्स	सतना
25. श्रीमती मत्तीबाई जैन, मै. फैशन गाइड	सतना
26. श्रीमती संगीता जैन, मै. रागिनी इन्टरप्राइजेज	सतना
27. श्रीमती सुधा जैन, श्री शरद कुमार जैन	सतना
28. श्रीमती चन्दा जैन, श्री पवन कुमार जैन	गुनौर
29. कु. रागिनी जैन, मै. रागिनी इन्टरप्राइजेज	सतना
30. चि. आदित्य जैन, मै. रजनी स्टोर	सतना
31. श्री स. सिं. सन्तोष कुमार सुनील कुमार जैन, भाई जी	जबलपुर
32. श्री श्रीवर्द्धन जी वात्सल, श्री उत्तमचन्द्र जैन, श्री सोमचन्द्र जैन, मैनेजर	सतना
33. श्री पुखराज मनोज कुमार जैन, गोरखपुर वाले	सतना
34. श्री सुमत चन्द दिवाकर, पुष्पराज कालोनी	सतना
35. डॉ. अरविन्द सराफ, एम.जी. रोड	सतना
36. श्री खेमचन्द डॉ. राकेश जैन, बस स्टैण्ड	सतना
37. श्री खेमचन्द चक्रेश कुमार जैन, अहिंसा चौक	सतना
38. श्री सुरेन्द्र कुमार जैन, रुई वाले	सतना



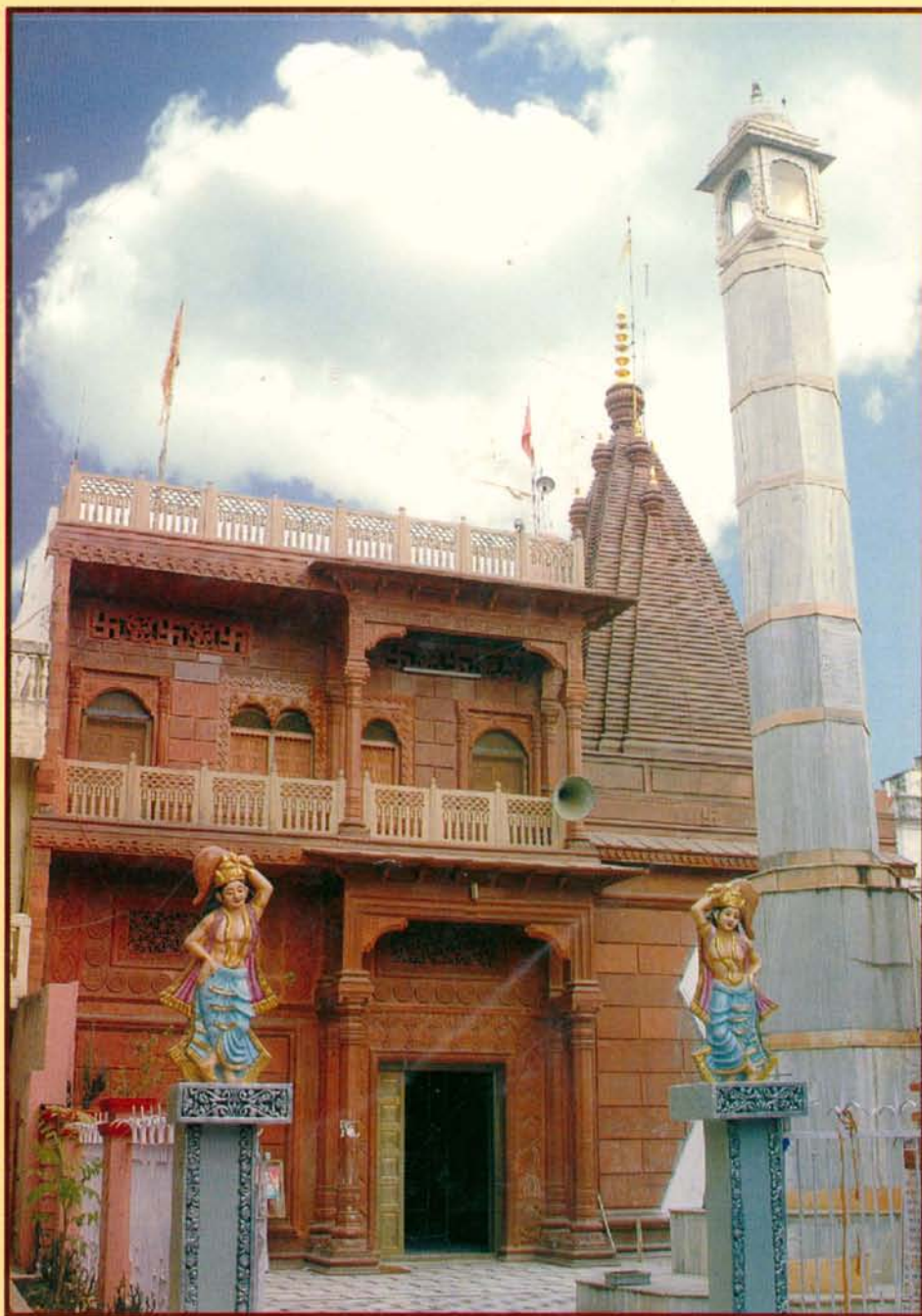
आचार्य 108 श्री विशुद्धसागर जी महाराज संक्षिप्त जीवन-परिचय

- ◆ 18/12/1971 को संसार-पंक में राजेन्द्र नाम से मध्य प्रदेश के भिण्ड जिले के ग्राम रूर में पिता श्री रामनारायण व मातु श्री रत्तीबाई के घर उद्भूत
- ◆ 21/11/1991 को आचार्य श्री विरागसागर जी से मुनि-दीक्षा
- ◆ 31/3/2007 को महावीर जयंती औरंगाबाद-महाराष्ट्र में आचार्य-पद से अलंकृत

आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी का जन्म यद्यपि मध्य प्रदेश के भिण्ड जिले के छोटे-से गाँव में हुआ, पर अपनी आराधना और साधना के बल पर उन्होंने अध्यात्म-रस के सरोवर में गहरी डुबकी लगायी है और श्रमण-संस्कृति के पुरोधा प्रख्याता के रूप में वे स्थापित हुए हैं, जिसे उनकी निम्नांकित कृतियाँ प्रमाणित करती हैं-

कृतियाँ

1. शुद्धात्म-तरंगिणी	2. निजात्म-तरंगिणी
3. निजानुभव-तरंगिणी	4. स्वानुभव-तरंगिणी
5. पंचशील-सिद्धांत	6. बोधि-संचय
7. आत्म-बोध	8. प्रेक्षा-देशना
9. पुरुषार्थ-देशना	10. तत्त्व-देशना
11. अध्यात्म-देशना	12. इष्टोपदेश-भाष्य
13. समाधितन्त्र-अनुशीलन	14. श्रमणधर्म-देशना
15. सर्वोदयी-देशना	16. अर्हत्-सूत्र
17. अमृत-बिन्दु	18. समय-देशना
19. शुद्धात्म-काव्यांजलि	(भाग एक)



दिगम्बर जैन मन्दिर, सतना, मध्य प्रदेश

प्रकाशक

महावीर दिगम्बर जैन पारमार्थिक संस्था

सतना (मध्य प्रदेश), भारत

आजाद कुमार जैन, बीड़ी वाले

इन्दौर (मध्य प्रदेश), भारत

